श्रीदत्तात्रेय-ग्रन्थमाला पुष्प सं० ५

दैवीमीमांसादर्शन

द्वितीय भाग

स्थितिपाद और लयपाद

प्रथम संस्करण]   [सम्वत् २०१६

प्राप्तिस्थान—

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

प्रधान कार्यालय

जगतगंज वाराणसी

पूज्यपाद भगवान् महर्षि-अङ्गिरा-विरचित

दैवीमीमांसा-दर्शन

स्थितिपाद और लयपाद

आविष्कर्ता और भाष्यकार

भगवत्पूज्यपाद महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्र-प्रकाश-विभाग द्वारा प्रकाशित

सम्वत् २०१६]   [मूल्य ५)

के साथ महर्षियोंका सम्बन्ध, पीठ-विज्ञान, उसका प्रकार, दैवजगत्‌का विज्ञान, दैवजगत्‌की शासन-व्यवस्था, पञ्चमहायज्ञोंके साथ ऋषि-देवता-पितरोंके सम्वर्द्धनका सम्बन्ध, श्रद्धाकी महत्ता, ऋषि, देवता-पितरोंके भी अवतार, पूर्णावतार होने योग्य भूमि, त्रिविध भाषा, तन्मात्राओंकी द्विविध गतियाँ, सृष्टिका रहस्य, उपासना, एवं योग, उनके साधन, यज्ञ एवं महायज्ञ, गुरु-कृपा एवं भगवत्-कृपाकी अभिन्नता, गुरु एवं भगवान्‌की अभिन्नता, सत्सङ्गकी महिमा, भक्ति-प्राप्तिके विषयमें विभिन्न महर्षियोंके मत आदि अनेक विषयोंका विशद विवेचन किया गया है। लयपादमें सृष्टिके लयका क्रम, उसका प्रकार, मायाका स्वरूप, शक्तिके भेद, उसका कार्य, चार प्रकारके भक्त, जीवनमुक्तिका लक्षण, ब्रह्मका स्वरूप, स्वभाव, कर्मका स्वरूप, ईश्वरका स्वरूप, अधियज्ञ एवं अधिभूतके लक्षण, ब्रह्मका स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण, मन्त्रका लक्षण स्वरूप एवं महिमा, समाधिसिद्धि, अनुभव एवं प्रकार, समर्पण तथा उसका प्रकार, 'नास्तिकता क्यों होती है, सात भूमिके अनुसार दर्शन सप्तविध, एकत्व दर्शनसे ब्रह्मोपासनाका अधिकार, बन्धनका हेतु, भावसे मुक्ति, वासना-क्षयसे तत्त्वज्ञानका उदय एवं निःश्रेयसकी प्राप्ति, पराभक्ति द्वारा सब लय होना, पराभक्तिकी चार अवस्थायें, एवं तीन प्रकारके अनुभव आदि अनेक विषयोंका सरल प्राञ्जल दिग्दर्शन कराया गया है।

दर्शन जैसे गम्भीर गूढ़ विषयोंमें बुद्धि-प्रविष्ट होकर विषयोंका अनुगमन कर सके, इसके लिये सर्वप्रथम ग्रन्थकी भूमिकाका अध्ययन अत्यावश्यक है। भगवत् पूज्यपाद भाष्यकार प्रभुद्वारा लिखित इस दर्शनकी भूमिका प्रथम भागमें प्रकाशित हो चुकी है। आशा है, ज्ञानराज्यके जिज्ञासुगण, निःश्रेयस पथके पथिक मुमुक्षुगण एवं भावुक भक्तगण इस दर्शनके अध्ययनद्वारा अपने जीवनका पथ प्रशस्त करेंगे। यदि कालेजोंमें इन दर्शनोंके अध्ययनकी

व्यवस्था हो तो छात्रोंमें आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, परलोक-विश्वास-आदिका बीज वद्धमूल होगा, और उच्छृङ्खलता, उद्दंडता, निरंकुशता निर्मूल होगी, इसमें सन्देह नहीं।

काशी धाम
गुरुपूर्णिमा
सम्वत् २०१६

श्रीगुरुदेव-श्रीपादपद्माश्रिता
विद्यादेवी

मुद्रक—अमलकुमार बसु, इंडियन प्रेस, (प्राइवेट), लिमिटेड,
वाराणसी-शाखा ।

श्रीविश्वनाथो जयति

प्राक्कथन

महामहिमामयी अनन्तशक्तिमयी श्रीजगदम्बाकी असीम अनुकम्पासे दैवीमीमांसा दर्शनका यह दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम भाग रसपाद एवं उत्पत्तिपाद पहले प्रकाशित हो चुका है। इस दूसरे भागमें स्थितिपाद एवं लयपाद ये दो पाद हैं। इस प्रकार रसपाद, उत्पत्तिपाद, स्थितिपाद एवं लयपाद इन चार पादोंमें यह अमूल्य ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ और दार्शनिक भूमिका एक महान् अभाव दूर हो गया। दर्शनके षष्ठ भूमिके इस दर्शनके प्रकाशित हो जानेसे सप्त ज्ञानभूमियोंके सातों दर्शन ज्ञानपिपासु मुमुक्षुओंके लिये उपलब्ध हो गये। दार्शनिक जगत्का यह महान् अभाव जिनकी उग्र तपस्या एवं समाधि-योगसे दूर हुआ, उन परमाराध्य परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ प्रातःस्मरणीय परम पूज्यपाद भगवान् गुरुदेव योगिराज महर्षि श्री १९०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज श्रीकी मानवजाति चिर ऋणी रहेगी।

दैवीमीमांसा दर्शनके इस दूसरे भागके स्थितिपादमें परमात्माका गुण एवं भावमें होनेपर भी इनमेंसे अतीत होना, त्रिगुणसे सृष्टि स्थिति एवं प्रलय, एवं त्रिभावसे उनका अनुभव, वेदकी पूर्णता, नित्यता एवं अभ्रान्तता, वेदार्थ प्रतिपादक होनेसे स्मृतियोंका भी प्रामाण्य, आधिभौतिक जगत्के साथ पितरोंका सम्बन्ध, आधिदैविक जगत्के साथ देवताओंका सम्बन्ध, आध्यात्मिक जगत्-

के साथ महर्षियोंका सम्बन्ध, पीठ-विज्ञान, उसका प्रकार, दैवजगत्का विज्ञान, दैवजगत्की शासन-व्यवस्था, पञ्चमहायज्ञोंके साथ ऋषि-देवता-पितरोंके सम्वर्द्धनका सम्बन्ध, श्रद्धाकी महत्ता, ऋषि, देवता-पितरोंके भी अवतार, पूर्णावतार होने योग्य भूमि, त्रिविध भाषा, तन्मात्राओंकी द्विविध गतियाँ, सृष्टिका रहस्य, उपासना, एवं योग, उनके साधन, यज्ञ एवं महायज्ञ, गुरु-कृपा एवं भगवत्-कृपाकी अभिन्नता, गुरु एवं भगवान्की अभिन्नता, सत्सङ्गकी महिमा, भक्ति-प्राप्तिके विषयमें विभिन्न महर्षियोंके मत आदि अनेक विषयोंका विशद विवेचन किया गया है। लयपादमें सृष्टिके लयका क्रम, उसका प्रकार, मायाका स्वरूप, शक्तिके भेद, उसका कार्य, चार प्रकारके भक्त, जीवनमुक्तिका लक्षण, ब्रह्मका स्वरूप, स्वभाव, कर्मका स्वरूप, ईश्वरका स्वरूप, अधियज्ञ एवं अधिभूतके लक्षण, ब्रह्मका स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण, मन्त्रका लक्षण स्वरूप एवं महिमा, समाधिसिद्धि, अनुभव एवं प्रकार, समर्पण तथा उसका प्रकार, 'नास्तिकता क्यों होती है, सात भूमिके अनुसार दर्शन सप्तविध, एकत्व दर्शनसे ब्रह्मोपासनाका अधिकार, बन्धनका हेतु, भावसे मुक्ति, वासना-क्षयसे तत्त्वज्ञानका उदय एवं निःश्रेयसकी प्राप्ति, पराभक्ति द्वारा सब लय होना, पराभक्तिकी चार अवस्थायें, एवं तीन प्रकारके अनुभव आदि अनेक विषयोंका सरल प्राञ्जल दिग्दर्शन कराया गया है।

दर्शन जैसे गम्भीर गूढ़ विषयोंमें बुद्धि-प्रविष्ट होकर विषयोंका अनुगमन कर सके, इसके लिये सर्वप्रथम ग्रन्थकी भूमिकाका अध्ययन अत्यावश्यक है। भगवत् पूज्यपाद भाष्यकार प्रभुद्वारा लिखित इस दर्शनकी भूमिका प्रथम भागमें प्रकाशित हो चुकी है। आशा है, ज्ञानराज्यके जिज्ञासुगण, निःश्रेयस पथके पथिक मुमुक्षुगण एवं भावुक भक्तगण इस दर्शनके अध्ययनद्वारा अपने जीवनका पथ प्रशस्त करेंगे। यदि कालेजोंमें इन दर्शनोंके अध्ययनकी

व्यवस्था हो तो छात्रोंमें आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, परलोक-विश्वास-आदिका बीज बद्धमूल होगा, और उच्छृङ्खलता, उद्दंडता, निरंकुशता निर्मूल होगी, इसमें सन्देह नहीं।

काशी धाम
गुरुपूर्णिमा
सम्वत् २०१६

श्रीगुरुदेव-श्रीपादपद्माश्रिता
विद्यादेवी

विषय-सूची

स्थितिपाद

लयपाद

———



इस ग्रन्थके आविष्कर्ता—

श्रीभारत धर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक

भगवत्पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्र कृष्ण ८,
सम्वत् १९०२

तिरोभाव माघ कृष्ण ५
सम्वत् २००७

ॐ तत्सत्

दैवीमीमांसादर्शन ।

स्थितिपाद ।

चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें भगवच्चरण-अनुराग-मूलक सब-वासुदेव ही हैं, अर्थात् यह जगत् श्रीभगवान्‌का ही स्वरूप है, ऐसा अद्वैतज्ञानात्मक जो पुरुषार्थ है, वही परमपुरुषार्थ मोक्षप्रद है। उस पदकी प्राप्ति कर्मक्षय होनेपर हुआ करती है और स्थितिके विना जाने लयका अनुभव असम्भव है, इस कारण अधिदैव-रहस्यसे पूर्ण स्थितिपादका प्रारम्भ किया जाता है।

परमात्मा गुण और भावमय होनेपर भी गुण और भावमें नहीं है ॥१॥

परमात्मामें त्रिगुण और त्रिभाव है, परन्तु वे त्रिगुण और त्रिभावमें नहीं हैं। श्रीभगवान्‌के चैतन्यसत्तासे ही चैतन्यवती होकर प्रकृति परिणामिनी होती है और परिणाम त्रिगुणका ही होता है। साम्यावस्थामें प्रकृति ब्रह्ममें 'अहंममेतिवत्' लीन रहती है और वैषम्यावस्थामें ब्रह्मसे प्रकट होकर त्रिगुण-वैभवको

गुणभाववानपि नासौ तेषु ॥१॥

प्रकाशित करके सृष्टि-स्थिति-लय क्रिया करती है। साम्यावस्थामें प्रकृतिका विश्राम और लयस्थान ब्रह्म ही है। और वैषम्यावस्थामें भी ब्रह्मकी चेतनसत्तासे सत्तावती होकर अपने अस्तित्वकी रक्षा करती हुई त्रिगुण विस्तारमें प्रवृत्त रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, ब्रह्मकी सत्ताहीसे त्रिगुणमयी प्रकृतिकी सत्ता और त्रिगुणकी सत्ता है। श्रुतिस्मृतिमें इसीकारण कहा है, कि—

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी," "सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठन्नत्येको गुणांश्च सर्वान्विनयोपेद्यः" "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" "अव्यक्तात्पुरुषः परः," अर्थात् परमात्मासे प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवीकी उत्पत्ति हुई है। वे ही एक परमात्मा समस्त विश्वके आधार हैं और समस्त गुणोंको प्रेरणा करते हैं। उन्हींकी अध्यक्षतासे प्रकृति विश्वचराचरको उत्पन्न किया करती है। अव्यक्ता प्रकृतिके परपारमें पुरुषकी स्थिति है, उसी प्रकार अध्यात्मभाव, अधिदैवभाव, और अधिभूतभाव, ये तीनों ही सृष्टि-दशा अर्थात् प्रकृतिकी वैषम्यावस्थामें अलग-अलग जाने जाते हैं, प्रकृतिके साम्यावस्थाको प्राप्त होनेपर ब्रह्म-स्वरूपदशामें उन तीनोंका अलग-अलग अनुभव नहीं हो सकता। परमात्माके स्वस्वरूपको यद्यपि सच्चिदानन्दमय करके वर्णन किया है, परन्तु वह स्वरूपका सच्चिदानन्द अनुभव अद्वितीय भावमय है, अर्थात् स्वरूपमें ये तीनों भाव पृथक्-पृथक् अनुभूत नहीं होते। तात्पर्य यह है कि,

जबतक सृष्टि नहीं होती अर्थात् जिस अवस्थामें सृष्टि नहीं है, वही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। इस अद्वैत-अवस्थामें ब्रह्मसे प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, इसीकारण इस दशामें सत्, चित् और आनन्दरूपी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूपी त्रिभावकी अलग-अलग सत्ताका अनुभव हो ही नहीं सकता, सुतरां यह कहना ही पड़ेगा कि, परमात्मामें तीनों भाव हैं, परन्तु वे तीनों भाव अलग-अलग सत्तामें नहीं हैं। वस्तुतस्तु पत्थरके खम्भेमें जैसे नानाप्रकारकी मूर्तियाँ खुदी रहती हैं, वे सब पत्थर ही हैं, केवल खुदाईरूप उपाधिसे अलग-अलग मूर्तिरूपसे दिखायी देती हैं, ठीक उसीप्रकार प्रकृति ब्रह्मसे प्रकट होकर वैषम्यावस्था प्राप्त होनेपर तीनों गुण और तीनों भाव अलग-अलग दिखायी देते हैं, परन्तु परमात्माके स्वस्वरूपमें जब प्रकृति लीन रहती है, तब तीनों गुणों और तीनों भावोंका अनुभव रह ही नहीं सकता। इसी कारण पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने सिद्ध किया है कि, परमात्मामें त्रिगुण और त्रिभाव रहनेपर भी वे उनमें नहीं हैं ॥१॥

गुणभावसे क्या होता है—

त्रिगुणसे सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता है और त्रिभावसे वे जाने जाते हैं ॥२॥

पूर्वसूत्रमें यह दिखाया गया है, कि त्रिगुण और त्रिभाव प्रकृतिराज्यसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं और उनके साथ परमात्माका

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ताभावैर्भगवदनुभवः ॥२॥

किस प्रकार सम्बन्ध है। अब इस सूत्रद्वारा त्रिगुण और त्रिभावका विस्तारित कार्य-निर्देश कराये जाते हैं, जिससे इनका यथार्थ स्वरूप समझमें आसके। प्रकृतिके तीनों गुणोंका नाम है सत्व, रज और तम। इन तीनोंमेंसे रजोगुणद्वारा सृष्टि, सत्वगुणद्वारा स्थिति और तमोगुणद्वारा लय हुआ करता है। श्रुति भी कहती है—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।' तात्पर्य्य यह है, कि अजारूपिणी प्रकृति एक ही है। उसके त्रिगुणके स्वरूप, रक्त श्वेत और कृष्ण है। रजोगुणका रंगरक्त, सत्वगुणका रंग श्वेत और तमोगुणका रंग काला है इत्यादि। इसी प्रकार स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

सत्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धोः।
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य॥
तेभ्यः प्रधानदेवानां त्रयमासीच्छिवात्मकम्।
एकस्मात् त्रिष्वभूत् विश्वमेकेन परीक्षितम्॥
"एकेनैव हतम् विश्वम् व्याप्तं त्वेवं शिवेन तु।
अलिङ्गञ्चैव लिङ्गञ्च लिङ्गाऽलिङ्गानि मूर्तयः॥
यथावत् कथिताश्चैव तस्मात् ब्रह्म स्वयं जगत्॥

जैसे अग्निके साथ दाहिका शक्तिका सम्बन्ध है, ठीक उसीप्रकार भगवान्के साथ भगवच्छक्तिरूपिणी प्रकृतिका सम्बन्ध है। गुण और गुणीका अभेद सम्बन्ध हुआ करता है, इसकारण जैसे दाहिकाशक्तिके न रहनेसे अग्निका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, उसीप्रकार त्रिगुणके न रहनेसे प्रकृतिका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। परमात्माके

साथ त्रिभावका भी एक विशेष अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है। परमात्माके स्वस्वरूपमें सत्, चित्-आनन्दरूपी अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, भावत्रय अद्वैतभावमें स्थित है, इसीकारण वे सच्चिदानन्दमय कहाते हैं। भेद इतना ही है, कि ब्रह्मशक्तिकी साम्यावस्थामें अर्थात् परमात्माकी स्वरूपदशामें ये तीनों अलग-अलग नहीं अनुभव होनेपर भी प्रकृतिकी वैषम्यावस्थामें ये तीनों अलग-अलग अनुभवमें आते हैं और इन तीनोंकी सहायतासे प्राकृतिक गुणत्रयका स्वरूप अच्छी तरह देखनेमें आता है। परमात्मा चिन्मय हैं, इसकारण भावत्रयका उनके स्वरूपज्ञानसे साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण यह चिन्मय भावत्रय जड़मय त्रिगुणके अनुभव करनेमें प्रधान सहायक होते हैं। ब्रह्मके साथ भावोंके सम्बन्धके विषयमें स्मृतिशास्त्रोंमें इस प्रकारसे कहा है—

यत्तद् ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम्।
तत् सर्वं कारणं विद्धि सर्वाध्यात्मिकमित्यपि॥
अनाद्यं तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्तते॥
स्वेच्छामायाख्यया यत्तज्जन्मादि कारणम्।
ईश्वराख्यं तु यत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम्॥
सर्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्यामी कृपानिधिः।
सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान्॥
यत् कार्य्यब्रह्म विश्वस्य निधानं प्राकृतात्मकम्।
विराडाख्यं स्थूलतरमधिभूतं तदुच्यते॥

यस्येहावयवैः ह्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥

अर्थात् जिस ब्रह्मको मन और वाक्यके अगोचर कहते हैं— जो सबका कारण है, वही आध्यात्मिक भाव है, वह अनादि, अनन्त, अजर, ध्रुव, अव्यय, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय है।

इच्छारूपिणी मायाके साथ सम्बन्धयुक्त होकर जो जगत्के जन्मादिके कारण होते हैं, वे ही ईश्वर हैं। उसी भावको अधिदैव-भाव कहते हैं। वे सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, कृपानिधि, समस्तगुणोंके आधार दोषरहित पुरुषश्रेष्ठ हैं। जो कार्यब्रह्म है, विश्वका आश्रय प्राकृतात्मक स्थूलविराट्का स्वरूप है, वही अधिभूतभाव है। मनीषिगण उन्हींके कटिदेशके नीचेका सप्तलोक और जघनसे ऊर्ध्व सप्तलोक, इसतरह चौदहभुवनकी कल्पना उन्हींके अवयवमें करते हैं। सच्चिदानन्दमय कारणब्रह्मसे पञ्चभूतात्मक ब्रह्माण्डरूपी कार्य्यब्रह्म आविर्भूत होता है। इस-कारण परमात्माके स्वस्वरूपके सत्, चित् और आनन्दभावके अव-लम्बनसे ही सृष्टिप्रपञ्चके अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतभाव, सर्वत्र किसप्रकारसे प्रकट होकर त्रिगुणात्मक विश्वके ज्ञान-विस्तारमें सहायक होते हैं, उसके कुछ उदाहरण स्मृतिशास्त्रमें निम्नप्रकारसे प्राप्त होते हैं—

पादावध्यात्ममित्याहु ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
गन्तव्यमधिभूतञ्च विष्णुस्तत्राधिदैवतम्॥

पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः ।
विसर्गमधिभूतञ्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥
उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः ।
अधिभूतं तथानन्दो दैवतञ्च प्रजापतिः ॥
हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः ।
कर्तव्यमधिभूतन्तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥
वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतन्तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥
चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमात्राधिभूतन्तु सूर्य्यश्चाप्याधिदैवतम् ॥
श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
शब्दस्तत्राधिभूतन्तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥
जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रस एवाधिभूतन्तु अपस्तत्राधिदैवतम् ॥
घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ॥
गन्ध एवाधिभूतन्तु पृथिवी चाधिदैवतम् ॥
त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
स्पर्शमेवाधिभूतन्तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥
मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथाशास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥
अहङ्कारिकमध्यात्म - माहुस्तत्त्वनिदर्शिनः ।
अभिमानोऽधिभूतन्तु बुद्धिश्चात्राधिदैवतम् ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदधिदर्शिनः ।
बोधव्यमधिभूतन्तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥

अर्थात्—तत्त्वदर्शी ब्राह्मणगण पाद अध्यात्म, गन्तव्य अधिभूत और उसमें विष्णुको अधिदैव कहते हैं। पायु अध्यात्म, विसर्ग अधिभूत उसमें मित्र अधिदैव है। उपस्थ अध्यात्म, आनन्द अधिभूत और प्रजापति उसमें अधिदैव है। हस्त अध्यात्म, कर्त्तव्य अधिभूत और इन्द्र उसका अधिदैव है। वाक् अध्यात्म, वक्तव्य अधिभूत और वह्नि उसका अधिदैव है। चक्षुः अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य उसका अधिदैव है। श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिक् उसका अधिदैव है। जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और जल उसका अधिदैव है। घ्राण अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और पृथिवी उसका अधिदैव है। त्वक् अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और पवन उसका अधिदैव है। मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव है। अहङ्कार अध्यात्म, अभिमान अधिभूत और बुद्धि उसका अधिदैव है। बुद्धि अध्यात्म, बोधव्यअधिभूत और क्षेत्रज्ञ उसका अधिदैव है। और भी स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

उत्पद्यन्ते त्रिभावाश्च त्रिगुणा मत्त एव हि ।
सृष्टिस्थितिलयांश्चैव त्रिगुणैरहमेव वा ॥
करोमि सततं देवाः जगतां नात्र संशयः ।
मय्येवानुभवस्तेषां त्रिभावैर्भवति ध्रुवम् ॥

महादेवी देवताओंसे कहती हैं कि, देवतागण ! तीनों भाव और तीनों गुण मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और तीनों गुणोंसे ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि-स्थिति-लय- कार्य्य मैं ही करती हूँ। तीनों भावोंद्वारा उनका अनुभव मुझमें ही होता है। पूर्वविचार और वेद तथा शास्त्रोक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध हुआ कि, ब्रह्मशक्ति प्रकृतिके तीनों गुणोंके अनुसार यथाक्रम सृष्टि, स्थिति, लय, स्वाभाविक रूपसे हुआ करता है। यह सृष्टि-स्थिति-लय, स्थावर, जङ्गम, जड़, चेतन और ब्रह्माण्ड-पिण्ड सबमें ही होता है। दूसरी ओर परमात्माके स्वभावसे ज्ञानराज्यमें आये हुए तीनों भावोंकी सहायतासे दृश्यप्रपञ्चका सब कार्य्य तथा सब स्वरूप भली प्रकारसे जाना जाता है।

जिसप्रकार तीनों भाव परमात्माके स्वस्वरूपमें रहकर उन्हींके अवलम्बनसे भक्तको भगवान्के स्वरूपका दर्शन कराते हैं, उसी प्रकार तटस्थज्ञानमें भी व्यष्टिरूपसे ये तीनों भाव प्रकट होकर दृश्य-प्रपञ्चके विभागोंका विशेष अनुभव ज्ञानीको कराया करते हैं।

इस विज्ञानको समझनेके लिये यह भी कह सकते हैं कि, तीनों गुणोंके पहचाननेसे प्रकृति पहिचानी जाती है और तीनों भावोंके सर्वदा अनुभवद्वारा अन्तमें परमात्माके स्वस्वरूपका ज्ञान भक्तको हो जाता है। वस्तुतः सृष्टि-स्थिति-लयका सब कार्य्य प्रकृतिके त्रिगुणकेद्वारा होता है, और सृष्टि-स्थिति-लय-सम्बन्धीय सब प्रकारके ज्ञानका अनुभव पुरुषके स्वरूपसे आये हुए त्रिभावके द्वारा हुआ करता है ॥२॥

प्रसङ्गसे वेदका स्वरूप कहा जाता है—

वेदमें गुण और भावकी पूर्णता होनेसे वह भगवद् वाक्य है ॥३॥

परमात्माके साथ गुण और भावका सम्बन्ध तदनन्तर गुण और भावकी महिमा तथा उसका यथार्थ स्वरूप वर्णन कर गुण और भावके सम्बन्धसे वेदकी पूर्णता और उनका महत्त्व इस सूत्रद्वारा प्रतिपादित किया जाता है। सम्पूर्ण गुणोंका एवं भावोंका आधार होनेसे वेद भगवद्वचन है, यह मानना ही पड़ेगा। वेद त्रिगुणात्मक है, इस विषयको श्रीभगवान्‌ने गीतोपनिषद्‌में अपने मुखसे कहा है—"त्रैगुण्यविषया वेदाः" अर्थात् वेद त्रिगुण विषयसे पूर्ण है। इस आप्तवचनद्वारा यह सिद्ध होता है कि, वेदमें त्रिगुणकी पूर्णसत्ता विद्यमान है। सुतरां वेद अखण्ड शक्तिमय है। जब त्रिगुणसे ही यह संसार अपने सृष्टि, स्थिति और लयात्मक स्वरूपको प्राप्त होता है, इस संसारमें जो कुछ है, वह त्रिगुणसे अतीत नहीं है और उसी त्रिगुणकी सम्पूर्णसत्ता वेदमें पायी जाती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, वेद वस्तुतः अखण्ड और पूर्णशक्तिसे युक्त है। गुणके अवस्थाभेदके सब लक्षण वेदोंमें पाये जाते हैं और गुणोंके अनुसार गुरु-लघु-अधिकारभेदसे भी वेदपूर्ण हैं।

प्रसङ्गक्रमसें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक अधिकारी और उनके अनुसार सात्विक, राजसिक, तामसिक, यज्ञादिका वर्णन है। दूसरी

पूर्णगुणभावमयत्वात् भगवद्वाक्यं वेदः ॥३॥

और तामसिकसे राजसिक यज्ञ तथा कर्मादिककी और राजसिकसे सात्विक कर्मादिककी प्रशंसा लघु-गुरु-विज्ञानके अनुसार पायी जाती है, परन्तु मौलिक सिद्धान्तके अनुसार तथा अधिकारभेदके अनुसार सब अधिकार ही प्रशंसनीय हैं, यह भी कहना ही पड़ेगा। वस्तुतः गुणोंसे पूर्ण वेद सात्विक, राजसिक और तामसिक तीनों श्रेणीके अधिकारीके लिये समान उपकारी हैं, इसमें सन्देह नहीं। यही त्रिगुणपूर्णता और त्रिगुण अधिकारके अनुसार वेदका महत्त्व है।

त्रिभावकी पूर्णताके अनुसार वेदका महत्त्व वर्णन करते समय पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है यथा स्मृतिमें—"त्रयोऽर्थाः सर्ववेदेषु" अर्थात् वेदकी प्रत्येक श्रुतिके अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत भावत्रयके अनुसार तीन-तीन प्रकारके अर्थ हुआ करते हैं। यही कारण है कि, वेदार्थ समझना साधारण ज्ञानी व्यक्तिका कार्य्य नहीं है। यही कारण है, कि सत्यदर्शनके विज्ञानका पूर्णज्ञाता वेदके छः अङ्गोंका पूर्णपण्डित अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगयुक्त व्यक्ति ही वेदके प्रत्येक मन्त्रके तीन प्रकारके अर्थको समझनेमें समर्थ होता है।

प्रत्येक वेदमन्त्रके त्रिविध रहस्यकी महिमाके विषयमें स्मृति-शास्त्रमें ऐसा कहा है—

यथा दुग्धञ्च भक्तञ्च शर्कराभिः सुमिश्रितम्।
निर्मितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपम्॥
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः।
नयते ब्राह्मणं नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम्॥

अर्थात्—जैसे दूध, चावल और शर्कराके संयोगसे अतिमधुर तथा देवताओंके उपयोगी और अमृतके समान परमान्न बनता है, उसी प्रकार श्रुतिका त्रिभावात्मक भेद परमानन्ददायक होता है और उसके द्वारा ब्राह्मणोंको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। इस संसार-प्रपञ्चका सब ज्ञान त्रिभावके अन्तर्गत है, अस्तु। जब वेद त्रिगुण और त्रिभावसे पूर्ण है, तो वह भगवान्‌से साक्षात् सम्बन्धयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। जब अपौरुषेय वेदोंमें प्रकृतिका वैभव और पुरुषका वैभव अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका सब वैभवात्मक शब्द उपस्थित हैं, तो वेदोंको भगवद्वाक्य कहनेमें कोई भी शङ्का नहीं हो सकती है।

"यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"
"दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः"

भगवान्‌ने ही वेदको बनाया है, दिशा उनका कर्ण और वाक्य वेद है ॥३॥

वेदकी अन्यप्रकारसे प्रधानता बतायी जाती है—

इस कारण पाँचोंमें भी उसकी प्रधानता है ॥४॥

ज्ञानके आधारभूत पुस्तकोंको पूज्यपाद महर्षियोंने पांच श्रेणी-में विभक्त किया है, यथा—ब्रह्माण्ड पुस्तक, पिण्डपुस्तक,

---

तस्मात् पञ्चसु तत् प्राधान्यम् ॥४॥

नादपुस्तक, विन्दुपुस्तक और अक्षरमयपुस्तक। वेदोंमें और स्मृतियोंमें इन पाँचों प्रकारके पुस्तकोंका उल्लेख पाया जाता है, जिनका संक्षेप वर्णन किया जाता है :—

पितरो ज्ञानराज्यस्य विस्तीर्णस्य रहस्यकम्।
अपूर्वं भवतो वच्मि श्रूयतां सुसमाहितैः॥
ममैवाध्यात्मिकज्ञानमूलिकाः शास्त्रराशयः।
स्थूलान्नमयकोषेण सम्बन्धस्थापनक्षणे॥
स्थूलाक्षरमयैः रूपैः वर्तेरन् पुस्तकात्मकैः।
अत्र नानाविधैर्नूनं विश्वस्मिन् संप्रकाशिताः॥
स्थूलपुस्तकपुञ्जोऽयं यद्यप्यास्ते विनश्वरः।
स्थूलाऽक्षरमयानाञ्च पुस्तकानां यथायथम्।
भवेतामीदृशां देश-कालपात्रप्रभेदतः।
आविर्भावतिरोभावौ यथाकालं न संशयः॥
सूक्ष्मराज्ये तु शास्त्राणां नित्यसंस्थितहेतवे।
चतुर्विधानि वर्तन्ते पुस्तकान्यपराण्यपि॥
ब्रह्माण्डपिण्डौ नादश्च विन्दुरक्षरमेव च।
पञ्चप्रकारकाण्याहुः पुस्तकानि पुराविदः॥
श्रुतिर्नादे स्मृतिर्विन्दौ ब्रह्माण्डे तन्त्रमेव च।
पिण्डे च वैद्यकं शास्त्रमक्षरेऽन्यदुदाहृतम्॥
नूनं ज्ञानस्य नित्यत्वान्नित्याः शास्त्रसमुच्चयाः।
एते पञ्चविधेष्वेषु क्वापि तिष्ठन्ति पुस्तके॥

पञ्च प्रकारकं सर्वं पुस्तकं प्रलयक्षणे।
वेदेषु प्रविलीयैव भजते मां न संशयः॥

हे पितृगण! ज्ञानराज्यविस्तारका अपूर्वरहस्य आप लोगोंसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। मेरे अध्यात्मज्ञानमूलक शास्त्रसमूह, स्थूल अन्नमयकोषसे सम्बन्ध रखनेके समय इस संसारमें अनेक प्रकारसे प्रकाशित स्थूल अक्षरमय पुस्तकोंके रूपमें विद्यमान रहते हैं। यद्यपि स्थूलपुस्तकसमूह नाशवान् है और इस प्रकारके स्थूलअक्षरमय पुस्तकसमूहका देश-काल-पात्रके प्रभेदसे समय-समयपर आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, परन्तु सूक्ष्मराज्यमें शास्त्रोंकी नित्य स्थिति रहनेके लिये और भी चार प्रकारकी पुस्तकें हैं। इसीकारण पुस्तकोंके पांच भेद हैं। यथा ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु और अक्षरमय।

इन पाँच प्रकारकी पुस्तकोंका उदाहरण बताया जाता है यथा-नादमयी पुस्तकका उदाहरण श्रुति है, बिन्दुमयी पुस्तकका उदाहरण स्मृति है, ब्रह्माण्डमयी पुस्तकका उदाहरण तन्त्र है, पिण्डमयी पुस्तकका उदाहरण वैद्यकशास्त्र है, और इनसे अतिरिक्त पृथ्वीके अन्यान्य ग्रन्थ अक्षरमयी पुस्तकके उदाहरण हैं, ये पूर्ण नित्य होनेके कारण नित्यशास्त्रसमूह इन पुस्तकोंमेंसे किसी पुस्तकमें अवश्य विद्यमान रहते हैं और प्रलयावस्थामें भी ये पुस्तकसमूह वेदमें लय होकर मुझको प्राप्त होते हैं।

सृष्टिमें जितने ज्ञानराज्य हैं, उनके आधाररूप पुस्तकें ऊपर लिखित पाँच प्रकारसे विभक्त हैं। वेदोंमें जो कहा है कि, सरस्वती

नदीके पाँच स्रोत हैं इसका रहस्य यही है कि, ज्ञानप्रवाहरूपी सरस्वती देवी पाँच प्रकारके स्रोतमें प्रवाहित होकर जगत्को मङ्गलमय करती हैं।

प्रत्येक ब्रह्माण्डके अधीश्वर त्रिमूर्ति हैं। उन ब्रह्मा-विष्णु-महेश-रूपी त्रिमूर्तिका वर्णन पहले आ चुका है। वस्तुतः त्रिमूर्ति प्रत्येक ब्रह्माण्डके ईश्वर हैं। इसकारण प्रत्येक ब्रह्माण्डका आधारभूत जो ज्ञान है, वह इन त्रिमूर्तियोंके अन्तःकरणमें विराजमान है। अतः ब्रह्माण्डपुस्तकका स्थान इन त्रिमूर्तियोंका अन्तःकरण है। ब्रह्मा, विष्णु, अथवा शिव, इन तीनों ईश्वरोंकी विशेषकृपा जिस भक्त-चूड़ामणिपर होती है, उसीको ब्रह्माण्डरूपी पुस्तककी सहायता भी मिल सकती है। जिस समय ब्रह्माजीका भक्त, विष्णुजीका भक्त अथवा शिवजीका भक्त अपने उपास्य देवमें तन्मय होता है, उस-समय उक्त ईश्वरकी कृपासे उस भक्तका चित्त और उक्त ईश्वरका चित्त एक होकर तादात्म्यभावको धारण करता है, तभी वह महापुरुष अपने-को ब्रह्मा, विष्णु, अथवा शिवरूपसे परिचय देकर जगत्में उनके ज्ञान-विस्तार कर सकता है। विभिन्न गीताआदि शास्त्रोंमें विष्णु शिवादिकी जो उक्ति है, सो इसी तरहसे ब्रह्माण्डमय पुस्तककी उक्ति है।

भगवदवतार अथवा उच्चश्रेणीके ऋषि, अथवा उच्च-श्रेणीके ज्ञानी भक्तके हृदयमें इसप्रकारसे ब्रह्माण्ड-पुस्तकका आविर्भाव होना केवल स्वभाव है। उस पुस्तकका सम्बन्ध केवल सगुण ईश्वर-लोकसे हो सकता है। चतुर्दशभुवनोंमेंसे और किसी

लोकसे नहीं हो सकता। पिण्डरूपी पुस्तकका सम्बन्ध चतुर्दश-भुवनके सब लोकोंके साथ हो सकता है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है, कि ज्ञानराज्यके चालक ऋषिगण हैं। ऋषिगण एक प्रकारके देवता हैं। उनके अधिकारमें छोटाई-बड़ाई भी है, इसकारण उनका वास चतुर्दशभुवनोंमें होना सम्भव है, और उन ऋषियोंकी प्रेरणासे इस मृत्युलोकके ज्ञानी व्यक्तियोंके अन्तःकरणमें जो प्रेरणा होती है, वह पिण्डमय पुस्तककी प्रेरणा है, ऐसा समझना उचित है। क्योंकि इस पुस्तकके आविर्भावमें दोनों ओरके पिण्डका सम्बन्ध है। एक ओर मृत्युलोकके ज्ञानी व्यक्तियोंका जैवपिण्ड और दूसरी ओर चतुर्दशभुवनोंमेंसे किसी भुवनके ऋषिका दैवपिण्ड, दोनोंका सम्बन्ध पिण्डात्मक होनेसे यह ज्ञानमय पुस्तक पिण्डनामक पुस्तक कहाती है। चतुर्दशभुवनमें सात देवलोक और सात असुर लोक हैं। इन लोकोंमें भी अधिकारका तारतम्य है।

इस कारण पिण्डमय पुस्तक दैवविद्या और आसुरी विद्या दोनों श्रेणीकी विद्यासे पूर्ण हो सकती है। देवता और असुरका लक्षण पहले ही वर्णित हो चुका है। तृतीय नादमय पुस्तक वेद है।

वेदोंने स्वयं इस प्रकार वर्णन किया है कि—"वेदो वै नारायणः स्वयम्" अर्थात् वेद साक्षात् नारायणस्वरूप है। और भी शुक्ल-यजुर्वेदसंहितामें—

पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यान्ति सस्रोतसः
सरस्वती तु पञ्चधा सोदेशेऽभवत् सरित्।

सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें महर्षियोंके जो अवतार इस लोकमें उत्पन्न होते हैं, उनके समाधिस्थ अन्तःकरणमें जो ज्ञानमय श्रुति सुनायी देती है, वही मन्त्र कहाता है। श्रुति अन्य पुस्तकोंकी रीतिपर देवभावमूलक नहीं है; क्योंकि वेद सुनायी देते हैं। इसी कारण वेदके सब शब्द मन्त्र हैं और वेदोंकी महिमा सर्वोपरि है। विन्दुमय पुस्तक चतुर्थश्रेणीकी पुस्तक है। ऋषियोंके अवतारगण वेदमन्त्रोंकी स्मृतिसे अपने शब्दोंमें जो ज्ञान प्रकाशित करते हैं, वह स्मृति कहाती है। स्मृतिसमूहसे इस विन्दुमय-पुस्तकका सम्बन्ध है। जिसप्रकार नादसे विन्दुमय-ज्योतिका विकास होता है, यह योगशास्त्रका रहस्य है; उसीप्रकार नादमय वेदोंकी सहायतासे विन्दुमय स्मृतियोंका प्रकाश होता है इसकारण स्मृतिकी भी महिमा कही जाती है। पाँचवीं पुस्तक अक्षरमय है। इन पूर्वकथित चारों पुस्तकों अथवा ज्ञानसहायक किसी विषयको जब स्थूल अक्षरोंमें लिपिबद्ध करते हैं, तब वे ही अक्षरमय पुस्तक कहाती है। ऊपरलिखित पाँच प्रकारकी पुस्तकोंमेंसे नादमय वेदोंकी महिमा सर्वोपरि इस कारण है, कि वेद अपौरुषेय तथा ऋषियोंके द्वारा सुने जानेके कारण और त्रिगुण तथा त्रिभावसे पूर्ण होने एवं साक्षात् भगवद्वाक्य होनेसे ऊपरलिखित पाँच प्रकारकी पुस्तकोंमें सर्वप्राधान्य और सर्वमान्य करके माने गये हैं ॥४॥

प्रसङ्गसे वेदके स्वरूपकी विशेषता कही जाती है—

वेद स्वतः पूर्ण अभ्रान्त और नित्य है ॥५॥

वेद स्वभावसे ही पूर्ण, सब प्रकारसे भ्रान्तिरहित और उत्पत्ति-विनाश-रहित नित्य है। त्रिगुण और त्रिभावसे पूर्ण होनेके कारण वे स्वतः पूर्ण हैं। योगिराज महर्षियोंके समाधियुक्त अन्तःकरणमें उनका आविर्भाव होनेसे वे अभ्रान्त हैं, इसमें सन्देह ही नहीं हो सकता है। प्रत्येक कल्पके उपयोगी ज्ञानसे पूर्णहोनेके कारण शब्दब्रह्मरूपी वेद अभ्रान्त हैं। प्रत्येक कल्पमें ज्ञानाधार परमात्मासे जितना ज्ञानका आविर्भाव होना प्रयोजनीय है, उसका विकास जिन वेदोंमें है, वे अभ्रान्त होंगे इसमें सन्देह ही क्या है, और सृष्टिदशामें वेदोंका महर्षियोंकेद्वारा आविर्भाव होना, प्रलय-दशामें उनका ओङ्कारमें और ओङ्कारका मूलप्रकृतिमें मूलप्रकृतिका ब्रह्ममें लय होकर रहनेसे वेदोंकी नित्यता भी स्वतः सिद्ध है। अर्थात् सृष्टि-दशामें वेद जब शब्दब्रह्मरूपसे प्रकट होते हैं और प्रलयावस्थामें वे ज्ञानरूपसे परमात्मामें स्थित रहते हैं, तो उनके नित्य होनेमें सन्देह ही नहीं हो सकता। विभिन्न कल्पोंकी सृष्टिभेदके कारण वेदोंके विराड् स्वरूपकी नित्यतामें कुछ भी भेद नहीं पड़ सकता है। यथा—

"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा
युगान्ते अन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा"।

स्वतः पूर्णोऽभ्रान्तो नित्यश्च ॥५॥

पाँच प्रकारकी पुस्तकें जिनका वर्णन आ चुका है, उसमेंसे नादमयी पुस्तकरूपी वेदोंके अतिरिक्त अन्य चार प्रकारकी पुस्तकोंमें शब्दका परम्परासम्बन्ध और वेदोंमें साक्षात् सम्बन्ध है। ब्रह्माण्डरूपी पुस्तक ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी सगुणब्रह्मकेद्वारा भक्तके अन्तःकरणमें भावरूपसे प्रेरित होते हैं और भक्त उनको नाना लौकिक शब्दोंमें जगत्के सम्मुख रखता है। विन्दुमय-पुस्तक तो, ऋषियोंके अवतारोंकेद्वारा वेदार्थकी स्मृतिसे नाना-लौकिक शब्दोंमें प्रकाशित होती हैं। पिण्डरूपी पुस्तक और अक्षरमयी पुस्तक तो दैवीज्ञान और आसुरीज्ञान आदि सब प्रकार-के ज्ञानसे पूर्ण होती हैं और उनका सम्बन्ध सब प्रकारके अधिकारके ज्ञानसे रहता है। उनका शब्दविन्यास तो लौकिक सम्बन्धसे युक्त ही है। यदि प्रश्न यह है कि अक्षरमयपुस्तकके अन्तर्गत वेदको भी मान सकते हैं, क्योंकि श्रुतियाँ जब लौकिक अक्षरोंमें लिखी जाती हैं तो उनका भी स्वरूप अक्षरमय पुस्तकमें परिणत हो जाता है। इस शङ्काका समाधान यह है, कि वर्णनात्मक शब्द ध्वन्यात्मक शब्दके प्रतिशब्द हुआ करते हैं। उदाहरणके रीतिपर समझ सकते हैं, कि अ, उ, म, के संयोगसे जो ओंशब्द लिखा जाता है वह 'तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्' आदि श्रुतिवाक्यद्वारा प्रतिपादित ध्वन्यात्मक प्रणवका प्रतिशब्द-मात्र है, जो प्रणवध्वनि समाधिस्थ योगिगण अपने हृदयमें सुनते हैं, वह यथार्थ शब्द है और अ, उ, म के द्वारा जो ओंकार लिखा जाता है वह उस यथार्थ शब्दका प्रतिशब्दमात्र है। वस्तुतः

अक्षरमयी पुस्तकोंके आकारमें जो वेद रहेगा उसकी प्रतिष्ठा अन्यान्य पुस्तककी अक्षरमयी दशाकी अपेक्षा अधिक गौरवान्वित होगी, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि वेदके शब्द साक्षात् भगवान्‌के शब्द हैं और अन्यान्य पुस्तकें ऐसी नहीं हैं। परन्तु लिखी हुई श्रुति और योग्यव्यक्ति द्वारा यथार्थ स्वरूपमें उच्चारित श्रुतिमें अवश्य पार्थक्य होगा। यही कारण है, कि वेदके उच्चारणके साथ कर्मकाण्ड आदिका बहुत कुछ रहस्य पाया जाता है।

सुतरां यति, स्वर आदिकी ठीक-ठीक सहायतासे उच्चारित होने योग्य श्रुतियोंमें और अक्षरमयी पुस्तकोंमें लिखी हुई श्रुतियोंके परस्परमें भेद होना स्वतः सिद्ध है। अतः नादमय-पुस्तकके अतिरिक्त अन्य चार प्रकारकी पुस्तकोंके कार्य्य और कारण शब्दोंमें कुछ भेद अवश्य रह जाता है। त्रिमूर्तिद्वारा प्रेरित भाव ही केवल भक्तके हृदयमें प्रकाशित होकर ब्रह्माण्ड-पुस्तकका वाह्यस्वरूप प्रकट करता है। ऋषियोंके द्वारा भावराज्यसे प्रेरित होकर स्मृतिरूपी विन्दुमय पुस्तकका स्वरूप प्रकट होता है। पिण्डरूपी पुस्तक तो चतुर्दशभुवनके छोटे-बड़े सब प्रकारके ऋषिद्वयाभावरूपसे मनुष्यके हृदयमें प्रेरित होती हैं। इनके साथ दैवीराज्यका जैसा सम्बन्ध है, आसुरी राज्यका भी वैसा ही सम्बन्ध है। विशेषतः इन पुस्तकोंके साथ लौकिकराज्यका बहुत ही सम्बन्ध रहता है। अक्षरमय पुस्तक तो सब प्रकारकी ही होती हैं और उनका नाशवान् और क्षणभङ्गुर होना स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः एकमात्र नादमय पुस्तकरूपी वेदके साथ सूक्ष्मराज्यका प्रत्यक्ष

सम्बन्ध रहता है। वे शब्दब्रह्मरूपसे महर्षियोंके योगयुक्त अन्तःकरणमें सृष्टिके पूर्वकालमें यथार्थतः सुनायी देनेके कारण उनका स्वतः पूर्ण होना और अभ्रान्त होना विज्ञानसिद्ध है और वे शब्द जब कार्य्यदशामें कार्य्यब्रह्मरूपी परमात्मामें नित्य स्थित रहते हैं, तब उनका नित्य होना भी स्वतः सिद्ध है ॥५॥

प्रसङ्गसे अन्यका प्रमाणनिर्णय किया जाता है—

वेदके अर्थ द्योतक होनेसे स्मृति आदिका भी प्रामाण्य है ॥६॥

यह स्वभावसिद्ध है, कि सृष्टिके प्रारम्भमें सब शक्ति सब ओरसे पूर्ण होती है। इसका प्रबल प्रमाण यह है, कि सबसे प्रथम सनक आदि परमहंस उत्पन्न हुये थे। उनमें सृष्टिकी इच्छा ही नहीं हुई थी। दूसरी सृष्टिमें प्रजापतिगण उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने केवल मानसिक सृष्टि की थी। वैजीसृष्टि उसके अनन्तर हुई थी। सुतरां सृष्टिके प्रारम्भमें आध्यात्मिक पूर्णताके हेतु ऋषियोंके अन्तःकरणमें वेदका आविर्भाव अपूर्वमहत्त्व और दार्शनिक रहस्यसे पूर्ण है। प्रत्येक कल्पके वेदोंमें उस कल्पके सब प्रकारके ज्ञानका बीजरहना भी इस दार्शनिकयुक्तिसे स्वतः सिद्ध है। ऐसे स्वतःपूर्ण अभ्रान्त और शब्दब्रह्मरूपी वेदोंके तत्त्वोंके प्रकाशक वेदसम्मत जो अन्य शास्त्र हैं, वे भी वेदके सदृश प्रामाण्य अवश्य होंगे। स्मृति आदि जितने वेदसम्मत शास्त्र हैं,

---

स्मृत्यादीनां प्रामाण्यं तदर्थद्योतकत्वात् ॥६॥

वे सब वेदार्थ द्योतक हैं, क्योंकि प्रत्येक कल्पका सम्यक् ज्ञान बीजरूपसे वेदोंमें रहता है, सुतरां वेदसम्मत जितने शास्त्र होंगे वे अपने ज्ञानके बीजभूत वेदोंके भावार्थ द्योतक ही होंगे इसमें सन्देह नहीं।

वेद त्रिगुणमय और त्रिभावात्मक हैं, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। ऐसा होनेसे वेद सब अधिकारियोंके लिये समान-रूपसे हितकर है, उसीके अनुकूल जो शास्त्र त्रिगुणात्मक और त्रिभावात्मक हैं, वे सर्वजीवहितकारी और सर्वमान्य ही होंगे। स्मृतिशास्त्रमें और वेदमें तो विशेषभेद ही नहीं है, क्योंकि वेदको स्मरणपूर्वक ही ऋषियोंने वेदके भावसे स्मृतिशास्त्रोंकी रचना की है। वेदमें और स्मृतिमें केवल शब्दोंका भेद है भावका कुछ भी भेद नहीं है। सुतरां स्मृतियाँ वेदके तुल्य ही प्रामाण्य हैं। वेदोंने स्वयं कहा है कि, वेदार्थस्मरणं स्मृतिः, अर्थात् वेदार्थके स्मरणको ही स्मृति कहते हैं।

वेदका तात्पर्य्य समझनेकेलिये समाधिस्थ-बुद्धिकी जैसी आवश्यकता है उससे अधिक वेदाङ्ग और वेदके उपाङ्गोंको समझने-की आवश्यकता है, इसीकारण स्वयं वेदोंने कहा है, कि—

'साङ्गोपाङ्गो वेदोऽध्येतव्यः, अर्थात् अङ्ग और उपाङ्गोंके सहित वेद पढ़ना आवश्यकीय है। वेदके छः अङ्ग हैं, यथा-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष। यह पहलेही कह चुके हैं कि स्वरका बहुत बड़ा सम्बन्ध वेदोंके साथ है। बिना स्वर-सहित वेदकी पूर्ण कार्य्यकारिणी शक्ति नहीं प्रकट होती है। अतः

स्वरज्ञान करानेवाला शिक्षाशास्त्र स्मृतिशास्त्र ही है, इसमें सन्देह ही क्या है। वेदके कर्मकाण्डका निर्णायक कल्पशास्त्र है। कर्मसे ही काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चतुर्वर्गोंका सम्बन्ध है। वेदका काण्डत्रय सब कुछ कर्ममूलक है। ऐसे कार्योंका निर्णायक ११८० शाखाओंमें विभक्त कल्पशास्त्र सर्वत्रापि प्रणीत है और वे सब ही नाना धर्मशास्त्रके अनुरूप स्मृति ही हैं। शब्दज्ञानकरानेवाले वैदिक व्याकरण-शास्त्र स्मृतिके तुल्य है, इसमें सन्देह ही क्या है।

यह पहले भी सिद्ध होचुका है, कि वेदकी प्रत्येक श्रुतिके तीन तीन प्रकारके अर्थ हुआ करते हैं। वेदके त्रिभाव प्रकाशक शास्त्रको निरुक्त कहते हैं। निरुक्तशास्त्रके भलीभाँति बिना समझे वेदके गम्भीरतम प्रदेशमें कोई भी नहीं पहुँच सकता है। यह निरुक्तशास्त्र सब ऋषिप्रणीत है और स्मृति है। वेदके शक्ति-प्रकाशक छन्दःशास्त्र है। छन्दोंके द्वारा वेदमन्त्रोंकी शक्ति विकशित होती है। शिक्षाशास्त्रके तुल्य ही छन्दःशास्त्र उपयोगी है। सुतरां जिसप्रकारसे शिक्षाशास्त्र स्मृति है, उसीप्रकार छन्दशास्त्र भी स्मृति है। बिना कालज्ञानके कर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। वैदिक-ज्यौतिषशास्त्र कालका ज्ञापक है। कालकी सेवा वैदिक कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डकी भित्ति है। वस्तुतः ऐसा परम उपकारी वैदिक ज्यौतिष स्मृति ही है, इसमें सन्देह नहीं। इन छः वैदिक अङ्गोंसे भी अधिक सातों वैदिक उपाङ्गोंकी महिमा शास्त्रोंमें पायी जाती है। इसीकारण वैदिक उपाङ्गोंको दर्शनशास्त्र कहते हैं।

वस्तुतः वैदिक ज्ञानलाभके लिये दर्शनशास्त्र दर्शनरूप ही है। ऐसे त्रिलोक पवित्रकारी दर्शनशास्त्रोंके सब सूत्र स्मृति ही हैं, इसमें कोई सन्देह ही नहीं हो सकता है। वैदिक दर्शन सात ही होते हैं। न्याय और वैशेषिक ये दोनों पदार्थवाददर्शन, योग और सांख्य ये दोनों सांख्यप्रवचनदर्शन और वेदके तीन काण्डोंके अनुसार तीन मीमांसादर्शन, इसप्रकारसे वैदिकदर्शन सात हैं। सप्तदर्शन-विज्ञान और सप्तज्ञानभूमिके अनुसार उनकी योजना तथा उनका क्रम पूज्यपाद महर्षियोंने कैसे निर्णय किया है वह निम्नलिखित स्मृतियोंसे प्रकाशित होगा।

विश्वबन्धकर्त्रीषु सप्तस्वज्ञानभूमिषु।
अज्ञानान्धाः सदा जीवा आसज्जन्ते विमोहिताः॥
श्रौतानां कर्म्मकाण्डानां साहाय्यात् साधकाः खलु।
पूर्वं शरीरसंशुद्धिं मनःशुद्धिं ततः परम्॥
कृत्वा पश्चान्ममोपास्त्या चित्तवृत्तोः प्रशम्य च।
अधिकारं लभन्तेऽन्ते तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभम्॥
ततश्च क्रमशो विप्राः सोपानारोहणं यथा।
ज्ञानभूमिश्च सप्तैवमतिक्रम्य शनैः शनैः॥
ज्ञानपूर्णान्तरात्मानो मामन्ते प्राप्नुवन्ति ते।
ज्ञानक्रमप्रकाशैर्हि पूर्णाः स्वाभाविकैरतः॥
सप्तैता ज्ञानभूम्यो मे परासिद्धेः कृपावशात्।
स्वरूपज्ञान - संलब्धेर्वहन्ते हेतुतामलम्॥

सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमाज्ञानदा भवेत् ।
संन्यासदा द्वितीया स्यात् तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात् पञ्चमी सत्पदा स्मृता ।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यावज्जीवैरतिक्रान्ता न सप्ताज्ञानभूमयः ।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाप्यते ॥

विश्वको बन्धनप्राप्त करानेवाली सात अज्ञानभूमिकाओंमें मनुष्य अज्ञानान्ध विमोहित होकर सदा फँसे रहते हैं। वेदविहित कर्मकाण्डकी सहायतासे साधक प्रथम शरीरकी शुद्धि और तदनन्तर मनका शुद्धिसम्पादन करके तत्पश्चात् मेरी उपासनाके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको शान्ति करके अन्तमें तत्त्वज्ञानका दुर्लभ अधिकार प्राप्त करते हैं। एवं तदनन्तर हे ब्राह्मणो! क्रमशः सातों ज्ञानभूमियोंको सोपानारोहणके समान शनैः शनैः अतिक्रमण करके अन्तमें वे पूर्णज्ञानी होकर मुझको प्राप्त कर लेते हैं। इसकारण स्वभावसिद्ध ज्ञानके क्रमविकाससे पूर्ण ये सातों ज्ञानभूमियाँ मेरी परासिद्धिकी कृपासे मेरे स्वरूपज्ञान-प्राप्तिकी अत्यन्त कारणरूपा हैं। सातों ज्ञानभूमियोंमेंसे प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया संन्यासदा, तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति, पञ्चमी सत्पदा, षष्ठी आनन्दपदा और सप्तमी परात्परा है। जबतक जीवोंने सप्त अज्ञानभूमियोंका अतिक्रमण नहीं किया है तबतक प्रथम ज्ञानभूमिज्ञानदाकी प्राप्ति नहीं होती है।

उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमा ज्ञानभूमिका ।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
तृतीया अण्डजजातेश्चाज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता ।
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ ॥
पञ्चकोषप्रपूर्णं त्वाधिकारिष्वेव वै नृषु ।
सन्ति शेषा अधिकृता स्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः ॥
तिस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः ।
विशदं ताः प्रचक्षेऽहं श्रूयन्तां विप्रपुङ्गवाः ॥
एता अज्ञानभूमिर्हि तिस्र एव समूलतः ।
मूर्तिमन्तः स्वयं वेदा निराकर्तुं समुद्यताः ॥
अधमा अज्ञानभूमौ हि यावन्मर्त्यः प्रसज्जते ।
कृते अपराधे दण्डत्तिर्य्यग्योनौ तदुद्भवः ॥
मध्यमाज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः ।
पितृलोकास्तथा विप्राः नरकाश्च पुनः पुनः ॥
प्राप्यन्ते मृत्युलोकश्च सुखदुःखादिपूरितः ।
ददत्यूर्ध्वंञ्च स्वर्लोकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका ॥
अधमाज्ञानभूमिञ्च प्राप्ता मर्त्या भवन्त्यहो ।
देहात्मवादिनोऽनार्य्या नास्तिकाः शौचवर्जिताः ॥
मध्यमाऽज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः ।
आस्तिकत्वेन भो विप्राः सद्विचारपरायणाः ॥

उद्भिज्जोंके चिदाकाशमें प्रथम अज्ञानभूमि है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञानभूमि कही गयी है। अण्डजोंके

चिदाकाशमें तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज-पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञानभूमि है। परन्तु पञ्चकोषोंकी पूर्णताकी अधिकारिणी मनुष्ययोनिमें ही शेष तीनों अज्ञानभूमियोंका अधिकार है। वे ही तीनों उत्तम, मध्यम और अधम अज्ञानभूमियाँ कहाती हैं। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो! मैं उनको स्पष्टरूपसे कहता हूँ सुनो। इन्हीं तीनों अज्ञानभूमियोंको समूल निराकरणलिये वेद स्वयं मूर्ति धारण करके प्रवृत्त है। अधम अज्ञानभूमिमें जीव जबतक फँसा रहता है अपराध करने पर उसको तिर्यक् योनिकी प्राप्ति दण्डरूपसे हुआ करती है। और हे ब्राह्मणो! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्योंको पितृलोक, नरकलोक और सुख-दुःखपूर्ण मृत्युलोककी प्राप्ति बार बार होती है एवं सर्वोत्तम अज्ञानभूमि उर्ध्व स्वर्गलोक प्रदानकारी है। अधम अज्ञानभूमिप्राप्त मनुष्य अहो! नास्तिक देहात्मवाही अशुचि और अनार्य्य होते हैं। परन्तु हे ब्राह्मणो! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्य आस्तिक होनेसे देहसे आत्माकी पृथकतापर सर्वथा विश्वास करते हुये और सद्विचार परायण होते हुए भी—

देहात्मानो हि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा।
इन्द्रियाणां सुखे मग्ना नितरामैहलौकिके॥
विस्मरन्ति महामूढ़ा सुखं ते पारलौकिकम्।
उत्तमाऽज्ञानभूमेर्वै पुण्यवन्तोऽधिकारिणः॥
आत्मातिरिक्तं मे शक्ते र्मत्वाऽस्तित्वं द्विजर्षभाः।
स्वर्गीयस्य सुखस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः॥

अधमा अज्ञानभूमिर्वै तमोमुख्या विजृम्भते।
तमोरजः प्रधाना च मध्यमाऽसौ प्रकीर्तिता॥
उत्तमा अज्ञानभूमिश्च रजः सत्वप्रधानिका।
शुद्धसत्वविकाशस्य स्थले नूनं यथाक्रमम्॥
पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे ततो द्विजाः।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकारः क्रमेण हि॥
समुद्यन्ति ध्रुवं देव दुर्लभानां स्वभावतः।
ज्ञानभूम्यश्च सप्तैता साधकान्तर्हृदि क्रमात्॥
शुद्धं सत्वगुणं सम्यग् वर्द्धयन्तो निरन्तरम्।
निःश्रेयसपदं नित्यं गुणातीतं नयत्यलम्॥
यत्किञ्चिदासीत्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वमपेतधीः।
आद्यायाः भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयो अनुभवो मतः।
प्राप्या शक्ति र्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः॥

महामूढ़ ऐहलौकिक इन्द्रिय सुखमें अत्यन्त मग्न होकर पारलौकिक सुखको भूले रहते हैं। हे ब्राह्मणो! उत्तम अज्ञानभूमिके ही पुण्यवान् अधिकारी आत्मासे अतिरिक्त मेरी शक्तिका अस्तित्व मानकर वे स्वर्गीय सुखका अधिकारी हुआ करते हैं। अधम अज्ञानभूमि तमप्रधान, मध्यम अज्ञानभूमि रजप्रधान, और उत्तम अज्ञानभूमि रज सत्व प्रधान कही गयी है। इसके अनन्तर हे ब्राह्मणो! शुद्ध सत्वके क्रम विकाशस्थलरूपी पुण्यवान् मनुष्योंके चित्ताकाशमें देवदुर्लभ सप्तज्ञानभूमियोंके अधिकार

क्रमशः स्वभावसे ही उदय होते हैं, और क्रमशः यह सातों ज्ञानभूमियाँ साधकके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्वकी भलीभाँति निरन्तर वृद्धि करती हुई नित्य और गुणातीत कैवल्यपदमें निश्चय पहुँचा देती है। मुझे जो कुछ जानना था, वह सब कुछ जान लिया है, ऐसी बुद्धि होना प्रथम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। मुझे त्यागना था, सो त्याग दिया है, यह दूसरी ज्ञानभूमिका अनुभव माना गया है। मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी, सो प्राप्तकर ली है, यह तीसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है।

माया विलसितं चैतद् दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थो अनुभवोऽमतः॥
जगद् ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठो अनुभवः किल कथ्यते॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवोमतः॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्म सारूप्यमाप्यते।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मुनिसत्तमाः॥
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च।
पुरुषार्थास्त्रिधा प्रोक्ता एत एव महर्षयः॥
मुमुक्षूणां त्रिभिः सम्यङ् मम सामीप्य लब्धये।
पुरुषार्थैरुपेतानामेताः साधनशैलयः॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां सप्तसोपानसन्निभाः।
प्रासादपृष्ठमारोढुं यथा सोपानपङ्क्तयः॥

तथा तटस्थज्ञानस्य सप्तैता ज्ञानभूमयः ।
सप्तसोपान - तुल्यास्तु स्वरूपज्ञानलब्धये ॥
आद्यायां ज्ञानदानाम्न्यां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
अन्तर्दृष्टिं लभेरंस्ते तत्त्वजिज्ञासवो द्विजाः ॥
तदा जिज्ञासवो नूनं परमाणुस्वरूपतः ।
स्थूलान्येव ममाङ्गानि ज्ञात्वा नित्यानि सर्वथा ॥

यह मायाकी लीला मुझे सब ही दिखायी देती है, मैं उसमें मोहित नहीं होता, यह चतुर्थ ज्ञानभूमिका अनुभव है। जगत् ही ब्रह्म है, यह पञ्चम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। ब्रह्म ही यह जगत् है, निश्चय ही षष्ठ ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। और मैं अद्वितीय निर्विकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ, ऐसी बुद्धि सप्तम ज्ञानभूमिका अनुभव माना गया है। इस भूमिको प्राप्त करके ही साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। हे श्रेष्ठ मुनियों! इसमें कुछ सन्देह नहीं है। हे महर्षियो! श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप ये ही त्रिविध ज्ञानप्राप्तिके पुरुषार्थ कहे गये हैं। मुमुक्षुओंको मेरे पास अच्छी तरह पहुँचनेके लिये इन्हीं त्रिविध पुरुषार्थोंसे युक्त सातों ज्ञानभूमियोंकी साधन-शैलियाँ सात सोपानरूप हैं। जिसप्रकार किसी राजभवनकी छतपर चढ़नेके लिये पौड़ियाँ होती हैं उसीप्रकार स्वरूपज्ञानमें पहुँचनेकेलिये तटस्थज्ञानकी ये सात ज्ञानभूमियाँ सात पौड़ियोंके समान हैं। हे तत्त्वजिज्ञासु ब्राह्मणो! ज्ञानदा नाम्नी प्रथम ज्ञानभूमिमें वे मुमुक्षु अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने लगते हैं। हे ब्राह्मणो! उससमय जिज्ञासु पण्डितगण मेरे स्थूल-

अवयवोंको ही परमाणु रूपसे सर्वथा नित्य जानकर और

षोडशधा विभक्तानि दृष्ट्वा तान्येव मे पुनः।
वादसाहाय्यतो वापि पर्य्यालोचनलोचनैः॥
सृष्टिं निरीक्ष्य तस्याश्च कर्तारं केवलं हि माम्।
शक्नुवन्ति बुधा विप्राः! अनुमातुं कुलालवत्॥
अस्याञ्च ज्ञानभूमौ हि क्षेत्रे तत्त्वज्ञमानसे।
आत्मज्ञानीयवीजस्य प्ररोहो जायते ध्रुवम्॥
एनां वदन्त्यतो भूमिं ज्ञानदां ज्ञानिनो जनाः।
ददात्येषा यतो भूमिर्ज्ञानं नित्यं मुमुक्षवे॥
आरूढानां ज्ञानभूमावेतस्यां नियमेन च।
ममोपास्तौ प्रवृत्तानां येन केन प्रकारतः॥
मुमुक्षूणां ध्रुवं चित्ते ज्ञानवायुप्रकम्पितम्।
मूलमज्ञानवृक्षस्य सर्वथा शिथिलायते॥
सन्न्यासदाभिधायां हि ज्ञानभूम्यां प्रतिष्ठिताः।
मुमुक्षवः शरीरे मे स्थूलमल्पसमीपतः॥
सम्पश्यन्तोर्ममाङ्गेषु स्थूलेष्वेव महर्षयः।
कुर्वन्तः सूक्ष्मशक्तीनामनुभूतिं निरन्तरम्॥
धर्माधर्मौ च निर्णीय ह्यधर्मं त्यक्तुमीशते।
ज्ञानभूमिर्द्वितीयाऽत एषा संन्यासदोच्यते॥

उन्हीं मेरे अवयवरूपी विभागोंको षोडशसंख्यामें विभक्त देखकर ही वादकी सहायतासे अथवा पर्य्यालोचन-दृष्टिके द्वारा सृष्टिको देखकर और मुझको कुलालके समान केवल उस

सृष्टिके कर्तारूपसे ही अनुमान करनेमें समर्थ होते हैं। इसी प्रथम ज्ञानभूमिमें तत्वज्ञानीके हृदयरूपक्षेत्रमें आत्मज्ञानरूप बीजका अंकुर निश्चय उत्पन्न हो जाता है, इसकारण ज्ञानीलोग इस भूमिको ज्ञानदा कहते हैं। क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्षुको नित्यज्ञान प्रदान करती है। इस ज्ञानभूमिमें पहुँचे हुए और किसी न किसी प्रकारसे मेरी उपासनामें नियमपूर्वक लगे हुए मुमुक्षुओंके चित्तमें ज्ञानवायुसे भलीभाँति कंपाया हुआ अज्ञान-वृक्षका मूल सर्वथा शिथिल हो जाता है। हे महर्षियो ! संन्यासदा नाम्नी द्वितीय ज्ञानभूमिमें स्थित मुमुक्षु ही मेरे स्थूलशरीरको कुछ निकटसे देखते हुए मेरे स्थूल अवयवोंमें ही सूक्ष्मशक्तियोंका निरन्तर अनुभव करते हुए और धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्मके त्यागकरनेकी योग्यता प्राप्तकर ही लेते हैं, इसीकारण इस दूसरी ज्ञानभूमिका नाम संन्यासदा कहा जाता है।

योगदायां तृतीयायां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः।
चित्तवृत्तिनिरोधस्य कुर्वन्तोऽभ्यासमुत्तमम् ॥
मच्छक्तिं संयमेनैतां मां पुनर्ब्राह्मणोत्तमाः।
अभ्यासेनैकतत्त्वस्य पृथक्त्वेन निरीक्षितुम् ॥
यस्मिन् काले प्रवर्त्तन्ते सूक्ष्मदृष्टिस्वरूपकम्।
साधकेषु तदोदेति प्रत्यक्षं नन्वलौकिकम् ॥
ज्ञानभूमिमिमां विज्ञा योगदां च वदन्त्यतः।
चित्तवृत्तिनिरोधं च योगमेषा व ददात्यलम् ॥

लीलोन्मुक्तिं चतुर्थीं वै ज्ञानभूमिं प्रपद्य च ।
अघटघटनायाश्च पटीयस्याः मुमुक्षवः ॥
त्रैगुण्यलीलामय्या मे तत्त्वं वै प्रकृतेर्विदुः ।
तदा लीलामयी स्वस्यां लीलायां प्रकृतिः पुनः ॥
नासञ्जयितुमीष्टे तान् साधकान् विज्ञसत्तमाः ।
लीलोन्मुक्तिं बुधाः प्रोचुर्ज्ञानभूमिमिमामतः ॥
पञ्चमीं ज्ञानभूमिं ते यदा सम्प्राप्य सत्पदाम् ।
अभेदज्ञानमाप्तुं वै चित्तो स्वस्मिन् मुमुक्षवः ॥
आरभन्ते तदा तेषामनुभूतेर्हि शक्तयः ।
विशेषेण विवर्द्धन्ते नात्र कार्य्या विचारणा ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! योगदानाम्नी तीसरी ज्ञानभूमिमें मुमुक्षु चित्त-वृत्तिनिरोध करनेका उत्तम अभ्यास करते हुए संयमकेद्वारा इस मेरी शक्तिको और एक तत्त्वके अभ्यासकेद्वारा मुझको अलग-अलग रूपसे देखनेमें प्रवृत्त होते हैं, उससमय साधकोंमें सूक्ष्म-दृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्षका उदय होता है । इसीकारण विज्ञ-जन इस ज्ञानभूमिको योगदा कहते हैं । क्योंकि यह चित्तवृत्ति-निरोधरूपी योगको भलीभाँति प्रदान करती है । और हे विज्ञवरो ! लीलोन्मुक्ति नाम्नी चतुर्थज्ञानभूमिमें पहुँचकर ही मेरी लीलामयी अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके तत्त्वको मुमुक्षु निश्चय ही पहिचान लेते हैं । उससमय लीलामयी प्रकृति अपनी लीलामें उन साधकोंको पुनः नहीं फँसा सकती, इसकारण इस ज्ञान-भूमिको बुधगणने लीलोन्मुक्ति कहा है । सत्पदा नाम्नी पाँचवीं

ज्ञानभूमिमें पहुँचकर वे मुमुक्षु जब अपने ही अन्तःकरणमें अभेद ज्ञानको प्राप्त करने लगते हैं, उसी समय उनकी अनुभव-शक्तियाँ विशेष बढ़ने लगती हैं, इसमें विचारनेकी बात नहीं है।

अस्त्येकत्वादभेदो यो मन्मत्प्रकृति - गोचरः।
यो वाऽभेदोस्ति मे विप्राः कार्यकारणरूपयोः॥
ते वैज्ञानिकनेत्रेण विस्पष्टं ज्ञातुमीशते।
ज्ञात्वा सम्यग् रहस्यञ्च विश्वोत्पादक-कर्मणः॥
जगदेवास्म्यहमिति मां निरीक्ष्य विचारतः।
कार्य्यब्रह्मण एतस्य विबुध्यन्तेस्म सत्यताम्॥
एनां वदन्ति विद्वान्सो भूमिं वै सत्पदामतः।
सद्भावस्य यतोऽमुष्याज्ज्ञानं लोकैरवाप्यते॥
नन्वानन्दपदां षष्ठीं ज्ञानभूमिं प्रपद्य वै।
एकाधारे तु मय्येव मम भक्ता मुमुक्षवः॥
कर्म्मराज्यं जड़ं विप्राः दैवराज्यञ्च चेतनम्।
शक्नुवन्ति यदा द्रष्टुं तदा मे रससागरे॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तो जगदित्यहमेव वा।
समीक्षमाणा अद्वैतमानन्द - मुपमुञ्जते॥
बुधाः सम्प्रोचुरानन्दपदां भूमिमिमामतः।
आनन्दः साधकैर्यस्मात् अस्यां भूमाववाप्यते॥

हे विप्रो! एकत्वके कारण मुझमें और मेरी प्रकृतिमें जो अभेद है अथवा मेरे कारणस्वरूप और कार्यस्वरूपमें जो अभेद है, वैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा वे उसको स्पष्टरूपसे समझनेमें समर्थ होते हैं।

और जगदुत्पत्तिकारक कर्मका रहस्य अच्छी तरह समझकर जगत् ही मैं हूँ, इसविचारसे मुझको देखकर इस कार्यब्रह्मकी सत्यता जान लेते हैं। इसी कारण इस ज्ञानभूमिको ही विद्वान् लोग सत्पदा कहते हैं। क्योंकि इसके द्वारा सद्भावका ज्ञान लोगोंको प्राप्त होता है। और हे विप्रो! आनन्दपदा नाम्नी षष्ठी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर ही मेरे भक्त मुमुक्षु मुझमें ही जड़मय कर्म्मराज्य और चेतनमय दैवराज्यको एकाधारमें जब देखनेमें समर्थ होते हैं, तब वे मेरे रससागरमें उन्मज्जन विमज्जन करते हुए मैं ही जगत् हूँ, इसप्रकार मुझको देखकर अद्वैत आनन्दका उपभोग करते हैं, इसीकारण इसज्ञानभूमिको बुधगण आनन्दपदा कहते हैं। क्योंकि इस भूमिमें साधक आनन्दप्राप्त करते हैं।

अन्तिमां ज्ञानभूमिं मे सप्तमीं च परात्पराम्।
सम्प्राप्य ज्ञानिनो भक्ताः कार्य्यकारणयोर्द्विजाः॥
भेददृष्टिलयं कृत्वा स्वरूपे यान्ति मे लयम्।
भेदज्ञानलयेनैव तेषां शुद्धान्त - रात्मनि॥
सर्वेषु प्राणिवृन्देषु किलैकत्वप्रदर्शकम्।
अद्वैतभावजनकाऽविभक्तज्ञानमुत्तमम्॥
उदेति नात्र सन्देहोऽज्ञानध्वान्तापनोदकम्।
तदा मे ज्ञानिभक्तेषु मयि भेदश्च नश्यति।
लीयन्ते मत्स्वरूपे ते स्वरूपज्ञानसंश्रयात्।
अतो वदन्ति विद्वान्सः इमां भूमिं परात्पराम्॥

हे विप्रों ! परात्परा नाम्नी सप्तमी और अन्तिम ज्ञानभूमिमें मेरे ज्ञानीभक्त पहुँचकर कार्य्यकारणकी भेददृष्टिका लय करके मेरे स्वरूपमें लय हो जाते हैं और भेदज्ञानके लय होनेसे ही उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें सर्वभूतोंमें ऐक्यप्रदर्शक अज्ञानान्धकाराप-नोदक और अद्वैतभाव उत्पादक अविभक्तज्ञानका उत्तमरीतिसे उदय होता है, इसमें सन्देह ही नहीं। उससमय मेरे ज्ञानिभक्तोंमें और मुझमें भेदभाव नष्ट हो जाता है, वे मेरे स्वरूपमें स्वरूपज्ञानके अवलम्बसे विलीन हो जाते हैं। इसीकारण इस भूमिको विद्वान् लोग परात्परा कहते हैं।

इन सब वर्णनोंसे सप्तवैदिक-दर्शनशास्त्रोंका स्मृति होना स्वतः सिद्ध है। दर्शनशास्त्र केवल स्मृति ही नहीं है किन्तु वैदिक विज्ञानके दर्शन अर्थात् नेत्ररूप हैं। विशेषतः दर्शनशास्त्रके बिना वेदका तात्पर्य परिज्ञात ही नहीं हो सकता, इसकारण उनके प्रामाण्यके विषयमें शङ्का ही नहीं हो सकती है। क्योंकि वे स्वतः प्रामाण्य हैं। त्रिमूर्तिसे सम्बन्धयुक्त तन्त्रशास्त्र तथा गीतादिशास्त्र ब्रह्माण्डपुस्तकगत होनेके कारण अवश्य प्रामाण्य हैं। तन्त्र आदिशास्त्र कलि-कल्मष-दूषित जीवके लिए परम मङ्गलकर है। इसीकारण वेदोंने कहा है, कि 'तन्त्रं वै वेदसम्मतम्'। अर्थात् तन्त्र अवश्य ही वेदसम्मत है, कलियुगके जीवोंके कल्याणकारी होनेसे तन्त्रोंका विस्तार भी बहुत है। इसीकारण शास्त्रोंमें वचन मिलता है, कि "चत्वारिंशत् नव-सहस्राणि सङ्ख्यातानि वरानने" अर्थात् शिवजीने महामायासे कहा है, कि तन्त्रोंकी संख्या इस कल्पमें ४६ हजार है। तन्त्र भी त्रिगु-

णात्मक और त्रिभावात्मक है, इसके विषयमें कोई मतभेद नहीं है। विशेषतः कलिमलसे आवृत तामसिक अधिकारियोंके कल्याण करनेकेलिए तन्त्रोंमें विशेष उद्योग देखा जाता है।

तन्त्रोंमें इन विचित्रताओंके अतिरिक्त वेदके गम्भीर रहस्योंका वर्णन नाना दार्शिनिक तत्त्वोंका वर्णन, कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्डोंके बड़े बड़े विषयोंकी मीमांसा आयुर्वेदादि उपवेदों के अनेक रहस्य ज्योतिष आदि वेदाङ्गोंके अनेक तत्त्व, इत्यादि विषय पुराणोंसे अनेक अधिक तन्त्रोंमें वर्णन हैं। सुतरां ये सब तन्त्रोंकी महिमा बढ़ानेवाली बातें हैं। तन्त्रोंकी त्रिगुणमहिमाके विषयमें शास्त्रोंसे ऐसे वचन मिलते हैं—यथाः—"यदुक्तं ते मया तन्त्रं त्रिविधं त्रिगुणात्मकम्, तामसं कुत्र सम्प्रोक्तम् राजसं वापि कुत्रचित् सात्विकं, तत्र कुत्रापि धीमान् तस्मादुद्धरेत्। अर्थात् आपने जो त्रिगुणात्मक तत्त्व कहा है वही कहीं तामस, कहीं राजस, और कहीं सात्विक रूपसे है—कहा गया है।

वे जब वेदके तीनों काण्डोंके वर्णन करनेवाले हैं, तो वे त्रिभावात्मक हैं यह स्वतः सिद्ध है। इसप्रकारसे तन्त्रोंका विस्तार, विषय चमत्कार और त्रिगुण वैचित्र्य आदिके देखनेसे और उनके ब्रह्माण्ड-पुस्तकसे सम्बन्ध होनेसे तथा वे स्मृतिवत् होनेसे प्रामाण्य हैं इसमें सन्देह ही नहीं। पुराणशास्त्र अति उपकारी है, वे वस्तुतः वेद ही का ग्रन्थ है। तत्त्वतः वे वेदभाव प्रकाशक भाष्य हैं। इसकारण वे अवश्य प्रामाण्य हैं। विशेषतः वे ऋषिप्रणीत होनेसे केवल वेदभाव प्रकाशक होनेसे स्मृति ही हैं। तत्त्ववेत्ताओंके

लिए वह परमहंस-संहिता है। मध्यम अधिकारीके लिए आत्मतत्त्व-प्रदर्शक परमगुरु है, अधम अधिकारीके लिए परममङ्गलकर है, साधन-चतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासुकेलिए वह ज्ञानामृतका विस्तार करनेवाला है। राजसिक अधिकारीको शुभकर्ममें नियुक्त करके पापसे बचाता है। स्मृतियोंमें लिखा है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम्॥
या स्तामिस्रान्धतामिस्रौ रौरवाद्याश्च यातना।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिता॥

अर्थात् परमात्मा अनादि निर्गुण और प्रकृतिके पर हैं, वह स्वयं ज्योतिके स्वरूप हैं और विश्व उन्हींके साथ सम्मिलित है, जो कि चतुर्दशी या पौर्णमासीके दिन सुवर्णके साथ भागवतशास्त्र-दान करते हैं, वह परमस्नानको लाभ करते हैं, और जो स्त्री या पुरुष अधर्माचरण करते हैं, वह तामिस्र, अन्धतामिस्र रौरवादि नरककी यातना भोगते हैं। अतः पुराणशास्त्र जिनके भेद कई हैं, सर्वजीव-हितकारी हैं। क्योंकि सबप्रकारके अधिकारियोंका उससे कल्याण होता है। इसीकारण श्रुतिमें कहा है—'पुराणं सर्वकारणम्'। अर्थात् सब प्रकारके कल्याणका कारण पुराण है।

पुराणोंमें तत्त्वज्ञानकी अधिकताके कारण, उपदेश बाहुल्यके कारण, धर्म्माधर्म्मरहस्य निर्णयके कारण, इतिहासादिगाथा द्वारा धर्ममार्गपुष्टिके कारण, सर्वजनप्रिय होने योग्य भाषाकी रमणीयताके कारण और त्रिविध अधिकारोंके उपयोगी अधिकारोंसे पूर्ण होनेके कारण, पुराणशास्त्र वेदविज्ञानके परम सहायक हैं। पुराणशास्त्रोंमें गीता आदि विभाग ज्ञानप्रधान है। गाथामें इतिहास प्रधान है और वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार सब प्रकारके रहस्य पुराणोंमें मिलते हैं। इसकारण वेदोक्त अभ्युदय और निःश्रेयसक यथेष्ठ अधिकार पुराणोंमें प्राप्तव्य हैं। वेदोंके अध्यात्मभाव, अधिदैवभाव, और अधिभूतभाव, वेदोक्तरोचक, भयानक और यथार्थ आज्ञावाचक वर्णन, वेदोक्त त्रिगुण अधिकार और वेदोक्त लौकिक समाधि और परकीय-भाषाविन्यास सब ही पुराणोंमें यथेष्ट मिलते हैं।

अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, भावत्रयके उदाहरण पुराणोंमें देखनेके लिये विष्णु भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, और देवीभागवत इन तीनोंकी रासलीला वर्णनप्रणाली विचार करने योग्य है। त्रिविध-भावप्रणालीका रहस्य बहुत ही चमत्कारपूर्ण है, जिसका तात्पर्य स्मृतिग्रन्थोंसे नीचे लिखा जाता है।

वेदेष्वथ पुराणेषु तन्त्रेऽपि श्रुतिसम्मते।
भयानकं रोचकं हि यथार्थमिति भेदतः॥
वाक्यानि त्रिविधान्याहुस्तद्विदो मद्विभावकः।
श्रूयतां दत्तचित्तैर्हि तत्राऽस्त्येवं व्यवस्थितिः॥

पापाच्चाऽज्ञानसम्भूता - द्विषयाद्व भीतिकृद्वचः ।
भयानकमिति प्राहुर्ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
सुकृते अध्यात्मलक्ष्ये च रुचिकृद्वचनं सुराः ।
रोचकं तद्विद्धि विज्ञेयं श्रुतौ तन्त्रपुराणयोः ॥
अध्यात्मतत्त्वं संश्लिष्टं तत्त्वज्ञानोपदेशकम् ।
वचो यथार्थं सम्प्रोक्तं यूयं जानीत निर्ज्जराः ॥
भयानकं वचोनित्यं तामसायाधिकारिणे ।
रोचकं राजसायैव यथार्थं सात्त्विकाय वै ॥
विशेषतोहितकरं विज्ञेयं विबुधोत्तमाः ।
अतोऽधिकारभेदेन व्याहृतं वचनं सुराः ॥
श्रुतौ पुराणे तन्त्रे च त्रिधा वर्णनरीतयः ।
दृश्यन्ते क्रमशः सर्वास्ता वच्मि भवतां पुरः ॥

वेद, पुराण और श्रुतिसम्मत तन्त्रोंमें भयानक रोचक और यथार्थ इन भेदोंसे तीन प्रकारके वाक्य मेरे भावोंसे भावित तत्त्ववेत्ताओंने कहे हैं। इस विषयमें निम्नलिखित प्रकारसे ही व्यवस्था है सो चित्त लगाकर सुनिये। पापसे और अज्ञानसम्भूत विषयसे डर दिखानेवाले जो वचन हैं, तत्त्वदर्शी ज्ञानीगण उनको भयानक कहते हैं। हे देवगण! पुण्यमें और अध्यात्मलक्ष्यमें रुचि उत्पन्न करनेवाले जो वचन वेद-तन्त्र और पुराणोंमें है उनको रोचक जानना चाहिये। अध्यात्मतत्त्वसे युक्त और तत्त्वज्ञानका उपदेशदेनेवाले वचनोंको हे देवगण! यथार्थ वचन कहते हैं ऐसा आप जानिये।

हे विबुधोत्तमों ! भयानक वचन सदा ही तामसिक अधिकारी-के लिये, रोचकवचन राजसिक अधिकारीके ही लिये और यथार्थ-वचन सात्विक अधिकारीकेलिये ही विशेषरूपसे हितकर हैं, ऐसा जानना चाहिये। इसलिये हे देवतागण ! शास्त्रोंमें अधिकारभेदसे वचन कहे गये हैं। वेद, पुराण और तन्त्रोंमें तीन प्रकारकी वर्णशैलियाँ देखी जाती हैं उन सबोंको आपलोगोंके सामने मैं क्रमशः कहता हूँ।

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकी च तथापरा।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता॥
इतिहासमयी शश्वत्कर्णयोर्मधुरामला।
मनोमुग्धकरी तद्वच्चित्तह्लाद - विवर्द्धनी॥
धर्मसिद्धान्तसंयुक्ता समासबहुला नहि।
ज्ञेया सा परकीयेति शास्त्रवर्णन-पद्धतिः॥
इमामज्ञानिने तद्वत्तामसायाधिकारिणे।
विशेषतो हितकरीं प्राहुस्तत्त्वनिदर्शिनः॥
अतीन्द्रियाध्यात्म-राज्यस्थितं विषयगह्वरम्।
लौकिकीं रीतिमाश्रित्य वर्णयेद्व याऽतिसंस्फुटम्॥
तथा समाधिगम्यानां भावानां प्रतिपादिका।
सा पूर्णा लौकिकैस्तद्वद्रसैर्भाषातिलौकिकी॥
इयं राजसिकायैव साधकायाधिकारिणे।
सूतेऽधिकं सदा भव्यं सत्यं सत्यं दिवौकसः॥
प्रकाशयति या ज्ञानं कार्य्यकारणब्रह्मणोः।
समाधिसिद्धिभावैर्या सम्पूर्णा सर्वतस्तथा॥

तत्त्वज्ञानमयी तद्वद् या हि वर्णनपद्धतिः।
ज्ञेया समाधिभाषा सा सात्त्विकायोपकारिका॥

पहली समाधिभाषा, दूसरी लौकिकभाषा और तीसरी परकीयभाषा, इस प्रकारसे शास्त्रकी भाषा तीन प्रकारकी कही गयी है। जिसमें निरन्तर इतिहास आवें, जो निर्मल और श्रुतिमधुर हो, जो मनको लुभानेवाली और इसीतरह चित्तके आह्लादको बढ़ानेवाली हो, जो धर्मसिद्धान्तोंसे युक्त हो और जिसमें जटिलता न हो उस शास्त्रवर्णनपद्धतिको परकीया जानना चाहिये। इस पद्धतिको तत्त्वदर्शिगण इसको अज्ञानीके लिये और इसी-तरह तामसिक अधिकारीके लिये विशेषहितकारी कहते हैं। अतीन्द्रिय अध्यात्मराज्यमें स्थित गूढ़विषयको लौकिक रीतिका आश्रय लेकर जो अच्छी तरह वर्णन करे तथा समाधिगम्य-भावोंकी प्रतिपादिका हो और इसी तरह लौकिकरसोंसे भी पूर्ण हो वह भाषा लौकिकीभाषा है। हे देवतागण यह भाषा राजसिक अधिकारीवाले ही साधकके लिये सदा अधिक कल्याण पैदा करती है, यह सत्य है। जो भाषा कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्मके ज्ञानको प्रकाशित कर देती है, तथा जो भाषा सर्वत्र समाधिसिद्ध भावोंसे पूर्ण हो और इसी तरह जो वर्णनपद्धति तत्त्वज्ञानमयी हो उसको समाधिभाषा जानना चाहिये, वह सात्त्विक अधिकारीके लिये हितकारी है।

अब लिङ्गपुराणसे समाधिभाषाका उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

अलिङ्गो लिङ्गमूलन्तु अव्यक्तं लिङ्गमुच्यते ।
अलिङ्ग शिव इत्युक्तो लिङ्गं शैवमितिस्मृतम् ॥
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुर्लिङ्गमुत्तमम् ।
गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शादि - वर्जितम् ॥
अगुणं ध्रुवमक्षय्यमलिङ्गं शिवलक्षणम् ।
गन्धवर्णरसैर्युक्तं शब्दस्पर्शादि - लक्षणम् ॥
जगद्योनिं महाभूतं स्थूलं सूक्ष्मं द्विजोत्तमाः ।
विग्रहो जगतां लिङ्गमालिङ्गादभवत् स्मृतम् ॥
सप्तधा चाष्टधा चैव तथैकादशधा पुनः ।
लिङ्गान्यलिङ्गस्य तथा मायया विततानितु ॥

इसी पुराणसे लौकिक भाषाका उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

अथोवाच महादेवः प्रीतोहं सुरसत्तमौ ।
पश्यन्तं मां महादेवं भयं सर्वं विमुच्यताम् ॥
युवां प्रसूतौ गात्राभ्यां मम पूर्वं महाबलौ ।
अयं मे दक्षिणे पार्श्वे ब्रह्मा लोकपितामहः ॥

लिङ्गपुराणसे समाधिभाषा उद्धृत करते हैं। अलिङ्ग लिङ्गका मूल है। लिङ्ग अव्यक्त है, अलिङ्ग शिव है, और लिङ्ग शैव है। प्रधानप्रकृति जो लिङ्ग कही गयी है, वह गन्ध, वर्ण और रसोंसे रहित और शब्द स्पर्शादिसे रहित है। निर्गुण, ध्रुव, क्षयरहित, शिव, लक्षणयुक्त अलिङ्ग है, हे द्विजोत्तम! गन्ध, वर्ण और रस-सहित और शब्दस्पर्श मात्राओंसे युक्त जगद्योनि महाभूतस्थूल

सूक्ष्म कारण और जगत्‌का विग्रह स्वयं लिङ्ग अलिङ्गसे उत्पन्न हुआ है। उसी प्रकारकी लौकिकी भाषा—

महादेवने कहा, कि मैं प्रसन्न हूँ। हे सुरसत्तमौ! मुझ महादेवको देखो और सब भयको छोड़ दो। पहले अपने शरीरसे महाबली तुम दोनोंको उत्पन्न किया। यह मेरे दक्षिणभाग लोकपितामह ब्रह्माजी हैं।

वामे पार्श्वे च मे विष्णुर्विश्वात्मा हृदयोद्भवः।
प्रीतोऽहं युवयोःसम्यग्वरं दद्मि यथेप्सितम्॥
एवमुक्त्वा तु तं विष्णुं कराभ्यां परमेश्वरः।
पस्पर्श सुभगाम्यान्तु कृपया तु कृपानिधिः॥
ततः प्रहृष्टमनसा प्रणिपत्य महेश्वरम्।
प्राह नारायणो नाथं लिङ्गस्थं लिङ्गवर्जितम्॥
यदि प्रीतिः समुत्पन्ना यदि देयो वरश्च नौ।
भक्तिर्भवतु नौ नित्यं त्वयि चाव्यभिचारिणी॥
देवः प्रदत्तवान् देवाः स्वात्मन्यव्यभिचारिणीम्।
ब्रह्मणे विष्णवे चैव श्रद्धां शीतांशुभूषणः॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा पुनर्नारायणः स्वयम्।
प्रणिपत्य च विश्वेशं प्राह मन्दतरं वशी॥
आवयोर्देवदेवेश विवादस्वतिशोभनम्।
इहागतो भवान् यस्माद्विवादशमनाय नौ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा पुनः प्राह हरो हरिम्।
प्रणिपत्य स्थितं मुर्ध्ना कृताञ्जलिपुटं स्वयम्॥

और मेरे वहि ओर विश्वस्वरूप हृदयसे उत्पन्न विष्णुजी हैं। मैं प्रसन्न हूँ, तुम दोनोंको मनोभिष्ट वरदान देता हूँ, ऐसा कहकर कृपानिधि परमेश्वरने अपने दोनों सुन्दर हाथोंसे विष्णु भगवान्को स्पर्श किया। फिर नारायण प्रसन्न मनसे महादेवको प्रणाम करके कहा—लिङ्गमें स्थित लिङ्गसे रहित यदि हमसे प्रीति करते हो, यदि हम दोनोंको वरदान देते हो तो आपमें हम दोनोंकी निरवच्छिन्न अव्यभिचारिणी भक्ति हो। शीतांशुभूषण श्रीशिव भगवान्ने अपनी स्वयं पदों द्वारा पृथिवीमें जाकर विश्वेश्वरको प्रणाम कर मन्द स्वरके लिये आपही आये। फिर उनके वचन सुनकर शिवने स्वयं नतशिर हो हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुये विष्णुसे कहा—

प्रलयस्थितसर्गाणां कर्ता त्वं धरणीपते।
वत्स वत्स हरे विष्णो पालयैतच्चराचरम्॥
त्रिधाभिन्नो ह्ययं विष्णो ब्रह्मविष्णुभवाख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वरः॥
सम्मोहं त्यज भो विष्णो पालयैनं पितामहः।
पद्मे भविष्यति सुतः कल्पे तव पितामहः॥
तदा द्रक्ष्यसि माञ्चैव सोऽपि द्रक्ष्यसि पद्मजः।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत॥
तदाप्रभृति लोकेषु लिङ्गार्चासु प्रतिष्ठिता।
लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षात्महेश्वरः॥
लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः।

यस्तु लैङ्गं पठेन्नित्यमाख्यानं लिङ्गसन्निधौ ॥
स याति शिवतां विप्रो नात्र कार्य्या विचारणा ।

उसी पुराणसे परकीयभाषाका उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

शैलादिरुवाच

एवमुक्तास्तदा तेन ब्रह्मणा ब्राह्मणर्षभाः ।
श्वेतस्य च कथां पुण्यामपृच्छन् परमर्षयः ॥

हे पृथ्वीनाथ ! तुम सृष्टि, प्रलय, स्थितिकरनेवाले हो हे वत्स विष्णु ! इस चराचरजगत्का पालन करो । हे विष्णु ! निश्चय हम तीन प्रकारसे ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर नामसे संसारकी सृष्टि, रक्षा और लय करते हैं। हे विष्णु ! मोहको छोड़कर इस पितामह ब्रह्माका पालन करो पद्मकल्पमें पितामह ब्रह्मा तुम्हारा पुत्र होगा। तब मुझको देखोगे और ब्रह्मा भी देखेगा, ऐसा कहकर वह भगवान् वहाँ ही अन्तर्धान होगये, तबसे संसारमें लिङ्गकी पूजा प्रतिष्ठित हुई।

लिङ्गकी वेदी महादेवी है और लिङ्गसाक्षात् महेश्वर है, उसमें लय होनेसे ही लिङ्ग कहा जाता है। वहाँ सब देवता स्थित हैं। जो विप्र लिङ्गकी कथाको लिङ्गके निकट पाठ करते हैं, वह शिवत्वको प्राप्त होते हैं इसमें कोई विचार नहीं करना। वही परकीय भाषा भी है। शैलादिने कहा। इस तरहसे ब्रह्मने ब्राह्मणोंसे ऐसा कहा, तब ऋषियोने श्वेतकी पुण्यकथाको पूछा।

पितामह उवाच

श्वेतोनाम मुनिः श्रीमान् गतायुर्गिरिगह्वरे।
सक्तोह्यभ्यर्च्ययद्भक्त्या तुष्टाव च महेश्वरम् ॥
रुद्राध्यायेन पुण्येन नमस्तेत्यादिना द्विजाः।
ततः कालो महातेजाः कालप्राप्तं द्विजोत्तमम् ॥
नेतुं सञ्चिन्त्य विप्रेन्द्राः सान्निध्यमकरोत् मुनेः।
श्वेतोऽपि दृष्ट्वा तं कालं कालप्राप्तोपि शङ्करम् ॥
पूजयामास पुण्यात्मा त्र्यम्बकमनुस्मरन्।
त्र्यम्बकं यजेदेवं सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ॥
किं करिष्यति मे मृत्युर्मृत्योर्मृत्युरहं यतः।
तं दृष्ट्वा सस्मितं प्राह श्वेतं लोकभयङ्करम्।
एह्येति श्वेत चानेन विधिना किं फलं तव।
रुद्रो वा भगवान् विष्णुर्ब्रह्मा वा जगदीश्वरः ॥
कः समर्थः परित्रातुं मया ग्रस्तं द्विजोत्तम।
अनेन मम किं विप्र रौद्रेण विधिना प्रभो ॥
नेतुं यस्योत्थितश्चाहं यमलोकं क्षणेन वै।
यस्माद्गतायुस्त्वं तस्मान्मुने नेतुमिहोद्यतः॥

पितामहने कहा—श्रीमान् क्षीणआयु श्वेत नामके मुनिने पर्वतकी कन्दरामें परमेश्वरको पवित्र रुद्राध्यायद्वारा नम इत्यादि मन्त्रसे भक्तियुक्त पूजन कर प्रसन्न किया। मृत्यु हमारा क्या करेगी क्योंकि मैं मृत्युके चक्करसे छूट गया। लोक भयङ्करकालने उस श्वेतको देखकर हँसते हुए कहा—हे श्वेत आवो आवो, इस विधिसे

तुमको क्या फल होगा। हे द्विजोत्तम रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, इन देवताओंमेंसे कोई भी हमसे ग्रस्त जीवकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

हे विप्र! इस रौद्रविधिसे हमको क्या? यमलोक ले जानेके लिये मैं उपस्थित हुआ हूँ। क्योंकि तुम्हारी अवस्था बीत गयी है इसलिये ले जानेको मैं तैयार हूँ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भैरवं धर्ममिश्रितम्।
हा रुद्र! रुद्र! रुद्रेति ललाप मुनिपुङ्गवः॥
तं प्राह च महादेवं कालं सम्प्रेक्ष्य वैदृशा।
नेत्रेण वाष्पमिश्रेण सम्भ्रान्तेन समाकुलः॥

श्वेतउवाच

त्वया किं कालतो नाथश्चास्ति चेद्धि वृषध्वजः।
लिङ्गेऽस्मिन् शङ्करो रुद्रः सर्वं देवभवोद्भवः॥
अतीव भवभक्तानां मद्विधानां महात्मनाम्।
विधिना किं महावाहो गच्छ गच्छ यथागतम्॥
ततो निशम्य कुपितस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भयङ्करः।
श्रुत्वा श्वेतस्य तद्वाक्यं पाशहस्तो भयावहः॥
सिंहनादं महत्कृत्वा चास्फाल च मुहुर्मुहुः।
ववन्ध च मुनिं कालः कालप्राप्तं तमाह च॥
मया वद्धोसि विप्रर्षे श्वेतं नेतुं यमालयम्।
अद्यवै देवदेवेन तव रुद्रेण किं कृतम्॥

क्व शर्वस्तव भक्तिश्च क्व पूजा पूजया फलम् ।
क्व चाहं क्व च मे भीतिः श्वेत बद्धोसि वैमया ॥

उसके धर्मयुक्त भयङ्कर वचनको सुनकर हा रुद्र! हा रुद्र! ऐसा कहकर विलाप करने लगा। श्वेतमुनि कालको देखकर नेत्रोंमें जल भरकर घबड़ाकर महादेवको कहा। श्वेतने कहा—हे काल तुमसे क्या हो सकता है, निश्चय यह वृषध्वज शिव हमारे नाथ हैं, इस लिङ्गमें शङ्कर रुद्र जिनसे सब देवता उत्पन्न हुये हैं, विद्यमान हैं। मेरे सदृश महात्माओं भक्तोंसे ऐसी विधि करनेसे क्या प्रयोजन। इसलिये हे महावाहो! जैसे आये हो वैसे ही जाओ। फिर तीक्ष्ण और भयङ्कर दाँतवाले काल उसके वचनको सुनकर क्रोधित हुआ और भयङ्कर पाश हाथमें लिये हुए कालने उस श्वेतकी बातको सुनकर बार बार घोर सिंहनादकी ध्वनि की तदनन्तर कालने कालप्राप्त उसमुनिको बाँधकर कहा—हे विप्रश्वेत! तुमको यमालयमें ले जानेके लिये मैंने बाँध लिया, आज तुम्हारे देवताओंके देवता शिवजीने क्या किया। कहाँ तुम्हारे शिव, कहाँ तुम्हारी भक्ति, कहाँ तुम्हारी पूजा, कहाँ तुम्हारी पूजाका फल, कहाँ मैं, कहाँ मेरा भय, हे श्वेत मैंने तुम्हें बाँधा है।

लिङ्गेऽस्मिन् संस्थितः श्वेत तव रुद्रो महेश्वरः ।
निश्चेष्टोऽसौ महादेवः कथं पूज्यो महेश्वरः ॥
ततः सदा शिवः स्वयं द्विजं निहन्तुमागमम् ।
निहन्तुमन्तकं स्मयन् स्मरारिर्यज्ञहा हरः ॥
त्वरन् विनिर्गतः परः शिवः स्वयं त्रिलोचनः ।
त्र्यम्बकोऽम्बया समं स नन्दिना गणेश्वरैः ॥

ससर्ज जीवितं क्षणात् भवं निरीक्ष्य वैभयात्।
पपात चाशु वै बली मुनेस्तु सन्निधौ द्विजाः॥
ननाद चोर्ध्वमुच्चधीर्निरीक्ष्य चान्तकान्तकम्।
निरीक्षणेन वैमृतं भवस्य विप्रपुङ्गवाः॥
विनेदुरुच्चमीश्वराः सुरेश्वरा महेश्वरम्।
प्रणेमुरम्बिकामुमां मुनीश्वरास्तु हर्षिताः॥
ससर्ज्जुरस्य मूर्ध्नि वै मुनेर्भवस्य खेचराः।
सुशोभनं सुशीतलं सुपुण्यवर्ष-मम्बरात्॥
अहो! निरीक्ष्य चान्तकं मृतं तदाशु विस्मितः।
शिलाशवात्मजाऽव्ययं शिवं प्रणम्य शङ्करम्॥

हे श्वेत! तुम्हारे महेश्वर रुद्र इस लिङ्गमें स्थित हैं, यह तुम्हारे शिव चेष्टारहित हैं। इसलिये तुमने इनकी पूजा क्यों की। इसके बाद सदाशिव स्वयं द्विजके मारनेके लिये आये तब कालनाशक शिव उमासहित और प्रमथनन्दीके साथ कालको नाश करनेके लिये हँसते हुए शीघ्रताके साथ त्रिलोचन रूपसे उत्पन्न हुये। हे द्विजोत्तम! श्रीभगवान्को देखकर बली कालभयसे उसीसमय प्राणोंको त्यागकर मुनिके समीप शीघ्र ही गिर गया। हे विप्रपुङ्गव! भगवान् शिवके देखते ही कालको मृत्यु प्राप्त हुआ देखकर देवता उच्चस्वरसे महेश्वरकी स्तुति करने लगे। मुनिगण प्रसन्नचित्त हो शिव-पार्वतीको प्रणाम किया और खेचरगण भी मुनिके शिवके मस्तकपर सुन्दर सुगन्धित कोमल फूल आकाशसे वर्षाये। वहाँ कालको मरा देखकर विस्मित हो अव्यय शिवको प्रणाम किया।

उवाच बालधी मृतः प्रसीद चेति वैमुनेः।
महेश्वरं महेश्वरस्य चानुगो गणेश्वरः॥
ततो विप्रेण भगवान् अनुगृह्य द्विजोत्तमम्।
क्षणाद् गूढ़शरीरं हि ध्वस्तं दृष्ट्वान्तकं क्षणात्॥
तस्मान्मृत्युञ्जयञ्चैव सर्वेषामपि शङ्करम्।
बहुना किं प्रलापेन संन्यस्याभ्यर्च्य वै भवम्॥
भक्त्या चापरया तस्मिन् विशोका वै भविष्यथ।

एवं तन्त्रेष्वपि भाषात्रैविध्यं सम्यगृतया प्रतीयते यथा वेदकाण्डत्रयं त्रिधा विभक्तं पुराणजातम्, तत्र परं महाभारतादिकं, उपासनापरं शिवपुराणं, विष्णुपुराणं, देवीभागवतादिकं, ज्ञानपरं योगवाशिष्ठादिकमिति। अत्र अयं निष्कर्षो यत् स्मृतयः पुराणानि तन्त्रादीन्यपि शास्त्राणि, वेदतात्पर्य्यप्रकाशकत्वेन वेद-संमतानि वेदवत्सर्वथोपादेयानि च। वेदसम्मतेषु शास्त्रेषु एतेषु गुणत्रय-भेदतो निर्णीतः साधनाधिकारो व्यवस्थापितानि चात्र त्रिविधबुद्धिता स्त्रिविधान्यनुशासनानि।

गणेशने महेश्वरको प्रणाम करके कहा कि मुनिपर कृपा करो। तब भगवान् शिवने उस गूढ़शरीर महाकालको क्षणमें मरा देखकर उस ब्राह्मणपर अनुग्रह किया। इसकारण मृत्युञ्जय ही सबका कल्याणकारी है। बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, विधिपूर्वक शिवका भक्तियुक्त पूजन करनेसे शोकरहित हो जाओगे, इसीप्रकार तन्त्रोंमें भी तीन प्रकारकी भाषा पूरे तौर पर जानी जाती है। जैसे वेद-काण्ड तीन भागोंमें विभक्त होकर पुराण हुआ उसमें महाभारतादि

कर्मप्रधान, शिवपुराण, विष्णुपुराण, देवीभागवतादिक उपासना-प्रधान, योगवाशिष्ठादिक ज्ञानप्रधान हैं। यहाँपर यह तात्पर्य है, कि स्मृति, पुराण, तन्त्रादिकशास्त्र वेदके अर्थप्रकाश करनेसे एवं वेद-विहित होनेसे वेदसदृशग्रहण करना चाहिये। वेदसम्मतशास्त्रोंमें गुणत्रयभेदसे उनका साधनाधिकार निर्णय किया गया और सात्त्विकादि तीन प्रकारके बुद्धिके भेदसे तीन प्रकारके अनुशासनकी व्यवस्था की गयी।

आध्यात्माधिदैवभूतभावत्रयद्योतनायैवैषु विद्यते यथानयं प्रयत्नः। शास्त्राणीमानि त्रिविधाभिः समाधिलौकिकपरकीयभाषाभिस्तोषयितुं शक्नुवन्ति सर्वविधानधिकारिणः। वेदार्थद्योतकान्यपि शास्त्राणि भवन्ति वेदसम्मतानि वेदवदुपादेयानि चेति।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक भावप्रकाश करनेके लिये ही इनमें यथानियम प्रयत्न किया गया है। यह शास्त्र—समाधि, लौकिक, परकीय, इन तीनों भाषाओंके द्वारा सबप्रकारके अधि-कारियोंको सन्तुष्ट कर सकते हैं। वेदार्थ-प्रकाशक और वेदसम्मत जो शास्त्र हैं, उनको वेदकी तरह मानना चाहिये।

जैसे वेदोंके काण्डत्रयके अनुसार पुराणोंकी श्रेणी भी काण्डत्रयमें विभक्त है—यथा कर्म्मप्रधान महाभारतादिक, उपासनाप्रधान विष्णुपुराण, शिवपुराण, देवी भगवतादिक और ज्ञानप्रधान योग वासिष्ठादि समझने योग्य हैं। पूर्वकथित सब विचारोंका तात्पर्य यह है, कि स्मृति वेदाङ्ग वैदिकदर्शन, तन्त्र और पुराण ये सब शास्त्र वेदविज्ञान प्रकाशक

वेदाज्ञाविस्तारक और वैदिकरहस्य निर्णायक होनेसे अवश्य ही वेदसम्मत हैं और प्रामाण्य हैं।

मनुष्योंकी बुद्धि त्रिविध होती है—यथा सात्विक, राजसिक और तामसिक। इसीकारण योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन, ये तीनों अनुशासन इन शास्त्रोंमें हैं, और भावत्रयद्योतक होकर सब प्रकारके अधिकारियोंको समानरूपसे उपकारी होनेसे भी ये सब शास्त्र सर्वहितकारी और सर्वमान्य हैं।

इस सूत्रमें आदिशब्दसे यही तात्पर्य है, कि वेदके सदृश अन्य सब वेदसम्मतशास्त्र समझना उचित है ॥६॥

पूर्वविज्ञानकी दृढ़ता की जाती है :—

ऋषि और देवताओंके सम्बन्धसे प्राप्त होनेके कारण भी ॥७॥

पूर्व सूत्रोक्त वेदसम्मत शास्त्रसमूह प्रामाण्य हैं, इसका एक दूसरा, प्रधान कारण यह भी है कि वे सब शास्त्र नित्यऋषि अथवा नित्यदेवता-की सहायतासे प्राप्त होते हैं। पूर्वसूत्रमें स्मृतिशास्त्र, वेदाङ्गशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और पुराणशास्त्र, ये पाँचों शास्त्र अथवा इन शास्त्रोंके अन्तर्गत होनेके सदृश अन्यान्य वेदसम्मत-शास्त्रसमूह वेदार्थ द्योतक होनेसे प्रामाण्य हैं, ऐसा सिद्ध हो चुका। इन शास्त्रोंके प्रामाण्यकी एकदूसरी युक्ति दी जाती है। मृत्युलोकके क्षणभङ्गुर होनेके कारण नानाप्रकारकी अक्षरमयी पुस्तकें जो इन शास्त्रोंसे सम्बन्ध नहीं

ऋषिदेवसम्बन्धित्वाच्च ॥७॥

रखती हैं, वे सब अक्षरमयी पुस्तकें तथा नानापिण्डमयी पुस्तकें जो आसुरी आदि भावोंसे पूर्ण हों, ऐसी पुस्तकें प्रामाण्य नहीं हो सकती हैं। क्योंकि वे सब लौकिक एवं आसुरीभावसे पूर्ण हैं। परन्तु वेद जो नादमयी पुस्तक है, उसके अतिरिक्त ब्रह्माण्डमयी पुस्तकें, विन्दुमयी पुस्तकें और ऐसी पिण्डमयी पुस्तकें जो दैवी-राज्यसे सम्बन्ध रखती हैं, वे सब पुस्तकें ऋषि और देवताप्रेरित होनेसे नादमयी पुस्तक वेदके तुल्य ही माननीय हैं। स्मृतिशास्त्र, वेदाङ्गशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और पुराणशास्त्र ये सब शास्त्र ही ऋषि और देवताप्रेरित हैं और इसप्रकार ऋषि और देवताप्रेरितहोनेसे वे वेदके तुल्यप्रमाण अवश्य ही होंगे इसमें सन्देह ही नहीं।

यह पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि, स्मृतिशास्त्र ऋषियोंके अथवा उनके अवतारोंके द्वारा ही प्रणीत हैं। वैदिक सातों दर्शनशास्त्र भी ऋषिप्रेरित हैं। तन्त्रशास्त्रोंके दैवीकथनोपकथनका अंश तथा पुराणोंके गीताशास्त्र ये सब साक्षात् त्रिदेवमेंसे किसी न किसीके द्वारा प्रेरित हैं। तन्त्रोंका बहुत-सा अंश ऋषिप्रेरित भी हैं। गीता आदि अंश देवप्रेरित हैं। पुराणशास्त्रमें तो सभी अंश ऋषिप्रेरित हैं और गीतादि अंश देवप्रेरित हैं, और बहुत-सा अंश साक्षात् स्मृति ही है। इसकारण ये सब शास्त्र वेदके तुल्य प्रामाण्य हैं। प्रामाण्य, वे ही शब्द हो सकते हैं जो भ्रम-रहित हों। आप्तप्रमाण भ्रम-रहित शब्दोंका ही हुआ करता है।

सुतरां त्रिकालदर्शी सब प्रकारसे आप्तज्ञानाधार नित्य ऋषिगण तथा त्रिमूर्ति स्वरूपी सगुण ब्रह्मसे साक्षात् सम्बन्ध होनेसे ये सब शास्त्र अवश्य प्रामाण्य हैं ॥७॥

स्थितिके प्रसङ्गसे आधिभौतिक जगतका अधिदैवनिर्णय किया जाता है :—

आधिभौतिक जगत्के अधिदैव पितृगण हैं ॥८॥

स्थिति पादमें पूज्यपाद महर्षिने जगत्की स्थितिके सम्बन्धसे परमङ्गलकर वेद और शास्त्र सम्बन्धीय मीमांसाके अनन्तर त्रिविध सृष्टिकी रक्षाके हेतुभूत यथाक्रम प्रत्येकका अधिदैव निर्णय कर रहे हैं और सबसे पहले स्थूल आधिभौतिक सृष्टिकी सुरक्षाके विचारसे आधिभौतिक सृष्टिके अधिदैवपितृगणोंके अस्तित्वकी मीमांसा कर रहे हैं। सृष्टि जड़मयी है, जिसप्रकार जड़ वस्तुमात्र ही बिना चेतनकी सहायतासे कार्यकारी नहीं हो सकता, ठीक उसी सिद्धान्तके अनुसार यह मानना पड़ेगा कि सृष्टिप्रपञ्चका आधिभौतिक अंश जिनके द्वारा चालित और सुरक्षित होता है उनको पितृ कहते हैं। देवता तीन प्रकारके होते हैं, इनमेंसे पितृगण भी एक प्रकारके देवता हैं और वे ही आधिभौतिक जगत्के अधिदैव हैं।

जिसप्रकार आदिसृष्टिमें देवतागण उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार आदिसृष्टिमें नित्य पितृगण उत्पन्न होते हैं। रुद्र, आदित्य आदि नित्य देवताओंके पदके समान अर्य्यमा-आदि नित्य-पितरोंका

पितृदैवतमाधिभौतिकम् ॥८॥

पद समझना उचित है। पितरों आदिकी उत्पत्तिके विषयमें इस प्रकारके अनेक वर्णन हैं—

सप्तधा सप्तलोकेषु आदिमन्वन्तरक्रिया।
अन्येषां वसवः साध्या रुद्रादित्याश्विनाविति॥
अग्रतः सर्ववर्णानां साधारण्येन संस्थिताः।
ब्रह्मर्षयश्च तदुत्पन्ना इति सप्तविधा गणाः॥
मुक्तचेतनका ब्रह्मन्! न दृश्यन्ते पितृष्वपि।
विशेषशास्त्रदृष्ट्या तु पुराणानाञ्च दर्शनात्॥

आदि मन्वन्तरमें जो सप्तपितर उत्पन्न होते हैं, वे उपरके सातों लोकोंमें रहते हैं। सब वर्णोंकी सृष्टिसे पहले पितरोंकी सृष्टि हुई थी। हे ब्रह्मन्! शास्त्र और पुराणोंके द्वारा ज्ञात होता है, कि जो आत्मा मुक्त हो जाते हैं, वे पितृलोकमें नहीं जाते हैं।

पितरोंकी श्रेणी और पितरोंकी ऊर्ध्वगतिके विषयमें स्मृतिमें ऐसा वर्णन है—

अमूर्तयः पितृगणास्ते वै पुत्राः प्रजापतिः।
विराजस्य प्रजाः श्रेष्ठास्ते वैराजा इतिस्मृताः॥
देवानां पितरस्ते हि तान् यजन्तीह देवताः।
एते वै लोकविभ्रष्टा लोकान् प्राप्य सनातनान्॥
पुनर्युग - शतान्तेषु जायन्ते ब्रह्मवादिनः।
ते प्राप्य तां स्मृतिं भूयः सिद्धियोगमनुत्तमम्॥
चिन्त्ययोगगतिं शुद्धां पुनरावृत्तिदुर्लभाः।
एतेऽस्मिन् पितरः श्राद्धे योगिनां योगवर्द्धनाः॥

आप्यायितास्तु ते पूर्वं येऽपि योगबलेरताः।
तस्मात् श्राद्धानि देयानि योगिनां योगसत्तमैः॥

अर्थात्—जो अमूर्तिमान् पितृगण हैं, वे प्रजापतिपुत्र हैं और जो विराजसे उत्पन्न हैं वे वैराजपितृगण कहलाते हैं। ये देवताओंके पितृगण हैं, अतः इनको देवता पूजते हैं। फिर ये सनातन, अविनाशी, लोकको प्राप्तकर एक सौ युगके पश्चात् ब्रह्मवादी हो जाते हैं। और पुनः वे उत्तम सिद्धयोगको पाकर शुद्धयोगगतिको स्मरण करते हुए आवागमनचक्रसे रहित हो जाते हैं। ये श्राद्धमें योगियोंके योगको बढ़ानेवाले हैं और जो योगाभ्यासमें रत हैं उनकी वृद्धि करते हैं। इसलिये उत्तम योगियोंको श्राद्ध करना चाहिये।

एष वै प्रथमः सर्गः सोमपा नाम उत्तमः।
एते त एकतनवो वर्तन्ते द्विजसत्तमाः॥
भूर्लोकवासिनो याज्या भुवर्लोकनिवासिनः।
स्वर्गलोका मरीच्याद्यास्तेषां याज्या महर्गताः॥
कल्पवासिकसंज्ञानां तेषामपि जने स्थिताः।
तेषां सत्यगता प्रोक्ता इत्येषा पितृसन्ततिः॥

यह सोमपा पितृगणोंकी उत्तमसृष्टि कही गयी है। हे द्विजश्रेष्ठ! पितृगण एक शरीरमें सदा विद्यमान रहते हैं।

भूर्लोकनिवासी पितृगणोंके एवं भुवर्लोकनिवासियोंके स्वर्लोकनिवासी पूज्य हैं। स्वर्लोकनिवासियोंके महर्लोकनिवासी पूज्य हैं। कल्पवासिसंज्ञक उन महर्लोकनिवासियोंके जनलोकनिवासी पूज्य हैं। जनलोकनिवासियोंके सनकादि वैराजतपोलोकवासी पूज्य

हैं और उनके सत्यलोकनिवासी पितृगण हैं। इसप्रकार पितरोंकी परम्परा है। वेदमें भी—

"नमो वः पितरो रसाय नमोवः पितरः शोषाय, नमोवः पितरो जीवाय नमो वः स्वधायै" इत्यादिरूपसे पितरोंकी स्तुति की गयी है। पितरोंकी संख्या देवता और ऋषियोंकी संख्याके समान स्मृतियोंमें कहे गये हैं, उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

ततो निगृह्येन्द्रियकं विकारं चतुराननः।
जिघृक्षुरपि तत्याज तां सन्ध्यां कामरूपिणीम्॥
तत् शरीरात्तु घर्म्माम्भो यत् पपात द्विजोत्तमाः।
अग्निष्वात्ता वर्हिषदो जाताः पितृगणास्ततः॥
भिन्नाञ्जननिभाः सर्वे फुल्लराजीवलोचनाः।
नितान्तसंयताः पुण्याः संसारविमुखाः परे॥
सहस्राणां तु चतुःषष्ठिरग्निष्वाता प्रकीर्तिताः।
षडशीतिसहस्राणि तथा वर्हिषदो द्विजाः॥

इन वचनोंका तात्पर्य यह है, कि—हे द्विजोत्तमाः! तब ब्रह्माने ग्रहण करनेकी इच्छा होनेपर भी इन्द्रियजनितविकार—(कामासक्ति) को रोककर कामस्वरूपा उस सन्ध्याका परित्याग किया। और उनके शरीरसे जो घर्मजल—पसीनेका विन्दु, गिरा उससे मर्दित कज्जलके समान, खिले हुए कमलके समान नेत्रवाले अत्यन्त संयमी, उत्कृष्ट और संसारसे विरक्त चौसठ हजार अग्निष्वात और छयासी हजार वर्हिषद पितृगण उत्पन्न हुए।

आधिभौतिक सम्बन्ध सब लोकोंमें है, इसकारण उर्द्ध्वसप्तलोकोंमें ही नित्यपितरोंका वासस्थान है परन्तु मृत्युलोकके आधिभौतिक रक्षक नित्यपितृगण पितृलोक जो कि इस भूलोकका एक चतुर्थांश और साक्षात् सुखप्रद लोक हैं उसमें रहते हैं और उसी पितृलोकमें मृत्युलोकके मृतात्मा मृत्युके अनन्तर प्रायः नैमित्तिक पितर होकर थोड़े दिनके लिए जाते हैं।

जो मृत्युलोकसे साक्षात् सम्बन्धरखनेवाले पितृगण हैं, उनके कार्य्यके विषयमें श्रीभगवान्ने निजमुखसे इस प्रकारसे कहा है—

नूनमभ्युदये तेषां भवेद्‌ बाधाऽप्यनेकधा।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिर्विश्वभूतिदाः! ॥
नृदेहं जीववृन्देभ्यो दद्ध्वे यूयं यदा तदा।
पित्रोर्नूनं शरीरेण वीर्य्यांशं पितरोऽधिकम्॥
नारीदेहं यदा दत्थ तदांशं रजसोऽधिकम्।
क्लीवदेहप्रदित्सायामुभयोः समतां किल॥
दापयध्वे न सन्देहः सत्यमेतद्‌ ब्रवीमि वः।
पितरो वोऽनुकम्पातो लोके पुत्रादिसम्भवः॥
विकाशमपि देहेषु सत्वादेः कुरुथ स्वतः।
तात्कालिकमनोवृत्तेः पित्रोः साहाय्यतो ध्रुवम्॥

हे पितृगण! जब पुरुषशरीर जीवोंको आप प्रदान करते हो, तब वीर्य्यका अंश अधिक, जब स्त्रीशरीर प्रदान करते हो तब रजका अंश अधिक और जब नपुंसकशरीर प्रदान करते हो, तब उभयकी समानता आप दिलाते हो, इसमें सन्देह नहीं, यह

आप लोगोंको मैं सत्य कहता हूँ, और शरीरोंमें सत्व आदि गुणोंका विकाश भी आपलोग माता-पिताकी उससमयकी मनोवृत्ति-की सहायतासे ही स्वतः किया करते हो।

परिणामाच्च तापाच्च संस्काराच्च समुद्भवैः।
दुःखैः सुदुःसहैः क्लेशमाप्नुवन्ति निरन्तरम् ॥
मृत्युलोके ततो जन्म गृह्णते च यदा तदा।
यूयं यद्यपि तेभ्योवै स्वस्वकर्मानुसारतः ॥
उपयुक्तं प्रयच्छेत भोगायतनरूपकम्।
पित्रोः स्थूलं रजोवीर्य्यसाहाय्याद्धपुरद्भुतम् ॥
परिश्रमेण महता पाञ्चभौतिकमण्डलात्।
तत्त्वानि किल सञ्चित्य तद्भोग्यान् पितरोऽनिशम् ॥
मातृगर्भेषु निर्माय स्थूलदेहान्न संशयः।
लभन्ते मातृगर्भेषु दुःखान्येव तथापि ते ॥

तदनन्तर जब वे मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं तब यद्यपि आपलोग उनके अपने अपने कर्मानुसार ही उनके उपयुक्त भोगायतनरूपी अद्भुत स्थूलशरीर उनके माता-पिताके रजोवीर्य्यकी सहायतासे प्रदान करते हो और हे पितृगण! बड़े परिश्रमसे आप पञ्चभूत-मण्डलसे निरन्तर तत्त्वोंको एकत्रित करके ही मातृगर्भमें उनके भोग्यके योग्य स्थूलशरीरोंको निःसन्देह बना देते हो तौ भी मातृगर्भमें दुःखोंको ही पाते हैं।

आतिवाहिकदेहस्य संत्यागादेव तत्क्षणम्।
दुर्वलाः क्लेशितास्ते च मूर्च्छामादौ व्रजन्त्यलम् ॥

आवागमनचक्रस्य परिधावत्र भूतिदाः।
भवन्तो जीववर्गार्थं स्थूलं देहं नयन्त्यलम् ॥
साहाय्यात् पञ्चतत्त्वानां नात्र कश्चन संशयः।
सूक्ष्मदेहान्विताञ्जीवांस्तत्र देवा नयन्ति च ॥

उससमय उनके आतिवाहिक देहके त्यागसे ही वे दुर्बल और क्लेशित होकर प्रथम पूर्ण मूर्छित हो जाते हैं।

हे पितृगण! आवागमनचक्रकी इस परिधिमें आपलोग जीवोंके लिये पञ्चतत्त्वमण्डलकी सहायतासे स्थूलदेह अच्छी तरह पहुँचाते हो इसमें कोई सन्देह नहीं है, और देवतागण सूक्ष्मदेह-विशिष्ट जीवोंको वहाँ पहुँचा देते हैं।

पिण्डानां मानवीयानां मुख्यत्वे पितरो ध्रुवम्।
भवन्तो हेतवस्सन्ति प्रधाना नात्र संशयः॥
महत्त्वद्योतकं नूनमेतदेवास्ति वो यतः।
अतोऽदः स्मरणादेव मनुष्याणां क्रमोन्नतौ ॥
सहेतुं रक्षितुं सृष्टेः सामञ्जस्यं तथा क्षमाः।
यूयमेवात्र कर्तव्ये धन्या भवितुमर्हथ ॥

मानवपिण्डोंके प्राधान्यके विषयमें हे पितृगण! आपलोग ही प्रधान कारण हैं इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि यही आपलोगोंका निश्चय महत्त्वसूचक है। इसकारण इसको स्मरण रखनेहीसे आपलोग मनुष्योंकी क्रमोन्नतिमें और सहेतुकसृष्टि सामञ्जस्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हुए इस कर्त्तव्यमें धन्य हो सकते हैं।

प्रकृत्याऽलौकिकी दैवी शक्तिस्तत्र विराजते।
नैवात्र विस्मयः कश्चित्संशयो वा विधीयताम् ॥
भवद्भिशिष्टसाहाय्याल्लब्धानां किन्तु भूतिदाः।
पिण्डानां मानवीयानां वैलक्षण्यं किमप्यहो ॥

क्योंकि उनमें लोकातीत दैवीशक्तिका विकाश स्वाभाविकरूपसे विद्यमान रहता है, इस विषयमें कोई विस्मय अथवा संशय नहीं ही करें। परन्तु हे पितृगण ! आपलोगोंकी विशेष सहायतासे प्राप्त जो मानवपिण्ड है अहो ! उनकी विचित्रता कुछ और ही है ॥८॥

तदनन्तर आधिदैविक जगत्का अधिदैव निर्णय किया जाता है—

आधिदैविक जगत्के अधिदैव देवतागण हैं ॥९॥

जिसप्रकार स्थूल प्रपञ्चमय जगत्को आधिभौतिक जगत् कहते हैं, उसीप्रकार सूक्ष्म कर्ममय जगत्को आधिदैविक जगत् कहते हैं। कर्म्मराज्यके नियन्ता आधिदैविक जगत्के रक्षक और चालक जो अधिदैव हैं वे देवता कहाते हैं। दैवीजगत् चतुर्दशभुवनोंमें विभक्त हैं। उनमेंसे उर्द्ध्व सप्तभूर्भूव आदि सब लोकोंमें देवताओंका आवास और अतल वितल आदि अधः अधः सप्तलोकोंमें असुरोंका आवास है। ये सब ही सूक्ष्म दैवलोक कहाते हैं, असुर भी एकप्रकारके देवता हैं, केवल भेद इतना है कि, सत्वप्रधान कर्मके चालक देवता और तमःप्रधान कर्मके चालक असुरगण हैं।

जबतक असुरगण और देवतागण अपने अधिकारोंके अनुसार यथायोग्य कर्तव्यकर्ममें प्रवृत्त रहते हैं तबतक सृष्टिकी

देवदैवतमाधिदैविकम् ॥९॥

सामञ्जस्यरक्षा होती है। जब असुरगण बलदर्पसे दर्पित होकर ऊर्द्ध्वसप्तलोकमें अधिकार जमानेकी इच्छा करते हैं, तब देवासुर-संग्राम होता है और सृष्टिप्रपञ्चमें विप्लव होने लगता है। देवताओं तथा सूक्ष्म देवलोकोंके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें श्रीशम्भुभगवान्ने निजमुखसे कहा है कि—

वसन्ति देवाः पितरः उर्द्ध्वलोकेषु सप्तसु।
संतिष्ठन्तेऽसुराः सर्वे ह्यधोलोकेषु सप्तसु॥
तमोमुख्यतया सृष्टेरसुराणां हि सप्तमे।
लोकेऽस्त्यसुरराजस्य राजधानीत्वधस्तने॥
दैव्याः सत्त्वप्रधानत्वात् सृष्टेः राजानुशासनम्।
उच्चैर्देवेषु लोकेषु नैवावश्यकमस्त्यहो॥
अस्त्यतो देवराजस्य राजधानी तृतीयके।
उर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं नात्र कार्य्या विचारणा॥
विशेषतोऽसुराः सर्वे सदा प्रावल्यसञ्जुषः।
कुर्वाणा विप्लवं दैवे राज्ये सृष्टेः प्रवाधितुम्॥
सामञ्जस्यं विचेष्टन्ते नितान्तं सततं वहु।
अतोऽपि देवराजस्य राजधानी तृतीयके॥
उर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं विद्यते पितरो ध्रुवम्।
उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु प्रवेशोऽप्यस्त्यसम्भवः॥

हे पितृगण! ऊर्द्ध्वसप्तलोकोंमें देवताओंका वास है और अधः सप्तलोकोंमें असुरोंका वास है। असुरगणकी सृष्टि तमःप्रधान होनेसे असुरराजकी राजधानी सप्तम अधोलोकमें स्थित है परन्तु दैवी-

सृष्टिसत्त्वप्रधान होनेके कारण और उन्नत दैवलोकोंमें राजानुशासनकी आवश्यकता न रहनेसे देवराजकी राजधानी तृतीय ऊर्द्ध्व लोकमें स्थित है, इसमें कोई विचारकी बात नहीं है। विशेषतः हे पितृगण! असुरगण सदा प्रबलता लाभ करके दैवीराज्यमें विप्लव करके सृष्टिसामञ्जस्यमें बाधा डालनेमें सचेष्ट रहते हैं, इसकारणसे भी देवराजकी राजधानी सदा तृतीय ऊर्द्ध्वलोकमें ही स्थित रहती है।

असुराणामतोप्येषु देवराजानुशासनम्।
नावश्यकत्वमाप्नोति विशेषेण कदाचन॥
विभिन्नोपासकेभ्यो हि स्वरूपं सगुणं धरन्।
सालोक्यञ्चैव सामीप्यं सारूप्यं पितरस्तथा॥
दातुं मोक्षञ्च सायुज्यं नानारूपैर्हि सप्तमे।
ऊर्द्ध्वलोके तथा षष्ठे विराजेऽहमनुक्षणम्॥
उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु सात्त्विकेषु स्वधाभुजः।
राजानुशासनस्यातः का वार्ता वर्त्तते खलु॥
शब्दानुशासनस्यापि नास्ति तेषु प्रयोजनम्।

हे पितृगण! उन्नत ऊर्द्ध्वलोकोंमें असुरोंका प्रवेश भी सम्भव नहीं है, इसकारणसे भी वहाँ देवराजके राजानुशासनकी विशेष-आवश्यकता नहीं रहती है। हे पितृगण! मैं सगुणरूपको धारण करके विभिन्न उपासकोंको सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्रदानकेलिये नानारूपसे षष्ठ और सप्तम ऊर्द्ध्वलोकमें सदा विराजमान रहता हूँ। इसकारण उन उन्नतलोक समूहमें राजानुशासनकी तो बात ही क्या है शब्दानुशासनका भी वहाँ प्रयोजन नहीं है।

जिसप्रकार पितृनामक देवतागण स्थूलशरीर और स्थूल-प्रपञ्चके व्यवस्थापक और चालक हैं, उसीप्रकार देवता और असुरगण सूक्ष्मप्रपञ्चरूपी वृत्तिजगत् और कर्मजगत्के व्यवस्थापक और चालक हैं। उनमेंसे जीवकी क्रमोन्नति और यदि यह शङ्का हो कि देव, असुर, पितृ और ऋषिकी सृष्टि क्या मनुष्यसृष्टिसे कुछ विलक्षण या स्वतन्त्र है, उद्भिज्जआदि योनियोंसे आगे बढ़कर जीव जैसे मनुष्ययोनिमें जाता है, ऊपरलिखित दैवीसृष्टि इस क्रमसे क्या कुछ विलक्षणता रखती है? इसप्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें कहा जाता है कि, मनुष्ययोनि ही सब उच्चगतिका केन्द्र है। मनुष्ययोनिसे ही देशकर्मके वशीभूत होकर जीव, असुर, देवता, पितृ और ऋषिपदोंको प्राप्त करता है यही कारण है, कि मनुष्ययोनिसे बलीराजा असुर हुए थे और पुनः वे देवता होंगे, एवं यश ही के द्वारा इन्द्रत्वकी प्राप्ति किये। यथा—

एष मे प्रापितं स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरण्डरस्यास्य भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥
हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियञ्च॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवा प्राप पुण्यम्।
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यं स्वयमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥

अर्थात्—मनके प्रिय सुखोंको त्यागकर सत्य, धर्म, दम, तितिक्षा और समताके आश्रयसे मनुष्य-शरीरसे इन्द्रको इन्द्रत्व प्राप्त हुआ

था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय और दमके द्वारा इन्द्रने त्रिलोकका राज्य प्राप्त किया था, और भी नारायणोपनिषद्में—

यज्ञेन हि देवाः दिवं गताः।
यस्ते नूनं शतक्रताविन्द्र द्युम्नितमोमदः॥ (सामवेद)

अर्थात्—यज्ञसे ही देवताओंको देवत्व मिलता है सौयज्ञसे ही इन्द्रत्वकी प्राप्ति इन्द्रको हुई है। पुनः नहुषके इन्द्रत्वके विषयमें महाभारतमें लिखा है—

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमहं प्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहङ्कारं समाविशत्।
सर्पान् वाहयामास वरदानमदान्वितः॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः।
तस्मिन् शिरस्यभिहिते स जटान्तर्गतोभृगुः॥
शशाप वलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्।
यस्मात् मदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम्॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते।
इत्युक्त स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपातह॥

अर्थात्—राजर्षि नहुषने पुण्यकर्मसे इन्द्रत्वको प्राप्त किया था। इन्द्र होनेके बाद उनको इन्द्रत्वका अत्यन्त अहङ्कार हो गया था, और उन्होंने ऋषियोंके द्वारा अपनी पालकी वाहन करा दिया था, एक बार अगस्त्य मुनि शिविका वहन कर रहे थे, इतनेमें नहुषने उनके सिरपर लात मारी, इसपर भृगुने नहुषको शाप दिया कि सर्प हो

जाओ और नहुष सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा, इत्यादि। मनुष्यसे ही पाप पुण्यादि कर्मोंके द्वारा देव-दानव आदि होना शास्त्रसिद्ध है।

कर्मराज्यकी सामञ्जस्यरक्षा करनेके विचारसे देवतागण प्रधान हैं। देवताओंके भेद अनेक हैं और सप्त ऊर्द्ध्वलोकके अधिकारके तारतम्यसे देवताओंके अधिकारमें भी अनेक तारतम्य हैं, और शक्तिके विचारसे देवताओंका अधिकार इतना उन्नत है कि, वे क्रमशः सगुण ब्रह्मके अधिकारोंको प्राप्त ब्रह्मरूप ही हो जा सकते हैं। इसकारण त्रिमूर्तिको सगुण ब्रह्म ही कहते हैं ॥९॥

उनका श्रेणीभेद वर्णन किया जाता है :—

वे साक्षात् और परोक्षशक्तिके अनुसार नित्य और नैमित्तिक होते हैं ॥१०॥

पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकार पितरों और देवताओंका वर्णन करके अब इस सूत्रद्वारा उन दोनोंकी श्रेणीका वर्णन कर रहे हैं। वे दोनों ही साक्षात् शक्ति और परोक्ष शक्तिके सम्बन्धसे नित्य और नैमित्तिक श्रेणीके भी होते हैं। पितृगण और देवतागण दो दो श्रेणीके होते हैं यथा—नित्यदेवता और नैमित्तिक देवता नित्यपितृ और नैमित्तिक पितृ, ब्रह्माण्ड और पिण्डके नित्य सम्बन्धसे पितर भी नित्य होते हैं। अर्थात् वे पद नित्य हैं। यथा अर्य्यमा अग्निष्वात्ता इत्यादि। नैमित्तिक-पितृ वे हैं जो मनुष्यलोकके पितृगण स्थूलशरीर छोड़नेके

साक्षात् परोक्षशक्तिभ्यां नित्यनैमित्तिके ॥१०॥

अनन्तर तीव्रवासनाके बन्धनसे युक्त हो पितृलोकमें जाकर वहाँका सुखभोगते हुए भी पितृकर्म्ममें रत रहते हैं। इसीप्रकारसे देवताओंकी भी दो श्रेणियाँ हैं, यथा—रुद्र, वसु, इन्द्रआदि नित्य देवता हैं और ग्राम्यदेवता, वनदेवता, कुलदेवता आदि नैमित्तिक देवता हैं। स्मृतिशास्त्रमें नित्य नैमित्तिकपितृ और नित्यनैमित्तिक देवताके अनेक वर्णन हैं। यथा—

गृहनगरग्रामेषु च सर्वत्रैवं प्रतिष्ठिता देवाः।
तेषु च यथानुरूपं वर्णा विप्रादयो वास्याः॥
समासाद्याऽधिदैवी मे कलाः षोडशसङ्ख्यकाः।
वसवो हि यमेन्द्रौ च रुद्रा एकादशामराः॥
द्वादशादित्यसम्मिश्रा देवास्त्रिंशत् त्रयस्तथा।
प्रादुर्भवन्त्यमी सर्वे नित्या नैमित्तिकास्ततः॥
व्यवस्थां कर्मराज्यस्य प्रादुर्भूय प्रकुर्वते।
अनेके पितरश्चैव ये प्रजापतयो दश॥
षोडशालभ्य कुर्वन्ति तेऽधिभूतकला मम।
नानावैचित्र्यपूर्णायाः सृष्टेरस्या व्यवस्थितिम्॥

अर्थात्—वर्णादि भेदसे गृह, नगर, तथा ग्राममें सर्वत्र देवता प्रतिष्ठित हैं। हे देवतागण! मेरी अधिदैव षोडशकलाओंको प्राप्तकरके अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादशआदित्य, यम और इन्द्र ये तेंतीस देवता तथा अनेक नित्य-नैमित्तिक देवता प्रकट होकर कर्मराज्यकी सुव्यवस्था करते हैं। इसीप्रकार मेरी अधिभूत षोडश

कलाओंको अवलम्बन करके दश प्रजापति और नानापितृगण प्रकट होकर नाना विचित्रतापूर्ण सृष्टिकी सुव्यवस्था करते हैं।

नित्यदेवता और नित्यपितृगणके पद नित्य स्थायी हैं, जैसा इन्द्रपद देवताओंमें और अर्यमापद पितरोमें ऐसे ही सब नित्य-देवता और नित्यपितरोंके पद स्थायीपद हैं। वे पद सदा रहते हैं केवल नियमित काल समाप्त होनेपर वे पदधारी अन्यपद अथवा अन्य अवस्थामें पहुँच जाते हैं। और उस पदपर अन्यव्यक्ति पहुँच जाता है इसकारण ये सब पद नित्य हैं। नैमित्तिक देवता या नैमित्तिक पितरके पद अनिश्चित और अनित्य हैं ऐसा कह सकते हैं। एक वनका देवता अथवा एक नदीका देवता उस वन या नदीके नष्ट हो जानेपर अन्य अवस्थामें चला जाता है और उसका पद भी नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार इस मृत्युलोकसे जो मृतात्मा अपने पुण्ययोगके कारण सुखभोग करनेकेलिये पितृलोकमें पहुँचते हैं, वे अपने वंश और जातिकी कल्याणवासनाको अपने हृदयमें पोषण करते हुए पितृलोकसे पितृकार्य-सम्पादन करते हैं, पुण्यफल भोगके अनन्तर पुनः मृत्युलोकमें उनका जन्म होनेसे उनका वह पितृपद नहीं रहता है। नित्यदेवता और नित्यपितृगणोंमें पदकी साक्षात् कार्यकारिणी शक्ति रहती है, परन्तु नैमित्तिक देवता और नैमित्तिक पितरोंमें यथाक्रम वन, नदी आदि तथा वंश और जाति आदिके अस्तित्वको परोक्षशक्तिके बिना उस नैमित्तिकपदकी कार्यकारिता नहीं रहती है। सुतरां साक्षात् और परोक्षशक्तिके विचारसे देवता और पितृगण नित्य और नैमित्तिक श्रेणीमें विभक्त हैं॥१०॥

अब आध्यात्मिक जगत्का अधिदैव निर्णय किया जाता है—

आध्यात्मिक जगत्के अधिदैव ऋषिगण हैं और वे नित्य हैं ॥११॥

समस्त सृष्टिप्रपञ्च तीन भागोंमें विभक्त है, यथा—आध्यात्मिक सृष्टि, आधिभौतिकसृष्टि और आधिदैविकसृष्टि, आदिभौतिक-सृष्टि और आधिदैविकसृष्टिके अधिदैवका वर्णन पूर्वसूत्रोंमें करके अब महर्षि - सूत्रकार आध्यात्मिकसृष्टिके अधिदैवका निर्णय करके कहते हैं कि—आध्यात्मिकसृष्टिके जो अधिदैव हैं, वे ऋषि कहाते हैं और यह भी कहते हैं कि ऋषिगण केवल नित्य ही होते हैं। ऋषियोंके अवतार तो होते हैं, परन्तु उनके पद केवल नित्य हैं उनके नैमित्तिक नहीं हुआ करते हैं। पितृगणोंका कार्य चाहे स्थूलप्रपञ्चसे ही सम्बन्ध रखता हो और देवताओंका कार्य कर्मजनित भोगादिसे सम्बन्ध रखता हो, वस्तुतः दोनोंहीका सम्बन्ध कर्मराज्यसे है, कर्मराज्य परिणामी है, कर्मराज्यमें चढ़ाव-उतरावका सदा सम्बन्ध रहता है, क्योंकि प्राकृतिकस्पन्दनको कर्म कहते हैं और प्रकृति त्रिगुणमयी होनेसे कर्मके साथ भी त्रिगुणका विशेष सम्बन्ध है, त्रिगुणका सम्बन्ध रहनेसे सत्वगुण और तमोगुणके प्रभावके कारण जीवकी गतिका चढ़ाव और उतराव अवश्य रहता है। इसी विचित्रताके कारण नित्य—नैमित्तिक भेद, देवता और पितरोंमें होना स्वतः सिद्ध है। ऋषिगण केवल ज्ञानराज्यके

ऋषिदैवतमाध्यात्मिकं नित्यञ्च ॥११॥

अधिदैव हैं। यद्यपि ज्ञान भी त्रिगुणात्मक होता है परन्तु ज्ञानकी शक्तिकी पूर्णता केवल सात्विक ज्ञानमें होनेके कारण इदमित्थमभय सात्विकज्ञानके साथ ही ऋषियोंका सम्बन्ध है, वह सात्विकज्ञान चाहे किसी अधिकारका हो, विगाड़नेवाला और बिगड़नेवाला न होनेके कारण सदा उन्नतिशील ही रहता है। यही कारण है कि कर्मप्रभावसे एक धनी भी जन्मान्तरमें दरिद्र हो सकता है, एक स्वर्गका जीव जन्मान्तरमें नरकका जीव बन सकता है, अथवा एक ब्राह्मण जन्मान्तरमें शूद्र वा अनार्य्ययोनिमें जन्म ले सकता है। परन्तु एक मनुष्य ज्ञानकी जिस भूमिकामें एक बार पहुँच जाता है उसका अन्तःकरण मलिन हो जानेपर वह अपनी ज्ञानभूमिको नहीं खोता है। यही आध्यात्मिक जगत्की विलक्षणता है। यही कारण है कि ऋषियोंका पद नित्य ही है, नित्य-ऋषियोंके आध्यात्मिक कारणके विषयमें स्मृतियोंमें ऐसा कहा है—

ममाध्यात्मिककलानाञ्च षोडशानां पुराऽमराः।
भूत्वा सप्तर्षिवर्गेषु विकाशो याति हेतुताम्॥
अनेकेषां महर्षीणां ज्ञानविस्तारकारिणाम्।
कलाविशेषमेतासां सन्दधाना वितन्वते॥

श्रीब्रह्मशक्ति महामाया कहती हैं कि मेरी अध्यात्मषोडश-कलाओंका विकाश प्रथम सप्तर्षियोंमें होकर ज्ञानके चालक नाना ऋषियोंका कारण बनाता है। ऋषियोंके अवतारगण मेरी इन कलाओंमेंसे विशेष विशेष कलाओंको धारण करके चतुर्दशभुवनमें ज्ञानकाविस्तार करते हैं। उनके नैमित्तिकपदकी सृष्टि-प्रपञ्चमें आव-

श्यकता नहीं होती है। नित्य ऋषियोंके भेदके विषयमें और सप्त-ऋषियोंके सामयिक परिवर्तनके विषयमें शास्त्रोंमें निम्नलिखित प्रमाण पाये जाते हैं। यथा—त्रिकाण्डशेषे—

सदा ब्रह्मर्षि-देवर्षि-महर्षिपरमर्षयः।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावराः॥

मन्वन्तरभेदे सप्तर्षि नामानि हरिवंशे स्वयम्भुवमन्वन्तरे—

मरीचिरत्रि भगवान् अङ्गिरापुलहःक्रतुः।
पुलस्त्यश्च वशिष्ठश्च सप्तैते ब्राह्मणाः सुताः॥

स्वारोचिषे ऊर्जस्तम्भादयः, यथा मार्कण्डेये—

ऊर्जस्तम्भस्तथा प्राणो दत्तोलिऋर्षभस्तथा।
निश्चरश्चार्ववीराश्च तत्र सप्तर्षयोऽभवन्॥

वशिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि कण्व आदि देवर्षि, व्यास आदि महर्षि भेल आदि परमर्षि, जैमिनि आदि काण्डर्षि सुश्रुत आदि श्रुतर्षि और ऋतुपर्ण आदि राजर्षि हैं, ये उत्तरोत्तर अवर निम्नश्रेणीके हैं।

स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वशिष्ठ ये सप्तर्षिगण हैं। स्वारोचिषमन्वन्तरमें ऊर्जस्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर और अर्ववीर ये सप्तर्षिगण हुये थे।

उत्तमे यथा मार्कण्डेये ७३।१३—

स्वतेजसा हि तपसो वशिष्ठस्य महात्मनः।
तनयाश्चान्तरे तस्मिन् सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥

तामसे ज्योतिर्धामादयः (यथा मार्कण्डेये) ।।७४–५६।।

ज्योतिर्धामा पृथुः काव्यश्चैत्रोऽग्निर्वलकस्तथा ।
वावरश्च तथा ब्रह्मन् सप्तसप्तर्षयोऽभवन् ॥

रैवते हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्द्धवाहुरित्यादयः यथा मार्कण्डेये

हिरण्यरोमा वेदश्रीरूर्द्धवाहुस्तथा परः ।
वेदवाहुः सुधामा च पर्जन्यश्च महामुनिः ॥
वशिष्ठश्च महाभागो वेदवेदान्तपारगः ।
एते सप्तर्षयश्चासन् रैवतस्यान्तरे मनोः ॥

उत्तम मन्वन्तरमें विशिष्ट ऋषिके पुत्र प्रमद आदि सप्तर्षिगण हैं। तापस-मन्वन्तरमें—हिरण्यरोम, वेदश्री, ऊर्द्धवाहु, वेदवाहु, सुधामा, पर्जन्य और वशिष्ठ ये सप्तर्षिगण हैं।

चाक्षुषे हर्यस्मद्वीरकादयः—

सुमेधा विरजाश्चैवं हविष्मानुन्नतोमधुः ।
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तासन्निति चर्षयः ॥

वैवस्वताख्यमन्वन्तरे—

अत्रिश्चैव वशिष्ठश्च काश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥
तथैव पुत्रो भगवानृचिकस्य महात्मनः ।
जमदग्निस्तु सप्तैते मुनयोऽत्र तथान्तरे ॥

सावर्णिके मार्कण्डेये—

रामो व्यासो गालवश्च दीप्तिमान् कृप एव च ।
ऋष्यश्रृङ्गस्तथा द्रौणिस्तत्र सप्तर्षयोऽभवन् ॥

चाक्षुषमन्वन्तरमें सुमेधा, विरज, हविष्मान्, उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु ये सप्तर्षि होते हैं। वैवस्वत मन्वन्तरमें—

अत्रि, वशिष्ठ, काश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र और जमदग्नि ये सप्तर्षि होते हैं।

सावर्णिकमन्वन्तरमें राम, व्यास, गालव, दीप्तिमान् कृप, ऋष्यशृङ्ग और अश्वत्थामा ये सप्तर्षि होते हैं।

दक्षसावर्णिके-मेधाऽतिथिर्वसुः सत्यो ज्योतिष्मान् द्युतिमांस्तथा।
सप्तर्षयोऽन्य सवलस्तथान्यो हव्यवाहनः॥

ब्रह्मसावर्णिके—आपो भूतिर्हविष्मांश्च सुकृती सत्य एव च।
नाभागो प्रतिभश्चैव वशिष्ठश्चैव सप्तमः॥

धर्मसावर्णिके—हविष्मांश्च वरिष्ठश्च ऋषिरन्यस्तथारुणिः।
निश्चरश्चानघश्चैव विष्टिश्चान्यो महामुनिः॥
सप्तर्षयोऽन्तरे तस्मिन्नग्निदेवश्च सप्तमः।

मेधा, अतिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हव्यवाहन ये सावर्णिक मनुमें सप्तर्षि होते हैं।

अप, भूति, हविष्मान्, सुकृती, सत्य, नाभाग, प्रतिभ और वशिष्ठ, ये ब्रह्मसावर्णिक मन्वन्तरमें सप्तर्षि होते हैं।

हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋषि, अरुणि, निश्चर, अनघ, विष्टि और अग्निदेव ये धर्मसावर्णिक मन्वन्तरमें सप्तर्षि होते हैं।

रुद्रसावर्णिके—द्युतिस्तपस्वी सुतपास्तपोमूर्तिस्तपोनिधिः।
तपोरतिस्तथैवान्यः सप्तमस्तु तपोधृतिः॥

देवसावर्णिके—धृतिमानव्ययश्चैव तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः।
निर्मोहः सुतपाश्चान्यो निष्प्रकम्पश्च सप्तमः॥
इन्द्र सावर्णिके—अग्निबाहुशुचिशुद्धमागधाद्याः सप्तर्षयः।

द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति ये रुद्रसावर्णिक मन्वन्तरमें सप्तर्षि होंगे। देवसावर्णिक मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प ये सप्तर्षि होंगे। इन्द्र सावर्णिकमन्वन्तरमें अग्निबाहु, शुचि, शुद्ध, मागध आदि सप्तर्षि होंगे।

ऊपर लिखित प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि, ऋषियोंके भेद अनेक हैं और सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तरमें अलग-अलग हुआ करते हैं। अर्थात् सप्तऋषिके पद नित्य होनेपर भी प्रत्येक मन्वन्तरमें उन पदोंके अधिकारी बदल जाया करते हैं। वस्तुतः ऋषियोंके सप्त-प्रधान श्रेणी होनेपर भी ऋषियोंकी श्रेणियाँ अनेक हैं। क्योंकि ज्ञानका विस्तार बहुत अधिक है और ज्ञानप्रकाशकी शैली भी अनेक हैं। जैसे सप्तऋषिके पद हैं, वैसे ही अन्य ऋषियोंके पद समझने योग्य हैं। जैसे पितृगणका निवास चौदह भुवनोंमें है, परन्तु मृत्युलोकके साथ भूलोकके पितृलोकका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार ऊपरके सात लोकोंमें देवताओंका प्रधानतः निवास और नीचेके सातलोकोंमें असुरोंका प्रधानतः निवास है, उसीप्रकार ऋषियोंका निवास चतुर्दश भुवनोंमें है। क्योंकि विद्या दैवी भी होती है, आसुरी भी होती है और दोनों प्रकारका ज्ञान ब्रह्माण्डमें प्रकाशित होता है, भेद इतना ही है कि उच्चकोटिके ऋषिगण षष्ठ

और सप्तमलोकमें रहते हैं। ऊर्द्धलोकोंके क्रमके अनुसार ऋषियोंके अधिकारका भी क्रम माना गया है और आसुरी ज्ञानप्रकाशक ऋषिगण असुरलोकोंमें रहते हैं। अपने अपने लोकोंसे वे अपने अपने अधिकारका ज्ञानविस्तार साधारणतः तत् तत्लोकोंमें और विशेषतः मृत्युलोकमें किया करते हैं। यही कारण है कि मृत्युलोकमें दैवीशास्त्र और आसुरीशास्त्र दोनोंका विस्तार पाया जाता है। मनुष्यका अन्तःकरण तत् तत्लोकोंसे आये हुए ज्ञानविस्तारका केन्द्र बना करता है। शास्त्रोंमें जो कहा है कि :—

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः मुनिः संलीनमानसाः।

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टाको ऋषि कहते हैं और भगवान्‌में लवलीन मानसवाले व्यक्तिको मुनि कहते हैं। यह लक्षण ऋषियोंके अवतारके विषयका है, अर्थात् दैवीलोकोंके नित्यऋषिपदकी शक्तिसे युक्त होकर मृत्युलोकमें जो अवतार वेदमन्त्रोंका दर्शन अपने अन्तः-करणमें करते हैं, वे भी इसप्रकारके ऋषि कहाते हैं। देवताओंके और ऋषियोंके अवतारोंका वर्णन पीछे आवेगा, और नित्य ऋषिके लोकोंके विषयमें और उनमें जीवकी गतिके विषयमें स्मृतियोंमें इसप्रकारके वर्णन हैं—

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषाः।
देवान् पितॄन् चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते॥

अर्थात्—ऋषिकुलको प्राप्तकरके स्नान आदि द्वारा पापरहित होकर देव और पितृकी पूजा करनेके अनन्तर ज्ञानी व्यक्ति ऋषि-लोकको प्राप्त होता है।

वस्तुतः चतुर्दशभुवनमें अथवा इस क्षणभङ्गुर मृत्युलोकमें जहाँ कहीं ज्ञानका आविर्भाव अथवा तिरोभाव होता है, वह नित्य-ऋषियोंकी कृपा और अकृपाका ही फल है। द्वितीयतः ऋषियोंकी गति और ऋषियोंका वास सातों ऊर्द्ध्वलोक और चाहे अधःलोक इसप्रकार चतुर्दशभुवनोंमें ही है। भेद इतना ही है कि दैवीशास्त्रोंका प्रकाश ऊर्द्ध्वलोकोंके ऋषियोंके द्वारा हुआ करता है। जैसे आसुरी भी एक प्रकारके देवता हैं, परन्तु सेव्य अथवा अनुकरणीय नहीं हैं, उसीप्रकार आसुरीलोकोंके ऋषियोंका सम्बन्ध समझना उचित है। अपि च जिसप्रकार देवता ही कर्मराज्यके अधिदैव मानेजाते हैं, उसी-प्रकार अध्यात्मराज्यके अधिदैव केवल ऊर्द्ध्वलोकके ऋषिगण ही माने जाते हैं। विरुद्धपक्ष होनेसे असुर अथवा असुरलोकोंके ऋषियोंका वर्णन प्रायः शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता है। ऊर्द्ध्वलोकोंके ऋषियोंके विषयमें ही शास्त्रोंने गद्‌गद्‌कण्ठ और ऊर्द्धवाहु होकर कहा है :—

ऋषयो नित्यरूपा ये नित्यज्ञानप्रदायिनः।
यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता मता॥

अर्थात्—ऋषिगण नित्यरूप हैं और नित्यज्ञानको देनेवाले हैं और वे स्वयम्भु हैं, इसकारण वे ऋषि कहाते हैं। इस मृत्यु-लोकमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक राज्योंके अधिदैवोंका हाल साधारणतः प्रकाशित न होनेपर भी और उनके त्रिविध नित्य स्थित अधीश्वरोंका स्वरूप परिज्ञात न होनेपर भी उनका अस्तित्व दार्शनिकविज्ञानसे सिद्ध और उनके कार्योंके द्वारा प्रमाणित है इसमें सन्देह नहीं ॥११॥

विलक्षणताके कारण देवताओंके नैमित्तिकत्वका हेतु कहा जाता है :—

द्विधाशक्तिके प्रकाशसे नैमित्तिक देवताका आविर्भाव होता है ॥ १२ ॥

अधिदैवराज्यकी कार्यप्रणाली कुछ विलक्षण और विस्तृत है, क्योंकि कर्मराज्यका विस्तार सबसे अधिक और विलक्षण है। इसकारण अधिभूत, अधिदैव और आध्यात्म तीनों राज्योंके अधिष्ठाताओंका वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि देवताओंके नैमित्तिक होनेका विज्ञान स्पष्ट कर रहे हैं। और कहते हैं कि द्विधाशक्तिका विकाश जब एक केन्द्रमें होता है तभी वह नैमित्तिक देवता कहाता है। ऋषि नित्य ही होते हैं, नैमित्तिक नहीं होते हैं। पितृगणोंमें नित्य नैमित्तिक पितर अवश्य होते हैं, परन्तु उनके साथ शक्तिका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है। केवल मोह सम्बन्धसे परलोकगामी आत्मायें नैमित्तिक पितर बन जाती हैं।

परन्तु देवताओंका नैमित्तिक होना कुछ विलक्षणता रखता है देवताओंकी श्रेणी और उनके अधिकार बहुत है, क्योंकि कर्मराज्यका विस्तार बहुत अधिक है। दैवीराज्यके जो निश्चित पद हैं, उनके अधिष्ठाता नित्यदेवता कहाते हैं परन्तु स्थूलप्रपञ्चमय जगत्के विभिन्न विभागोंके जो अधिदैव हैं, वे सब नैमित्तिक देवता कहाते हैं। इसका कारण यह है, कि स्थूल वस्तुके आविर्भाव और तिरोभावके

द्विविधशक्तितो नैमित्तिकत्वं देवानाम् ॥१२॥

साथ साथ उक्त नैमित्तिक देवपदोंका भी आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। यही कारण है कि वे पद नैमित्तिक भी कहाते हैं। एक वनौषधिलता वृक्षगुल्म आदिकी श्रेणीका जो रक्षक देवपद है जबतक उस लतागुल्म आदिकी श्रेणी सृष्टिमें स्थित रहती है तबतक उसका नैमित्तिक देवपद भी रहता है और उस उद्भिज जीव श्रेणीके लोप हो जानेपर वह नैमित्तिक देवपद भी नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार स्वेदज, अण्डज, जरायुज योनियोंकी जो लाखों श्रेणियाँ हैं, उनके नैमित्तिक देवपद भी उभयशक्तिसे युक्त होकर नैमित्तिक सम्बन्धसे युक्त होते हैं। इसीप्रकार नदीदेवता, अन्य जलाशयदेवता, बनदेवता, गृहदेवता, ग्रास्यदेवता आदि सभी उसीप्रकार समझने योग्य हैं। नैमित्तिक देवपदोंका वर्णन वेद और शास्त्रोंमें अनेक पाये जाते हैं।

जिन जिन नैमित्तिक देवताओंके साथ मनुष्यजातिका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है उनकी पूजा करनेकी विधि भी शास्त्रोंमें विहित है। यथा— कुलदेवता और गृहदेवताके विषयमें स्मृतिमें लिखा है कि—

छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यति।
कीर्तिश्च तेऽतुलावत्सः त्रिषु लोकेषु यास्यति॥
एवं तस्मै वरं दत्वा वास्तवोऽन्तरधीयत।
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम्॥
सर्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीति पदं कृत्वा, वास्तुवित सर्ववास्तुषु॥
पदस्थान् पूजयेद्देवास्त्रिंशत् पञ्चदशैव तु।
द्वात्रिंशद्‌ वाह्यतः पूज्याः पूज्याश्चान्तस्त्रयोदश॥

नामतस्तान् प्रवक्ष्यामि स्थानानि च निबोधत ।
ईशानकोणादिषु तान् पूजयेद्धविषा नरः ॥
शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः ।
सूर्य्यसत्यौभृश्चैव आकाशो वायुरेव च ॥
पूषा च विद्युतश्चैव गृहक्षतममावुभौ ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणस्तथा ॥

अर्थात्— तुम छन्द नामक देवता बनोगे और स्त्रियाँ तुम्हारी पूजा करेंगी । पितृलोकमें तुम्हारी अत्यन्त कीर्ति होगी । इतना कहकर इन्द्रदेव अन्तर्धान हो गये और शरीरत्यागान्तर मतङ्ग छन्द देवता नामक उत्तम नैमित्तिक देवताका स्थान प्राप्त हो गये । समस्त वास्तुविभागमें दोनों और नौ नौके हिसाबसे एकाशीति वास्तुपद जानना चाहिये । इन पदोंमें स्थित बत्तीस और पन्द्रह तथा वहिर्दिशामें बत्तीस और बीचमें तेरह इसप्रकारसे समस्त वास्तु-देवताओंकी पूजा करनी चाहिये । शिखी, पर्जन्य, जयन्त, कुलिशायुध, सूर्य, सत्य, भृश, आकाश, वायु, पूषा, वितथ, गृहक्षत, मम, गन्धर्व भृङ्गराजमृग, पितृगण इत्यादि वास्तु देवतागण हैं । जिनकी पूजा ईशानकोणमें होती है ।

आदित्यं गणनाथञ्च देवी रुद्रं यथाक्रमम् ।
नारायणं विशुद्धाख्यमन्ते च कुलदेवता ॥
देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितृन् गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः सर्वान् पश्चात् शेषभुग् भवेत् ॥

अर्थात्—सूर्यदेव, गणपतिदेव, देवी, रुद्रनारायणकी पूजा करनेके बाद कुलदेवताकी पूजा करनी चाहिये।

देव, ऋषि, मनुष्य अर्थात् अतिथिदेवता, पितृदेवता, गृहदेवता आदिकी पूजाकर गृहस्थ भोजन करें। श्रीभगवान्की अलौकिक-शासनप्रणालीके द्वारा उत्पन्न नित्यदेवताओंके सुप्रबन्धसे दैवी नियमके अनुसार एक तत्‌तत्‌श्रेणीका नित्यदेवता जब उक्त नैमित्तिक कार्यके भारसे युक्त कर दिया जाता है तो उससमय वह द्विविध शक्तिके कारण नैमित्तिक देवता बन जाता है, पहली शक्ति उस देवतामें नित्यरूपसे विराजमान थी, उसके अनन्तर जब उसको एक नया कार्यभार सौंपा गया, तब उससमय उस नैमित्तिक कार्य-शक्तिसे युक्त होनेपर उसमें द्विधाशक्तिके प्रकाश होनेसे वह नैमित्तिक देवता बन जाता है, यही नैमित्तिक देवपदका रहस्य है ॥१२॥

नैमित्तिक देवताओंका आविर्भाव और तिरोभाव कैसे होता है सो कहा जाता है—

नैमित्तिक देवताओंका आविर्भाव और तिरोभाव अवतारवत् होता है ॥१३॥

भगवद् अवतार अथवा देवताओंका अवतार जिस प्रकार आवि-र्भाव और तिरोभाव नियमके अधीन है, ठीक उसीप्रकार नैमित्तिक

नैमित्तिकानामाविर्भावस्तिरोभावावतारवत् ॥१३॥

देवताओंका भी आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। नैमित्तिक पितरोंका रहस्य पहले वर्णित हो चुका है, नैमित्तिक पितृगण मृत्युलोकके परलोकगामी आत्मायें होती हैं और वे पुनः मृत्युलोकमें आकर जन्म ले लेती हैं। परन्तु नैमित्तिक देवताकी दशा कुछ अलौकिक है, वे अवतारके समान कार्य कराते समय आविर्भूत होते हैं और कार्यकी समाप्तिमें उनका तिरोभाव हो जाता है, पितर भी नैमित्तिक होते हैं और देवता भी नैमित्तिक होते हैं, कदाचित् बुद्धि-भेद हो इसकारण नैमित्तिक देवताकी अवस्थाको स्पष्ट करनेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। नैमित्तिक देवताओंमें दो शक्तियाँ रहती हैं। एक तो अपनी देवताकी शक्ति और दूसरी जो उनको नैमित्तिक कार्य सौंपा जाता है उसकी शक्ति, ये दोनों शक्तियाँ जबतक बनी रहती हैं तबतक उनमें नैमित्तिकका आविर्भाव बना रहता है और कालान्तरमें जब उनसे नैमित्तिक काम पृथक् कर लिया जाता है तब उनके नैमित्तिकरूपका भी तिरोभाव हो जाता है।

उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि श्रीपरशुराम श्रीभगवान्के कलाअवतार थे, जब श्रीभगवान् रामचन्द्रने उनकी भगवत्कलाको अपनेमें आकर्षण कर लिया तब उससमय परशुराममेंसे भगवद्-अवतारभावका तिरोभाव हो गया और वे केवल ऋषि रह गये। इसी-प्रकार अवतारभावके आविर्भाव और तिरोभावके समान नैमित्तिक देवभावका भी आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है ॥१३॥

प्रसङ्गसे शङ्काका समाधान किया जाता है :—

शक्ति नित्य है केवल केन्द्रके द्वारा उसका प्रकाश होता है ॥१४॥

यदि जिज्ञासुओंके हृदयमें ऐसी शङ्का हो कि देवताओंकी शक्ति नित्य है या नहीं, यदि दैवी शक्ति नित्य न हो तो दैवीराज्यके अस्तित्व और स्थायित्वमें नानाप्रकारके सन्देह हो सकते हैं। इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि दैवी शक्तियाँ नित्य हैं, केवल केन्द्रके आविर्भाव और तिरोभावके सम्बन्धसे उन शक्तियोंका प्रकाश और अप्रकाश हुआ करता है। प्राकृतिक स्पन्दनरूपी कर्म तीन भागमें विभक्त हैं। यथा—सहजकर्म, जैवकर्म और ऐशकर्म, उद्भिजसे लेकर मनुष्ययोनिसे पहलेतक सब जीव सहजकर्मके अधीन हैं, मनुष्य जैवकर्मके अधीन है। इस कारण मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त प्रेत, नरक आदि लोक भी जैवकर्मके अधीन ही हैं और सब दैवीसृष्टि ऐशकर्मके अधीन रहती है। दूसरी ओर, सहजकर्म सम्बन्धीय और जैवकर्म सम्बन्धीय सब सुव्यवस्था देवताओंके अधीन रहती है, क्योंकि स्थूलराज्यका चालक सूक्ष्मदैवराज्य है, सुतरां सबका चलानेवाला दैवीराज्य जबतक सुव्यवस्थित नहीं होगा तबतक ब्रह्माण्डकी स्थिति-क्रिया सुव्यवस्थित कदापि नहीं रह सकती, क्योंकि दैवीक्रिया ही सबकी मूलभित्ति है। ऐश—

शक्तिर्नित्या केन्द्रे त्वभिव्यज्यते ॥१४॥

दैवीराज्यकी जो कार्यकारिणी शक्तियाँ हैं, वे अवश्य ही नित्य होगी और उनका प्रकाश केवल केन्द्रके द्वारा होना भी निश्चय है ॥१४॥

प्रसङ्गक्रमसे दैवी जगत्का प्राधान्य प्रतिपादन करते हैं :—

दैवाधिष्ठातृगण स्थूल प्रपञ्चके चालक हैं ॥१५॥

सूक्ष्म दैवीराज्यके अधिष्ठातृगण जिनका विस्तारितवर्णन पूर्व सूत्रोंमें आ चुका है, वे ही स्थूलप्रपञ्चके अधिनायक हैं।

स्थूलप्रपञ्च सूक्ष्म दैवीराज्यके ही सहारेसे चलता है इसका विस्तारित विवरण स्मृतिशास्त्रमें श्रीभगवान्ने ऐसा कहा है :—

कल्याः! स्थूलजगन्नूनं सूक्ष्मदैवजगद्धृतम्।
सृष्टेरस्त्यधिभूतायाश्चालकं धारकं तथा॥
आधिदैविकराज्यं हि नास्ति कोऽप्यत्र संशयः।
सत्यमेतन्न सन्देहः कर्तव्योऽत्र कदाचन॥
विनाऽधिदैवसाहाय्यं जगतो भवितुं क्षमाः।
न स्थूलदृश्यमानस्य सृष्टिस्थितिलयक्रियाः॥
त्रिधा विभक्तं पितरः! दैवं राज्यं हि वर्तते।
आध्यात्मिकाधिदैव-भूतरूपं न संशयः॥
आधिभौतिककार्यस्य यूयं विश्वस्य चालकाः।
आध्यात्मिकक्रियायाश्च चालका ऋषयो ध्रुवम्॥
अधिदैवक्रियायाः सञ्चालकाः सन्ति भूतिदाः।
देवा नैके न सन्देहो नित्या नैमित्तिकास्तथा॥

स्थूलाधिनायकत्वं दैवाधिष्ठातृणाम् ॥१५॥

देवश्रेण्यो हि मे तिस्रः एताः सन्ति विभूतयः ।
नातः स्याद्रक्षिता सृष्टिरासां साहाय्यमन्तरा ॥

हे पितृगण स्थूलजगत्, सूक्ष्मदैव जगत्के आधारपर ही स्थित है। अधिभूतसृष्टिका चालक और धारक अधिदैवराज्य ही है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, यह सत्य है, इसमें कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। बिना अधिदैव सहायताके स्थूल परिदृश्यमान जगत्की न सृष्टि हो सकती है, न स्थिति हो सकती है और न लय हो सकता है। हे पितृगण! दैवीराज्य अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपसे तीन भागोंमें ही निःसन्देह विभक्त है। जगत्की आधिभौतिक क्रियाके सञ्चालक आपलोग हैं अर्थात् पितृगण, जगत्की अध्यात्मक्रियाके सञ्चालक ऋषिगण ही हैं और हे पितृगण जगत्की अधिदैवक्रियाके सञ्चालक अनेक नित्यनैमित्तिक देवतागण ही हैं। ये तीनों ही देवश्रेणी मेरी विभूति हैं, इसकारण इन तीनोंकी ही सहायताके बिना सृष्टिकी रक्षा नहीं हो सकती है।

ब्रह्मकी शक्ति जड़ा प्रकृतिसे जब स्थूलप्रपञ्च उत्पन्न है, तब उस स्थूलप्रपञ्चके चलानेवाले चेतनमय अधिदैवका होना अवश्य उचित है, क्योंकि जड़ अपने आप कार्यकारी नहीं हो सकता। सुतरां जड़मय पञ्चभूतात्मक स्थूलप्रपञ्चका छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा सब वैभव हो, अथवा स्थावर जङ्गमात्मक कोई विभाग हो, सबकी सुव्यवस्था बिना दैवीराज्यकी सहायतासे नहीं हो सकती है। इसकारण यह मानना ही पड़ेगा, कि स्थूल-प्रपञ्च दैवी अधिनायकत्वके सहारेसे ही सृष्टि, स्थिति और लयको

प्राप्त होता रहता है और उसके अस्तित्वके मूलमें पूर्वकथित अधिदैवोंका ही प्राधान्य है ॥१५॥

दैवीशक्तियोंके आविर्भावका स्थल बताया जाता है :—

पीठका उदय प्राणमयकोषमें होता है ॥१६॥

सूक्ष्मदैवीराज्यका स्थूल मृत्युलोकके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। विशेषतः दैवीराज्य ही स्थूलराज्यका चालक है, इसकारण यह स्वतः ही प्रश्न होगा कि इसलोकमें दैवीशक्तियोंका प्राकट्य कैसे होता है। ऐसी शङ्काओंके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। आत्माको पांच कोषोंने आवृत्त कर रखा है, पांच कोषके आवरणसे ही जीव और शिवकी भेदप्रतिष्ठा है। उक्त पञ्चकोषोंके नाम ये हैं—यथा अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोष, सारा स्थूलप्रपञ्च अन्नमयकोषका ही है। तात्पर्य यह है कि अन्नमयकोष तो स्थूलराज्य है और बाकी चार कोष दैवराज्यसे साक्षात् सम्बन्धयुक्त हैं। इस मृत्युलोकमें जब मनुष्यकी मृत्यु होती है, तब अन्नमयकोष यहाँ पड़ा रहता है, उस अन्नमयकोषका ही मृतदेह बन जाता है। मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोषको लेकर प्राणमयकोष लोकान्तरमें चला जाता है, इसीलिये कहते हैं कि मनुष्यका प्राण निकल गया है। इस कारण वह प्राणमयकोष ही है जो स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध स्थापित रखता है। प्राणमयकोष ही जीवको मृत्युलोकमें

पीठस्याविर्भावः प्राणमये ॥१६॥

जाता है और मृत्युलोकसे अन्यलोकमें ले जाता है। वह प्राणमय-कोष ही स्थूलमृत्युलोक और सूक्ष्मदैवीलोकके साथ सम्बन्ध सुरक्षित रख सकता है। सुतरां समष्टि-ब्रह्माण्ड और व्यष्टि-पिण्ड इन दोनोंमें परिव्याप्त प्राणमें ही पीठका आविर्भाव होता है।

दैव्याःशक्तेर्विकाशस्य देवानामासनस्य वा।
उपयोगी जायतेऽसावावर्त्तः पीठ उच्यते॥

अर्थात्—प्राणमयकोषकी सहायतासे ही दैवीशक्तिके विकाशक अथवा देवताओंके आसनके उपयोगी जो आवर्त्त बनता है, उसको पीठ कहते हैं।

श्रीभगवान् सूर्यने निज मुखसे ऋषियोंको कहा है :—

सूक्ष्मेण दिव्यलोकेन स्थूललोकस्य देहिनः।
सम्बन्धकारको ज्ञेयः कोशः प्राणमयश्चरः॥
यदि प्राणमये कोशे पीठं स्थापयितुं क्षमः।
कथञ्चित स हि मे शक्तिं दैवीमनुभवत्यसौ॥

अर्थात्—सूक्ष्मदिव्यलोकके साथ स्थूललोकका सम्बन्ध स्थापन करनेवाला प्राणमयकोषको जानना चाहिये। यदि कोई प्राणमयकोषमें पीठ स्थापन कर सके तो वह कथञ्चित् मेरी इस दैवी शक्तिका अनुभव कर सकेगा। पीठका कुछ वर्णन पहले आ चुका है और उसका विस्तारित विज्ञान आगेके सूत्रोंमें आवेगा वह दैवी शक्तियोंका आसनरूपी पीठ वस्तुतः प्राणमयकोषकी सहायतासे ही बनता है और उसीपर देवता आदिका आविर्भाव हुआ करता है ॥१६॥

पीठका साक्षात् फल कह रहे हैं :—

वह देवयोनिका अधिष्ठान स्थान है ॥१७॥

प्राणमयकोष व्यापक है। उस प्राणमयकोषमें जब कारण-विशेषसे पीठ उत्पन्न होता है, तब वही पीठ सब प्रकारके देवयोनियों-का अधिष्ठान स्थान बन जाता है। जैसे आसनपर मनुष्यगण बैठते हैं उसी प्रकार पीठपर सब प्रकारकी देवयोनियाँ आकर अधिष्ठित हो सकती हैं। यदि देवयोनियोंको स्थायीरूपसे ठहरना हो तो पीठका प्रबन्ध पहले होना चाहिये। पीठमें देवयोनियोंका ठहरना सुगम हो जाता है, देवयोनि बहुत प्रकारके हैं। वसु, रुद्र, इन्द्रादिक भी उन्नत देवयोनियाँ हैं देवताओंकी बहुत श्रेणियाँ हैं, नित्य नैमित्तिक सब देवता देवयोनिके ही हैं। नानाऋषिगण भी देवयोनिके ही हैं पितृगण भी देवयोनि ही हैं। मृतपितृगण जो मृत्युके अनन्तर पितृलोक, नरकलोक, प्रेतलोकादिमें जाते हैं, वे सभी देवयोनिके जीव हैं। वस्तुतः स्थूलमृत्युलोकके अतिरिक्त अन्य चतुर्दशभुवनमें अथवा प्रेतलोक और नरकलोकमें जितने जीव हैं, वे सब देवयोनिके अन्तर्गत हैं। यही कारण है कि श्राद्धादिकमें जो प्रेतश्राद्ध या पितृश्राद्ध, किया जाता है वह सब पीठकी सहायतासे ही किया जाता है और उपासनाकाण्डके साथ पीठका कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह विस्तारितरूपसे पहले ही कहा जा चुका है ॥१७॥

तदधिष्ठानं देवयोनेः ॥१७॥

उसका आविर्भाव कैसे होता है सो कहा जाता है :—

दोनों शक्तियोंके समन्वयसे उसका आविर्भाव होता है ॥१८॥

अलौकिक पीठके आविर्भाव होनेका अन्तर्जगत् सम्बन्धीय दिव्य कारण निर्णय करनेकेलिये इस सूत्रका आविर्भाव किया गया है। इस संसारमें सर्वत्र ही दो शक्तियोंका प्राधान्य देखा जाता है, एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। अन्तर्जगत्‌में भी दो शक्तियाँ हैं, एक राग और दूसरा द्वेष।

जिस प्रकार आकर्षण और विकर्षणमें आकर्षण रजोमूलक है, उसीप्रकार राग भी रजोमूलक है, दूसरी ओर जैसे विकर्षण तमोमूलक है, वैसा ही द्वेष तमोमूलक है। राग और द्वेषके समन्वयसे जिस-प्रकार साधकके अन्तःकरणमें सत्त्वगुणमूलक तत्त्वज्ञानका उदय होता है, ठीक उसी प्रकार प्राणमय जगत्‌में आकर्षण और विकर्षण रूपी दोनों शक्तियोंके समन्वयसे सत्त्वगुणमूलक और देवाधिष्ठान-रूपी पीठका आविर्भाव हुआ करता है, जिसका विस्तारित विवरण स्मृतिशास्त्रके अनेक स्थलोंमें पाया जाता है। यथा :—

स्वाभाविक्यस्वभावा वा पीठस्योत्पादनाय या।
विधीयते क्रिया सम्यक् सत्सुकौशलपूरिता॥
चक्रं तदेव सम्प्राहुः, योगतत्त्वविशारदाः।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विश्वभूतिदाः॥

तदाविर्भावः शक्त्योः साम्यात् ॥१८॥

पीठोत्पादकसामर्थ्यं मर्त्यपिण्डो बिभर्त्यसौ ।
आवागमनचक्रस्याश्रयः स्वाभाविकस्य हि ॥
अनेकभेदसत्त्वेऽपि पीठस्यास्ति प्रधानतः ।
भेदश्चतुर्विधो योऽसौ प्रोच्यते वः पुरोऽधुना ॥
प्रथमं स्थावरं पीठं यथा तीर्थादि गोचरम् ।
द्वितीयं सहजं पीठं दम्पतीसङ्गमे यथा ॥
पीठं तृतीयकं दैवमिन्द्रलोकादिकं यथा ।
चतुर्थं यौगिकं पीठं भगवद्विग्रहोद्भवम् ॥
अथवा यन्त्रसम्भूतं पितरो वर्तते यथा ।
अनेकभेदसत्त्वेऽपि चक्रश्चास्ते चतुर्विधम् ॥

पीठको उत्पन्न करनेके लिये जो स्वाभाविक या अस्वाभाविक सत्सु कौशलपूर्ण क्रिया सम्यक् रूपसे की जाती है उसीको योगतत्त्वज्ञ चक्र कहते हैं। हे पितृगण ! इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। यह मानवपिण्ड पीठ उत्पन्न करनेका सामर्थ्य रखता है, यह मानवपिण्ड स्वाभाविक आवागमनचक्रका आश्रय ही है। पीठके भेद अनेक होने पर भी प्रधानतः पीठ जो चार श्रेणियोंमें विभक्त है, उसको अभी आपलोगोंके सामने कहता हूँ। प्रथम स्थावरपीठ, यथा तीर्थादि- द्वितीय सहजपीठ, जैसा कि नरनारीके सङ्गमके समयमें उत्पन्न होता है, तृतीय दैवीपीठ; यथा—इन्द्रलोकादि और चौथा यौगिक पीठ, यथा—हे पितृगण ! भगवद्विग्रह और यन्त्रादिमें होता है। चक्र बहुप्रकारके होनेपर भी उनकी चार श्रेणियां हैं। प्रथम सहजचक्र वह कहाता है।

आवागमनचक्रादि तत्राद्यं सहजं जगुः ।
द्वितीयं कीर्तितं चक्रं तद्वद् ब्रह्माण्डनामकम् ॥
ग्रहोपग्रहभादीना—मधिकारस्थितिर्यथा ।
ज्ञेयं स्वाभाविकं चक्रमेतद् द्वयमसंशयम् ॥
सगर्भं स्यात्तृतीयं तद्ब्रह्मचक्रादिकं यथा ।
अगर्भनामकं चक्रं चतुर्थं समुदाहृतम् ॥
मन्त्रशुद्ध्या क्रियाशुद्ध्या रहितञ्चैव यद्भवेत् ।
इति वः कीर्तितं चक्र—रहस्यं परमाद्भुतम् ॥
याथार्थ्यानुष्ठितं चक्रं सगर्भं मुक्तिदं भवेत् ।
अगर्भं पितरः ! तद्वन्नूनमभ्युदयप्रदम् ॥
परं त्वेवंविधायां हि दशायां चक्रसाधकैः ।
भवितव्यं ध्रुवं सम्यगवश्यं मत्परायणैः ॥
एतच्चक्रद्वयं जीवैः सत्सुकौशलपूर्णया ।
क्रिययाऽनुष्ठितं यस्मादतोऽस्वाभाविकं जगुः ॥

जैसा आवागमनचक्रादि । द्वितीय ब्रह्माण्डचक्र यथा—ग्रह उपग्रह नक्षत्रादिका अधिकार स्थान, ये दोनों निःसन्देह स्वाभाविकचक्र कहाते हैं । तृतीयचक्र सगर्भचक्रकहाता है, यथा—ब्रह्मचक्र, शक्तिचक्रादि और चतुर्थचक्रका नाम अगर्भ है, जो मन्त्रशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे रहित ही होता है । यह मैंने आपलोगोंको परम अद्भुत चक्रका रहस्य कहा है । सगर्भचक्र यथार्थ रूपसे अनुष्ठित होनेपर ही मुक्तिप्रद होता है और हे पितृगण ! अगर्भचक्र यथार्थ रूपसे अनुष्ठित होने पर ही अभ्युदयप्रद होता है । परन्तु ऐसी दशामें चक्रकारी

साधकोंको अवश्य ही अच्छी तरह मत्परायण होना उचित है। ये दोनों चक्र सत्सुकौशलपूर्ण क्रियासे जीवोंके द्वारा अनुष्ठित होनेके कारण अस्वाभाविक कहाते हैं।

उत्तरोत्तरमुक्तासु सप्तसु ज्ञानभूमिषु।
क्रमारोहणकृत्यैव जायते पितरो ध्रुवम्॥
आवागमनचक्रस्याध्यात्मशुद्धिर्न संशयः।
वर्णाश्रमाख्यधर्माणां स्वाधिकारानुसारतः॥
जायते पालनेनास्य शुद्धिः खल्वाधिदैविकी।
पितरो वो दया लब्ध्या शुद्ध्या शोणितशुक्रयोः॥
सहजस्यापि पीठस्य क्रमोन्नत्या निरन्तरम्।
आधिभौतिकशुद्धिर्हि नूनमस्य प्रजायते॥
चक्रमेतद्भवन्तो हि कर्तुमुन्नामि सत्वरम्।
सन्ति चक्रेश्वरा नूनं स्मरणीयं सदेति वः॥
एवं सर्वेषु चक्रेषु शुद्धिः त्रैविध्यमुत्तमम्।
आवश्यकं भवत्येव नात्र कार्या विचारणा॥
आवागमनचक्रस्य साहाय्येनैव वोऽधुना।
निमित्तस्यास्य संशुद्धिं वर्णयित्वा पितृव्रजाः॥

हे पितृगण! उक्त सप्त ज्ञानभूमियोंमें उत्तरोत्तर क्रमशः आरोहण करते रहनेसे ही आवागमनचक्रकी आध्यात्मिकशुद्धि सम्पादित होती है, इसमें सन्देह नहीं है। अपने अपने अधिकारानुसार वर्णाश्रमधर्मके पालन द्वारा ही उस चक्रकी अधिदैवशुद्धि हुआ करती है और हे पितृगण! आप लोगोंकी कृपा प्राप्त करनेसे सहज-

पीठकी निरन्तर क्रमोन्नतिसे और रजोवीर्यकी शुद्धिसे भी आवागमन-चक्रकी आधिभौतिकशुद्धि सम्पादित हुआ करती है। इस चक्रको शीघ्र उन्नतिशील करनेमें आपलोग ही निश्चय चक्रेश्वर हैं, यह सदा आपलोगोंको स्मरण रखना चाहिये। सब चक्रोंमें इसी-प्रकार उत्तम त्रिविधशुद्धिकी आवश्यकता होती है इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपकी सहायतासे ही निर्मित इस आवागमनचक्रकी शुद्धिका वर्णन करके हे पितृगण! अब पीठशुद्धि-का रहस्य आपलोगोंसे कहा हूँ सुनो—

पीठशुद्धे रहस्यं वो ब्रवीमि श्रूयतामिति।
नानाविधेषु पीठेषु विधायोपासनां मम॥
निजपिण्डे स्थिते पीठे भक्ता नानाविधा यदा।
विभूतीर्मे लभन्तेऽन्ते तेजो मे सर्वथा तथा॥
रक्षितुं पारयन्तेऽलं तदा पीठस्य जायते।
आधिभौतिक - संशुद्धिर्नात्र कश्चन संशयः॥
यदा तु क्रमशो दैवीं शक्तिं लब्धुं ममेशते।
साधकाः पीठसंशुद्धिस्तदा स्यादाधिदैविकी॥
तत्त्वज्ञानस्य पुण्यस्य विकाशेन यथाक्रमम्।
पीठस्याध्यात्मसंशुद्धिर्जायते च स्वधाभुजः॥
देशकालमनोद्रव्य - क्रियाशुद्धिर्हि पञ्चधा।
शुद्धिर्मुख्या समाख्याता पीठशुद्धिष्वसंशयम्॥
तत्रापि द्रव्यसंशुद्धिः प्राधान्यं वहते खलु।
असौ योगोपयोगित्वाद्देहस्य जायते ध्रुवम्॥

एवं मे ज्ञानिनो भक्ताः संशुद्धिं चक्रपीठयोः ।
समासाद्य लभन्तेऽन्ते मत्सायुज्यं न संशयः ॥

और क्रमशः जब साधक मेरी दैवीशक्तियोंको लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, हे पितृगण ! तब पीठकी आधिदैविकशुद्धि पवित्र तत्त्वज्ञानके यथाक्रम विकाश द्वारा सम्पादित होती है और पवित्रतत्त्वज्ञानके यथाक्रम विकाश द्वारा पीठकी आध्यात्मिक शुद्धि हुआ करती है। पीठ-शुद्धियोंके विषयमें निःसन्देह देशशुद्धि, कालशुद्धि, मनकी शुद्धि, क्रियाकी शुद्धि और द्रव्यशुद्धि, ये पाँच प्रकारकी शुद्धियाँ ही मुख्य कही गयी हैं। उनमें भी द्रव्यशुद्धि ही प्रधान है, क्योंकि वह देहके योग उपयोगी होनेसे ही होती है। इस प्रकारसे मेरे ज्ञानी भक्त चक्र और पीठशुद्धिको प्राप्त करके अन्तमें निःसन्देह मत्सायुज्यको प्राप्त कर लेते हैं।

श्रीभगवान् सदाशिव और पितृगणोंके सम्बादका स्मृतिवचन पीठ तथा पीठोत्पादक चक्रके अलौकिक विज्ञानसे पूर्ण है। वस्तुतः चक्रका रहस्य जैसा अलौकिक, पीठका रहस्य भी वैसा ही अलौकिक और आश्चर्यमय है। ब्रह्माण्ड और पिण्डके प्राणमय-विभागमें जहाँ कहीं आकर्षण और विकर्षणशक्तिरूपिणी परस्पर द्वन्द्वशक्तियोंका समन्वय या तो अपने आप होता है या सुकौशल-पूर्ण क्रियासे उत्पन्न किया जाता है, वहीं पीठ उत्पन्न होता है। चाहे पृथिवी, सूर्य आदिग्रहोंका पीठ हो, चाहे तीर्थ आदिका पीठ हो, चाहे स्त्री-पुरुष सम्बन्धका पीठ हो, चाहे मूर्ति, यन्त्र, चित्र आदिमें उपासनापीठ हो, इन सबमें ही इन्हीं आकर्षण और विकर्षण-

शक्तियोंके समन्वयसे ही अलौकिक पीठका आविर्भाव होता है। आकर्षण विकर्षणरूपी द्वन्द्वशक्तिके समन्वयसे प्राणमयकोषमें पीठ उत्पन्न होता है, केवल भेद इतना ही है कि पीठकी श्रेणीमें अनेक तारतम्य होता है। जिस पीठमें प्रेत अथवा तामसिक असुर आदि दैवी शक्तियोंका आविर्भाव होता है, उस पीठमें देवताओंका आविर्भाव असम्भव है। प्रेत, पितृ और नाना श्रेणीकी देवताके उपयोगी पीठके प्रकारभेद भी अनेक होते हैं और उनमें भी अन्तर्विभाग अनेक होते हैं, ये सब प्राणक्रियाके स्थूल और सूक्ष्मविस्तारके भेदसे होता है ॥१८॥

प्रसङ्गसे उनका मौलिक कारण कहा जाता है :—

वे दोनों शक्तियाँ रजस्तमोमूलक हैं ॥१९॥

इस संसारमें सब पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं, उसीप्रकार त्रिगुणका सम्बन्ध सब स्थलोंमें विद्यमान है। आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंमेंसे आकर्षण रजोमूलक है और विकर्षण तमोमूलक है और दोनोंके समन्वयरूपी पीठ ही सत्वगुणमूलक है।

रजोगुणात्मक आकर्षण सदा अपनी ओर खींचता रहता है और तमोगुणात्मक विकर्षण सदा अपनेसे दूसरी ओर धक्का देता रहता है, यही कारण है कि इन दोनों शक्तियोंके द्वारा ही सृष्टिका होना और सृष्टिका प्रलय होना अपने आप बनता है। जब परमाणु-पुञ्ज परस्परमें मिलते हैं अर्थात् आकर्षित होते हैं तब सृष्टि होती है

ते नु रजस्तमोमूले ॥१६॥

और जब परमाणुपुञ्ज विकर्षण दशाको प्राप्त होते हैं, तब प्रलय होता है, यही रजोगुणात्मक आकर्षण विकर्षण शक्तिका रहस्य है ॥१९॥

गुणसम्बन्धसे पीठका महत्त्व कहा जाता है :—

पीठ सत्वमूलक होनेसे आनन्दप्रद है ॥२०॥

प्राणराज्यमें आकर्षण और विकर्षणरूपी द्विविधशक्तिकी समतासे पीठ बनता है और आकर्षण विकर्षणशक्ति यथाक्रम रज और तमोगुणमूलक है, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। जहाँ रजोगुण और तमोगुणकी समता होती है, वहीं सत्त्वगुणका उदय होता है, इस कारण पीठ सत्त्वगुणमूलक है इसमें सन्देह नहीं है। जहाँ सत्त्वगुण है वहाँ आनन्दका विकाश अवश्य होगा—जैसा कि सत्त्वगुणके सम्बन्धमें श्रीगीतोपनिषद्में कहा है कि :—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन वध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

अर्थात् हे अनघ! सत्त्वगुणमें मलका अभाव और आनन्दका विकाश रहनेसे वह ज्ञानसङ्ग और सुखके सङ्गसे जीवको बन्धन प्राप्त कराया करता है। वस्तुतः सत्त्वगुणमें ज्ञान और आनन्दका विकाश स्वतः ही हुआ करता है, क्योंकि सत्त्वगुणका वह धर्म है। पीठमें जब रजोधर्म और तमोधर्मकी समता हो जाती है और स्वतः ही उसमें सत्त्वगुणके धर्मरूपी आनन्दका विकाश बना रहता है तो उसके निकट जो अन्तःकरण पहुँचेगा उसमें अवश्य ही सत्त्वगुणका

पीठमानन्दप्रदं सत्त्वप्राधान्यात् ॥२०॥

धर्म आनन्दादि प्राप्त होंगे। अस्तु, सत्त्वगुणमूलक पीठमें अवश्य ही साक्षात अथवा परोक्षरूपसे आनन्दका आविर्भाव रहता है ॥२०॥

अब पीठोंके भेदका वर्णन किया जाता है :—

सृष्टिके पञ्चधा होनेसे पीठ पाँच प्रकारके होते हैं ॥२१॥

स्थूल-सूक्ष्म-सृष्टिमें जितनी श्रेणीके पीठोंका होना सम्भव है उसको महर्षि सूत्रकारने पाँच भागोंमें विभक्त किया है। सृष्टि पञ्चभौतिक है, इसकारण यह पञ्चधाविभाग स्वाभाविक है। यद्यपि अन्यान्य शास्त्रोंमें पीठोंके भेद कम कहीं अधिक कहे गये हैं, परन्तु वे सब इन्हीं स्वभावसिद्ध पाँच विभागोंसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, इसकारण मतभेदकी संभावना नहीं है।

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारकी सम्मतिमें जो पाँच विभाग कहे गये हैं, वे इसप्रकार हैं—यथा :—प्रथम उपासनापीठ, द्वितीय पार्थिवपीठ, तृतीय जीवयान्त्रिकपीठ, चतुर्थ स्थूलयान्त्रिक पीठ और पञ्चम सहजपीठ। उपासनापीठके सोलह भेद हैं, जिनका विस्तारित विवरण पहले आ चुका है। उपासनाके सहायक मूर्ति, चित्र, अग्नि, यन्त्र आदि जो सोलह भेद हैं और जिनके अवलम्बनसे निर्गुण ब्रह्मकी सगुण उपासना की जाती है, उपासनापीठके सोलह प्रकारके भेद योगशास्त्रमें माने गये हैं। पार्थिव पीठ, नित्य-नैमित्तिक रूपसे अनेक प्रकारके शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। नानाधर्म सम्प्रदायके देवमन्दिर, उपासनामन्दिर, तीर्थस्थान, उपास्यनदी पर्वत

तत्पञ्चविधं सृष्टेः पञ्चविधत्वात् ॥२१॥

आदि सब पार्थिवपीठके अन्तर्गत समझे जाते हैं। पृथिवीके सब धर्ममार्गोंके उपासनालयकी जहाँ तत् तत्धर्ममार्गके उपासकगण एकत्रित होकर उपासनाकी सहायता प्राप्त करते हैं, पृथिवीकी दिव्य नद-नदियाँ यथा श्रीगङ्गा आदि, काशी आदि तीर्थस्थान ये सब इसी श्रेणीके पीठ हैं। पुराणतन्त्र आदि शास्त्रोंमें जो बहु पीठ स्थानोंका वर्णन है, वे सब इसी श्रेणीके पीठ हैं।

जीवयान्त्रिकपीठके उदाहरण कुमारीपूजा, बटुकपूजा, शव-साधन आदि समझने योग्य हैं। स्थूल यान्त्रिकपीठ बहुप्रकारके होते हैं। उपासनाके साथ इस श्रेणीके पीठोंका प्रायः सम्बन्ध नहीं रहता है, स्थूल यन्त्रोंकी सहायतासे प्रेत आदिक दैवी विभूतिसे इङ्गित द्वारा मानसिक वृत्तियोंका विनिमय आदि कार्य इसप्रकारके पीठके द्वारा हुआ करता है। ऐसे स्थूल—यान्त्रिकपीठका उपयोग यदि शास्त्रविधिके अनुसार हो तो उसमें दैवीक्रियाकी भी निष्पत्ति होती है। यथा घटमेंसे जलप्रवाहकी उत्पत्ति है और अग्निकुण्डके ऊपरसे चलना इत्यादि, अन्यथा प्रेतादिका ही सम्बन्ध अधिकतर ऐसे पीठोंमें रहता है। सहजपीठके अनेक भेद हैं—यथा—स्त्री-पुरुषके सङ्गमके समयमें पीठोत्पत्ति और सृष्टिक्रिया सम्पादन और सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि ग्रहोंका ग्रहपीठ इत्यादि। इसप्रकारसे पीठ नाना श्रेणीमें विभक्त होकर पाँच मुख्य भागके कहे जा सकते हैं। यही अलौकिक पीठका महान् विस्तार है। पीठके विषयमें स्मृतियोंमें भी कहा है। यथा :—

साधकानामथ स्थूले लोके पीठप्रतिष्ठया ।
माद्रष्टुं मद्विभूतिर्वा कुमारीवटुविग्रहाः ॥
मुद्राशवाग्निपत्राणि वपुः स्वीयं तथैव च ।
मुख्यावलम्बनान्याहुरष्टावेतानि सर्वथा ॥
तत्रापि देवरूपाणि तत्त्वानामग्नितत्त्वकम् ।
मुख्यावलम्बनं प्राहुस्तत्त्वमध्यगतं हि तत् ॥
तथा मुद्रा मता लोके स्त्रीपुंस्तदुभयथा त्रिधा ।
इयं मुद्रा तु बहुभिश्चक्रशब्देन चोच्यते ॥
तस्यापि भेदाः सप्तेति विदुः केचन योगिनः ।
यन्त्राण्याश्रमितान्याहुर्योगिनो यन्त्रवेदिनः ॥
पीठोत्पन्नकरेष्वेषु साधनेष्वष्टकेष्वपि ।
योगिभिस्तु निजं देहं साधनोत्तममीरितम् ॥
अष्टासु कारणेष्वेषु द्रष्टव्यमन्त्र शुद्धितः ।
मनसः समयेनापि कोशे प्राणमये ध्रुवम् ॥
पीठमुत्पद्यते तस्मिन् कोशे तत्र प्रतिष्ठिते ।
आविर्भवन्ति ये सर्वा शक्तयस्तत्र निश्चितम् ॥
किन्तु द्रव्यमनःशुद्धिमन्त्रशुद्धिश्चाद्यभावतः ।
तथोपासनया चापि दिग्बन्धाद्यपि यत्नतः ॥
पीठस्थानस्य रक्षा चेत् समीचीना भवेन्न हि ।
तथोक्तस्य च यागस्य पवित्रत्वाद्यभावतः ॥
बहवस्तत्र जायन्तेऽन्तरायाः असुरोत्कृताः ।

अर्थात्—साधकोंके अर्थ स्थूललोकमें पीठप्रतिष्ठा द्वारा मुझको या मेरी विभूतिको देखनेकेलिये कुमारी, बटुक, मूर्ति, मुद्रा, शव, अग्नि, यन्त्र और निजशरीर, ये ही आठ प्रधान अवलम्बन कहे गये हैं। उनमें भी देवताओंकी मूर्तियाँ और सब तत्त्वोंका मध्यवर्ती अग्नितत्त्व प्रधान अवलम्बन है। मुद्रा भी स्त्रीमुद्रा और पुंमुद्रा और उभयात्मिक मुद्रा इस प्रकारसे त्रिविध हैं। इस मुद्राको बहुत लोग चक्र भी कहते हैं। कोई-कोई योगी इसके सात भेद मानते हैं। यन्त्रवेत्ता योगियोंने यन्त्र भी बहुत प्रकारके कहा है। पीठको उत्पन्न करनेवाले आठ साधनोंमेंसे योगियोंने निजदेहको ही उत्तम कहा है। इन आठ अवलम्बनोंमें द्रव्यशुद्धि और मन्त्रशुद्धि द्वारा एवं मनका संयम करनेसे प्राणमयकोषमें पीठ उत्पन्न होता है। प्राणमयकोषमें पीठ प्रतिष्ठित होनेसे वहाँ निश्चय ही मेरी शक्तियोंका आविर्भाव होता है। किन्तु द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और मनःशुद्धि आदिके न होनेसे तथा उपासना और दिग्बन्धादि प्रयत्नसे पीठ-स्थानकी भलीभाँति रक्षा न हो तो उक्त भागमें पवित्रता आदिके अभावसे असुरों द्वारा अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं ॥२१॥

अब पीठका विशेष महत्त्व कह रहे हैं :—

अधिष्ठानस्थान होनेके कारण वह उपासनाका सहायक है ॥२२॥

तदुपास्तावपेक्ष्यमधिष्ठानभूमित्वात् ॥२२॥

पीठ देवताओंका अधिष्ठान स्थान है यह भलीभांति पहले ही सिद्ध हो चुका, इसकारण उपासनाकाण्डकेलिये वह बहुत ही सहायक है इसमें सन्देह नहीं। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमेंसे उपासनाकाण्ड, इन दोनोंका मध्यवर्ती है और प्राणमयकोषसे सम्बन्ध रखनेवाला पीठ भी स्थूलमृत्युलोक और सूक्ष्मदैवीलोकका मध्यवर्ती है, इसकारण जिसप्रकार उपासना-काण्ड मध्यवर्ती होनेके कारण कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका सहायक है, उसी प्रकार पीठ भी स्थूललोक और सूक्ष्मलोकके मध्यवर्ती होनेसे उपासनाकाण्डका परम सहायक है। उपासनाका तात्पर्य इष्टके निकटस्थ होना है। जितने प्रकारकी उपासना प्रणाली है, वे सब ही यथाधिकार दैवी सूक्ष्मराज्यसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। उपासनाके प्रधान पाँच भेद हैं उनमेंसे निकृष्ट प्रेतोपासना तक भी दैवीराज्यसे सम्बन्ध रखनेवाली है। शास्त्रोंमें उपासनाके पाँच भेदोंका इस प्रकारसे वर्णन है यथाः—

उपासना ब्रह्मणः प्राक् द्वितीया सगुणस्य च।
तृतीया स्मर्य्यते लीलाविग्रहोपासना बुधैः॥
उपान्त्या पितृदेवर्षि-गणानामस्त्युपासना।
अन्तिमा क्षुद्रदेवानां प्रेतादीनां विधीयते॥

अर्थात्—प्रथम निर्गुणब्रह्मकी उपासना है, दूसरी सगुणब्रह्मकी उपासना, तृतीय लीलाविग्रहोपासना, चतुर्थ पितृ, देवता और ऋषिगणोंकी उपासना और अन्तिम क्षुद्रदेवता प्रेतादिकी उपासना विहित है। प्रेतोंके रहने योग्य प्रेतलोक अथवा असुरलोक सभी

सूक्ष्मदैवीलोक हैं। देवता, ऋषि, पितरोंका लोक तो दैवीलोक है ही, अवतारोपासना और सगुणब्रह्मोपासना दोनों ही सगुण ब्रह्मोपासना है। सगुण उपासनाका सम्बन्ध ऊर्द्ध्व षष्ठ और सप्तम दैवीलोकसे रहता है और निर्गुणब्रह्मोपासनाका सम्बन्ध जबतक ध्यानभूमिसे सम्बन्ध रहता है तबतक उसका भी सम्बन्ध चतुर्दशभुवनसे रहता है, क्योंकि विराट् मूर्तिका ध्यान बिना चतुर्दशभुवनके सम्बन्धसे नहीं हो सकता है। इसकारण उपास्य, उपासक, सम्बन्धस्थापन करनेके लिए पीठकी सहायता अतिहितकारी होती है। दैवीशक्तियाँ चाहे कैसी ही हों, यथायोग्य पीठकी सहायतासे वह अवश्य पीठमें केन्द्रीभूत हो सकती हैं। चाहे ऋषि हों, चाहे देवता हों, चाहे पितृ हों, चाहे तामसिक देवयोनि असुरादि हों, चाहे क्षुद्र देवयोनि प्रेत आदिक हों, सब प्रकारकी देवयोनियाँ ही पीठमें अधिष्ठित की जा सकती हैं, इस कारण पीठके द्वारा उक्त दैवीराज्यकी देवयोनियोंका सान्निध्य करानेवाला पीठ ही हो सकता है। दूसरी ओर उपासनाके जो सोलह दिव्यदेश हैं, जिनका विस्तारित विवरण पूर्वसूत्रोंमें आ चुका है, वे सब प्रकारान्तरसे पीठ ही हैं, इसकारण पीठ उपासनाका परम सहायक है इसमें सन्देह नहीं ॥२२॥

अन्य विशेष कह रहे हैं :—

स्थूलसूक्ष्मका संयोजक होनेसे दैवजगत्का प्रमापक है ॥२३॥

दैवजगतः प्रमापकं स्थूल-सूक्ष्म-संयोजकत्वात् ॥२३॥

पीठके अनेक लाभोंमेंसे एक लाभ यह भी है कि, वह सूक्ष्मदैव-जगत्‌का प्रमापक है। मनुष्य अज्ञानदशामें दैवजगत्‌पर विश्वास नहीं करता है, इस कारण जगतकी विभिन्न मनुष्यजातिमें और मनुष्य-श्रेणीमें प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि दैवजगत्‌का ज्ञान प्रायः नहीं होता है, यदि कहीं दैवजगत्‌का ज्ञान कुछ प्रकाशित भी हो तो उसके विषयमें अनेक सन्देह होते हैं। वस्तुतः इस स्थूलमृत्युलोकमें दैवजगत्‌पर विश्वास होना सब जगह सम्भव नहीं है। दूसरी ओर दैवजगत् ही सबसे अधिक विस्तृत है, क्योंकि ऊपरके चौदह लोक और नीचेके चौदहलोक, इसप्रकारके चतुर्दशभुवनोंमेंसे केवल भूलोकका चौथवाँ हिस्सा यह मृत्युलोक है। भूलोकके चार ही हिस्से हैं—यथा मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक, इन चारोंमेंसे केवल मृत्युलोक स्थूल है बाकी सब दैवलोक हैं। अतः एक ब्रह्माण्डमेंसे मृत्युलोक जो छप्पनवाँ हिस्साका एक हिस्सा है, वही स्थूललोक है, बाकी सब दैवलोक है। इतना विस्तृत दैवलोकके साथ सम्बन्धस्थापन करनेका साधारण उपाय केवल पीठ ही है। यद्यपि योगादिके द्वारा दैवजगत्‌के साथ बहुत सुगमतासे सम्बन्धस्थापन हो सकता है, परन्तु वे सब उपाय असाधारण उपाय हैं। एकमात्र पीठ ही दैवजगत्‌के साथ सम्बन्ध स्थापन करनेका सहज उपाय है और वह कैसे होता है, उसका विस्तारित वर्णन पहले सूत्रोंमें कर चुके हैं। सुतरां अतिसुगमताके साथ दैवजगत्‌से सम्बन्धस्थापित करनेके उपयोगी होनेके कारण पीठ दैवजगत्‌का प्रमापक है, इसमें सन्देह नहीं।

पीठ स्थापित होते ही उसमें दैवीशक्तियोंका आविर्भाव होना निश्चित है। जब उपासनापीठ स्थापित हो जाय तो उपास्यदेव अथवा उनकी छोटी शक्तियोंका उसमें प्रकाश होना अवश्यम्भावी है। यदि स्थूलयान्त्रिक पीठ भी हो और वह अशुद्धरीतिसे अगर्भरूप अर्थात् मन्त्रादि रहित भी हो तो भी पीठ स्थापित होते हैं, यदि उसमें देवताओंका आविर्भाव न हो सके तो प्रेतादिका आविर्भाव अपने आप अवश्य ही हो जायगा। और ये सब क्रियायें सकल प्रकारसे ही प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, क्योंकि पीठोंमें स्वाभाविक क्रियाका संचार तुरन्त ही दिखाई पड़ता है।

उपासनापीठकी शक्तिका विकाश तो भक्तिमान् साधक अवश्य ही अनुभव करता है। सहजपीठ आदिका अनुभव तो दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष करने योग्य है। इन सब कारणोंसे यह मानना ही पड़ेगा कि पीठ अवश्य ही दैवजगत्का प्रमापक है ॥२३॥

तीर्थकी अन्यमहिमा कही जाती है :—

सत्त्वगुण विशिष्ट होनेसे वह तीर्थका प्रतिष्ठापक है ॥२४॥

जब यह पहले सिद्ध हो चुका है कि पीठ सत्त्वगुणप्रधान है, क्योंकि पीठमें रज और तमोगुणकी समता रहती है तो पीठको सत्त्वगुणमय कह सकते हैं। जहाँ सत्त्वगुण हैं वहाँ अवश्य पवित्रता होगी, जहाँ सत्त्वगुण है, वहाँ धृति शान्ति और ज्ञानका उदय होना

तीर्थप्रतिष्ठापकं सात्विकत्वात् ॥२४॥

भी स्वतः सिद्ध है। अतः पीठ तीर्थका स्थापन करनेवाला है, इसमें सन्देह नहीं। स्मृतिशास्त्रमें भी श्रीभगवान्ने कहा है कि :—

इह यावन्ति तीर्थानि तानि पीठानि संजगुः।
पीठशक्तियुतान्यत्र सन्ति तीर्थान्यनेकशः॥
केषुचित्तीर्थदेशेषु शक्तिर्मे सततं स्थिता।
केषुचित्तु यथाकालं भक्तिश्रद्धायुता नराः॥
आराधयन्ति तावद्धि मम शक्तिर्विनिश्चिता।
कतिचित् भक्तवश्यानि तीर्थानि तस्य भक्तितः॥
आविर्भवन्ति तत्रैव तिष्ठन्ति च तदिच्छया।
यथा सर्वेषु कायेषु गवां तिष्ठति गोरसः॥
तथापि गोस्तनादेव स्रवतीति विनिश्चितम्।
तथैव मामिका शक्तिर्विद्यमानापि सर्वतः॥
नित्यनैमित्तिकैः पीठैराविर्भवति भूतले।

अर्थात्—संसारमें जितने तीर्थ हैं, वे सब पीठ कहे जाते हैं। ऐसे पीठशक्तियुक्त अनेक तीर्थ संसारमें विद्यमान हैं। किसी-किसी तीर्थमें मेरी शक्ति निरन्तर रहती है। किसी-किसी तीर्थमें जबतक मनुष्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समय-समयपर आराधना करते हैं, तबतक मेरी शक्ति निश्चित रूपसे रहती है। कोई तीर्थ भक्तके अधीन रहते हैं, वे भक्तकी भक्तिसे आविर्भूत होकर उसकी इच्छासे वहीं विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार गौके सब शरीरमें गोरस होता है परन्तु स्तनसे ही निर्गत होता है, उसी प्रकार मेरी शक्ति सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी पृथिवीपर नित्य नैमित्तिक पीठों द्वारा आविर्भूत होती है।

यद्यपि तीर्थ भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे त्रिविध होते हैं, क्योंकि गुणोंका अन्तर्भाव सब जगह होना सम्भव है। दूसरी ओर अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिके विचारसे पीठ कई प्रकारके होते हैं। परन्तु वस्तुतः सत्त्वगुणके सम्बन्धसे ही पीठ बनता है और तीर्थ भी सात्त्विकभाव प्राधान्यसे ही स्थित रहा करते हैं। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि तीर्थसमूह पीठशक्तिके कारण ही बनते हैं और स्थायी रहते हैं।

पीठ सत्त्वगुण प्रधान होनेसे ही वह तीर्थका प्रतिष्ठाता होता है। पुनः तीर्थ नित्य, नैमित्तिक भेदसे द्विविध होता है। जहाँ तीर्थकी नित्यशक्ति विराजमान है, वह नित्यतीर्थ है और जहाँ नैमित्तिक शक्ति कुछ दिनोंकेलिये विराजमान है, वह नैमित्तिक तीर्थ कहाता है। स्वाभाविक दैवीकारणसे योगिजनोंकी तपस्याके फलसे अथवा मनुष्योंकी सभी मानसिक शक्तिके बलसे अथवा इन तीनोंमेंसे दो कारणोंसे अथवा एक कारणसे अथवा मिले हुए तीनों कारणोंसे संसारमें तीर्थका उदय होता है। तीर्थरूपी धर्म्मस्थान पृथिवीकी सब मनुष्यजातियोंमें और सब धर्मावलम्बियोंमें प्रकट हुआ करता है। भेद इतना ही है कि जो मनुष्यजाति या जो धर्म-मार्ग जितना उन्नत है उनके तीर्थ भी उतने उन्नत हुआ करते हैं। शास्त्रोंमें तीर्थको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया है—यथा स्थावर-तीर्थ, जङ्गमतीर्थ और मानसतीर्थ। मानसतीर्थ अन्तःकरणकी उस अवस्थाको कहते हैं, जब अन्तःकरणमें क्लिष्टवृत्तियाँ न रहें और अक्लिष्टवृत्ति प्रतिष्ठित हो जाय, ऐसी अवस्थामें उस साधु व्यक्तिका

अन्तःकरण तीर्थ बन जाता है और उसके निकट जो व्यक्ति आता है वह तीर्थदर्शनका लाभ उठाता है। साधुदर्शनका माहात्म्य इस दर्शनके स्थानान्तरमें विस्तारित रूपसे वर्णित हुआ है। जङ्गमतीर्थ ऐसे साधु ब्राह्मण ही कहाते हैं, जिनका अन्तःकरण सदा तीर्थमय बना रहता है, वे जङ्गमतीर्थ कहाते हैं और मानसतीर्थ उनमें तो नित्यरूपसे विराजमान रहता है और अन्य व्यक्तियोंमें भी नैमित्तिक रूपसे हो सकता है। परन्तु साधारणतः स्थावर तीर्थ ही तीर्थशब्द वाच्य होते हैं ॥२४॥

प्रसङ्गसे दैवजगत्का वर्णन किया जाता है :—

मुख्य देवता तीन हैं ॥२५॥

देवताओंके अधिष्ठान होने योग्य और दैवीजगत्का प्रमापक पीठका वर्णन करके अब उपासनासे जानने योग्य दैवजगत्का विस्तारित वर्णन पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कर रहे हैं। दैवजगत्में मुख्य देवता तीन हैं। यथा रजोगुणके अधिष्ठाता ब्रह्मा, सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु और तमोगुणके अधिष्ठाता रुद्र। स्मृतिमें भी कहा है :—

गुणेभ्यः क्षोभमानेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
एका मूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥

अर्थात्—ब्रह्म प्रकृतिमें गुणपरिणाम उत्पन्न होनेसे एक सगुण ईश्वरसे त्रिमूर्ति प्रकट हुई और वे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहलाये।

तिस्रोमुख्या देवताः ॥२५॥

वस्तुतः ब्रह्मा, विष्णु और महेश साधारण देवता नहीं हैं। वे सगुण ब्रह्म ही हैं। केवल रजोगुणके अनुसार सृष्टि, सत्त्वगुणके अनुसार स्थिति और तमोगुणके अनुसार लय करनेके लिये प्रत्येक ब्रह्माण्डमें तीनों मुख देवपद प्रकट होते हैं। ये तीनों देवता कहलाने पर भी वस्तुतः ये तीनों अपने-अपने अधिकारके अनुसार सगुण ब्रह्मपद ही हैं और इनके अधिष्ठाता मुख्य देवता कहाते हैं। इन्हीं त्रिमूर्तिके आज्ञाधीन रहकर प्रत्येक ब्रह्माण्डका यथाक्रम सृष्टिकार्य, स्थितिकार्य और लयकार्य हुआ करता है ॥२५॥

दैवजगत्का कार्यसम्पादनकरनेवाले देवताओंका वर्णन किया जाता है :—

तीनसे तैंतीस हैं और कार्यवैलक्षण्य होनेसे और भी अनेक हैं ॥२६॥

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें दैवीकार्यसम्पादनकेलिये मुख्य तीन देवताके अधीन तैंतीसपद प्रधान हैं और कार्यवैलक्षण्यसे उन तैंतीस देवताओंके अधीन पुनः अनेक देवता हैं। वेदोंमें प्रमाण अनेक मिलते हैं। यथा :—"त्रयोदेवा एकादशत्रयस्त्रिंशाः सुराधसः बृहस्पति-पुरोहिता देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा" समिद्धः इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्ववृद्धावधानः त्रिभिर्देवै स्त्रिंशताबज्रबाहुर्जघान वृत्रं विदुरोवषार"।

त्रयस्त्रिंशत् ततः प्रभूता अपि कार्य्यवैलक्षण्यात् ॥२६॥

अर्थात्—प्रधान तीन देवता एकादशरुद्र या तैंतीस देवता सुरगुरु बृहस्पतिको आगे करके अपनी दैवीशक्तिके प्रभावद्वारा सूर्य्यप्रेरणासे यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त मेरी रक्षा करें। तेजस्वी वज्रधारी इन्द्रने सूर्यकी तरह प्रकाशमान् तैंतीस देवताओंके साथ मिलकर वृत्रको हनन किया।

"त्रयश्च त्रीच शतात्रयश्च त्रीच सहस्रैतिमहिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशदेवदेवा:"

तिस्रः कोस्यस्तु रुद्राणामादित्यानां दश स्मृताः।
अग्नीनां पुत्रपौत्रं तु सङ्ख्यातुं नैव शक्यते॥

तैंतीस देवता प्रधान हैं बाकी सहस्रों देवता उनकी विभूति हैं। एकादश रुद्रोंकी विभूति तीन कोटि देवता हैं, द्वादश आदित्योंकी विभूति दशकोटि देवता हैं। अग्निके पुत्र पौत्रोंकी तो सङ्ख्या ही नहीं हो सकती है। इस प्रकारसे पूर्वोक्त प्रमाणोंके अनुसार तैंतीस देवता और उनके अधीन असङ्ख्य देवताओंका होना वेद और शास्त्रोंसे प्रमाणित होता है। प्रधान तैंतीस देवताके नामोंके विषयमें श्रुतिस्मृतिमें इस प्रकारसे पाये जाते हैं—यथा :—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृता॥

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, नल, प्रत्युष, प्रभास, एकादश रुद्रोंके नाम यथा :—

अजैकपादहिर्बुध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वराः।

जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बको अपराजितः ।
वैवश्वतश्च सावित्री हरो रुद्रा इमे स्मृताः ॥

अर्थात्—अजैकपाद, अहिर्वुध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवश्वत, सावित्र और हर, ये एकादश रुद्र हैं। द्वादश आदित्योंके नाम यथा :—

भर्गोऽन्शश्चार्यमा चैव मित्रश्च वरुणस्तथा ।
सविता चैव धाता च विवश्वांश्च महाबलः ॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
इत्येते द्वादश आदित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥

भर्ग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान् त्वष्टा पूषा, इन्द्र और विष्णु ये द्वादश आदित्य हैं। ये सब मिलकर तैंतीस देवता होते हैं। किसी किसीके मतमें प्रजापतिके स्थलपर यमको माना है। इस प्रकारसे त्रिमूर्तिके अधीन ये तैंतीस देवता प्रधान पदधारी रूपसे ब्रह्माण्डका दैवकार्य सम्पादन करते हैं ॥२६॥

उनके अधीन पुनः कोटि-कोटि नित्य नैमित्तिक देवतागण देव-देवीके भेद वर्णन कर रहे हैं :—

चित् प्रधानसे देव और सत् प्रधानसे देवियाँ हैं ॥२७॥

सच्चिदानन्द भगवान्‌का यह विश्व सच्चिदानन्दमय है। जिस प्रकार चेतनसृष्टि चित् प्रधान और जड़सृष्टि सत् प्रधान है और आनन्द दोनोंमें व्याप्त है, उसीप्रकार देवतामें चित्‌का प्राधान्य और

चित्सत्प्राधान्याद्देवदेव्यौ ॥२७॥

देवीमें सत्का प्राधान्य होना दर्शनशास्त्र अनुमोदित है। जैसे ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका सम्बन्ध विज्ञानसिद्ध है, उसीप्रकार देवता और देवीका सम्बन्ध विज्ञानसिद्ध है। मुख्य देवता और मुख्यदेवीके विषयमें जो अलौकिक रहस्य स्मृतिशास्त्रमें निम्नप्रकार वर्णित है :—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते॥

अर्थात्—वह जगन्मूर्ति नित्या है उसीसे जगत् व्याप्त है तथापि उसकी उत्पत्ति होती है, देवताओंकी कार्यसिद्धिके अर्थ जब उनका आविर्भाव होता है, तब वह नित्या उत्पन्न होती है, ऐसा कहा जाता है। और भी कहा है—

इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः।
चकार कोपं शम्भुश्च भ्रुकुटीकुटिलाननौ॥
ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणोवदनात् ततः।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च॥
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत॥
अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्॥

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम् ।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥
यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम् ।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा ॥
सौम्येन स्तनयो र्युग्मं मध्यमैन्द्रेण चाभवत् ।
वारुणेन च जङ्घोरू नितम्बस्तेजसा भुवः ॥
ब्रह्मणस्तेजसा पादौ तदङ्गुल्योऽर्कतेजसा ।
वसूनाञ्च करांगुल्यः कौवेरेण च नासिका ॥
तस्यास्तु दन्ताः सम्भूताः प्राजापत्येन तेजसा ।
नयनत्रितयं यज्ञे तथा पावकतेजसा ॥
भ्रुवौ च सन्ध्ययोस्तेजः श्रवणावनिलस्य च ।
अन्येषाञ्चैव देवानां सम्भवस्तेजसां शिवा ॥

अर्थात्—इस प्रकार देवताओंके वचन सुनकर विष्णु महादेव क्रुद्ध हो गये उससमय उनका मुखमण्डल भ्रुकुटि द्वारा कुटिल हो चुका। तदनन्तर अतिक्रोधसे पूर्ण, विष्णु, ब्रह्मा, शङ्करके बदनसे महत् तेज निकलने लगा। उससमय इन्द्रादि देवतागणसे भी अतीव तेज निकलने लगा और सब तेज एकत्रित होने लगे। ये सब तेज-समूहने अपनी शिखासे दिङ्मण्डल व्याप्त कर लिया। देवतागणने इसको ज्वलन्त पर्वतके समान देखा। तदनन्तर वे सब देवताओंसे सम्भूततेज एकत्रित होकर एक स्त्री बन उनकी कान्तिद्वारा त्रिलोक परिव्याप्त हो उठा। शम्भुके द्वारा उस स्त्रीशरीरका मुखमण्डल विकशित हुआ एवं यमतेज और विष्णुतेज

द्वारा पराक्रम, केश और बाहु उत्पन्न हुए। चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण एवं पृथिवीके तेज द्वारा यथाक्रम स्तनयुगल, मध्यभाग, जङ्घा उरुदेश एवं नितम्बदेश निर्मित हुआ। ब्रह्मा, सूर्य, अष्टवसु और कुबेर आदिके तेजसे यथाक्रम चरणद्वय उसके अङ्गुलीसमूह एवं नासिका उत्पन्न हुई। प्रजापति और दक्ष आदिके तेज-द्वारा देवीका शरीर और दन्त उत्पन्न हुए तथा अग्निके तेज द्वारा दोनों नेत्र उत्पन्न हुए सन्ध्यातेज द्वारा भ्रूद्वय, वायुतेज द्वारा दोनों कर्ण तथा अन्यान्य देवतागणके तेज-पुञ्जसे शिवाके अन्यान्य अवयव उत्पन्न हुए।

प्रधानदेवी देवजननीकी उत्पत्तिका रहस्यपाठ करनेसे यह सूत्रोक्त विज्ञान स्वतः ही प्रमाणित होता है। नित्यनैमित्तिक देवपदोंमें देवियोंका सम्बन्ध ऐसे ही समझना उचित है।

जैसे देवपद नित्य और नैमित्तिक हैं, वैसे देवीपद भी नित्य और नैमित्तिक हुआ करते हैं ॥२७॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

शक्तिवैचित्र्यसे देवताओंमें वैचित्र्य है ॥२८॥

देवताओंके स्वरूप निर्णय करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि देवता अनेक श्रेणीके हैं, उनमें शक्तिवैचित्र्य होनेसे उनका इस प्रकारका होना स्वतः सिद्ध है। प्रेतलोक और पितृलोकसे लेकर उच्च सप्तमलोकतक और नीचेके सातों लोकोंतक सब ही देव-

---

शक्तिवैचित्र्याद्वैचित्र्यं देवानाम् ॥२८॥

लोक हैं; वस्तुतः मृत्युलोकके अतिरिक्त सब लोकोंको ही देवलोक कह सकते हैं। प्रेतलोकके चालक वैतालादि नरकलोकके चालक यमदूतादि भी एक निम्न श्रेणीके देवता हैं। असुरलोकके अधिवासी असुरगण भी एक श्रेणीके देवता हैं। असुरलोक भी बहुत हैं इस कारण वहाँ भी तारतम्य है। यहाँतक कि प्रेतलोकमें राजवेतालादिके अनेक श्रेणीभेद हैं। दूसरी ओर भू-भुँवःस्व आदि लोकोंके भेदसे देवताओंकी शक्ति और अधिकारके अनेक भेद हैं। भू-भुँवःस्वः आदि लोकोंमें भी अनेक अन्तर्लोक हैं। इनके हिसावसे भी देवताओंके अनेक श्रेणीविभाग हैं। चतुर्विधभूतसङ्घकी चौरासी-लक्ष योनियोंके हिसावसे उनके रक्षक और चालक देवताओंमें शक्ति-वैचित्र्य और श्रेणीवैचित्र्य अनेक हैं। ऊपरके परम शक्तिशाली इन्द्र, वरुण, कुवेर, वसु, रुद्र आदि देवनायकोंमें भी शक्तिवैचित्र्य है। अतः उनमें भी वैचित्र्य अवश्यम्भावी है। इस कारण जैसे इस मृत्युलोकमें मनुष्यसमाजके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य, अनार्य, राजा, राजकर्मचारी, प्रजा, किरात, भील, साधु, असाधु रूपसे मनुष्ययोनिमें शक्तिवैचित्र्यसे अनेक अधिकार वैचित्र्य हैं, ठीक उसीप्रकार सूक्ष्म देवलोकवासी देव-देवियोंमें शक्तिवैचित्र्यके कारण अनेक वैचित्र्य हैं और ऐसा होना भी स्वतःसिद्ध है ॥२८॥

उनकी श्रेणी आदिका वर्णन किया जाता है :—

वे वर्णधर्मके आश्रित और सात श्रेणीमें विभक्त होते हैं ॥२९॥

ते वर्णधर्माश्रिताः सप्तधा विभक्ताश्च ॥२९॥

यह पहले ही कह चुके हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्ति वस्तुतः सगुण ब्रह्म हैं, वे साधारण देवतापदवाच्य नहीं हैं। उनके अतिरिक्त मुख्य तेंतीस देवता अथवा और जो लक्ष लक्ष नित्य नैमित्तिक देवतागण हैं, वे सब वर्णधर्मसे युक्त हैं और सब प्रकारके देवताकी अनेक श्रेणी होने पर भी मुख्यतः उनकी सात श्रेणियाँ हैं। जैसे नित्य स्थित आर्य्यजातिके मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण हैं उसीप्रकार देवतागणमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, इन चार वर्णोंके देवता देखनेमें आते हैं। प्रकृतिके सप्तस्तर स्वाभाविक होनेके कारण देवताओंकी साधारणतः सप्त-श्रेणियाँ हैं। सप्त ऊर्द्धलोकोंकी सप्तश्रेणी तो स्वतः सिद्ध है, उसके अतिरिक्त प्रत्येक लोकमें भी श्रेणीविभाग हैं, क्योंकि प्रत्येक ऊर्ध्वलोकमें भी अनेक अन्तर्लोक विभाग हैं। दूसरी ओर देवताओं-के वर्णधर्मके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं यथाः—

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ॥
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्॥

आदित्यगण क्षत्रियदेवता, मरुद्गण वैश्यदेवता, अश्विनीगण शूद्र देवता हैं, और अङ्गिरस देवतागण ब्राह्मणदेवता हैं। इसप्रकारसे देवताओंके चार वर्ण हैं। यथाः—श्रुतिमें भी लिखा है :—

प्रजापतिरकामयत प्रजायेयइति स मुखतस्त्रिवृत्तं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृजत, ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां

तस्मात्ते मुख्याः। बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवता अन्वसृजत राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां तस्मात् ते वीर्यवन्तो मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां सोऽन्येभ्यो भूमिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम्।

अर्थात्—प्रजापतिने सृष्टिकी इच्छा करके मुखसे तीन प्रकारकी सृष्टि की। यथा—देवताओंमें अग्नि, मनुष्योंमें ब्राह्मण और पशुओंमें छाग ये सृष्टि ब्राह्मणवर्णा थी। बाहुसे की हुई सृष्टि क्षत्रिय हुई यथा देवताओंमें इन्द्र, मनुष्योंमें क्षत्रिय, पशुओंमें मेष। मध्यसे जितनी सृष्टि की, वे सब वैश्य हुई, यथा देवताओंमें विश्वेदेवा मनुष्योंमें वैश्य, पशुओंमें गौ। तदनन्तर पादसे बहुत सृष्टि की, वे सब शूद्र हुये, उनमेंसे बहुतसे देव, मनुष्य और पशुओंमें अश्व थे ॥२६॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

वे क्रमोन्नति पतन और परिवर्तन नियमके अधीन होते हैं ॥३०॥

वस्तुतः देवतागण ही एक ब्रह्माण्डके सच्चे पालक हुआ करते हैं। असुरोंके बल और पराक्रमको दबाना इनको अपने अधिकारसे आगे बढ़ने देकर सृष्टिको भ्रष्ट न करने देना, कर्मकी शृङ्खला बाँधकर ब्रह्माण्डको ठीक रखना, चतुर्दशभुवन तथा उनके अन्तर्गत नाना-लोकोंकी सुव्यवस्था करना त्रिमूर्तिरूपी ब्रह्माण्डके ईश्वरके आज्ञा-

उन्नत्यवनतिपरिवर्तननियमायत्ताश्च ॥३०॥

धीन रहकर ब्रह्माण्डके सृष्टिस्थिति और लयको ठीक चलाना और प्रत्येक ब्रह्माण्डके ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार नियमबद्ध अवस्थाको ठीक रखना इत्यादि गुरुतर कार्योंका भार देवताओंपर निर्भर है। सुतरां उनका दायित्व ब्रह्माण्डके साथ होनेसे कर्मफलका सम्बन्ध भी उनके साथ नियमित रहता है। यही कारण है कि देवतागण अपने नित्य और नैमित्तिक अधिकारके अनुसार अपने अपने पदका कार्य करते हुये क्रमोन्नति, पदपरिवर्तन और अवनतिके अधिकारी बने रहते हैं। अपने अपने पदोंके अधिकारके अनुसार ठीक ठीक कार्य निर्वाह करनेपर वे एक देवपदसे दूसरे उन्नत देवपदमें उन्नतिको प्राप्त किया करते हैं, उनका समय बीत जानेपर वे अन्यलोक या अन्य पदपर चले जाते हैं और उनके पदपर दूसरा कोई अधिकारी परिवर्तित होकर आ जाता है। यदि कोई देवपदाधिकारी अपने देवपदके कर्तव्योंको ठीक ठीक पालन न करे तो उनका निम्नलोक अथवा निम्नपदोंमें पतन होना भी स्वतः सिद्ध है। जैसे एक साम्राज्यके अधिपति सम्राट्के अधीन रहकर उस राज्यके नानाप्रकारके पदधारी यथा मन्त्री, कोषाध्यक्ष, न्यायाधीश, सेनापति आदि अपना अपना कार्य सुव्यवस्थाके साथ करके सम्राट्की ही आज्ञा पालन करते हैं और सम्राट् उनके कार्यसे प्रसन्न होकर उनकी उन्नति करते हैं और यदि वे अपना अपना कर्तव्य ठीक पालन न करें तो उनकी अवनति कर देते हैं:—ठीक उसीप्रकार पदधारी देवतागण स्वधर्म पालनसे उन्नति, समय बीत जानेपर परिवर्तन और कर्तव्यभ्रष्ट होनेपर पतनको प्राप्त हुआ करते हैं। इस विषयके शास्त्रीय प्रमाण बहुत मिलते हैं यथा :—

यथातिरपि पूर्वेषां राज्ञां वृत्तमनुष्ठितः।
बहुवर्षसहस्रायुः युयुजे कालधर्मणा॥
पुरुर्यदुश्च द्वौ वंशौ वर्द्धमानौ नरोत्तमौ।
ताभ्यां प्रतिष्ठितो लोके परलोके च नाहुषः॥
महीपते नरपतिर्ययातिः स्वर्गमास्थितः।
महर्षिकल्पो नृपतिः स्वर्गाग्र्यफलभुग्विभुः॥
बहुवर्षसहस्रेषु काले बहुमुखे गते।
राजर्षिषु निषण्णेषु महीपः सुमहर्द्धिषु॥
अवमेने नरान् सर्वान् देवानृषिगणांस्तथा।
ययातिर्मूढविज्ञानो विस्मयाविष्टचेतनः॥
समुहूर्त्तादत्र नृपो हतोजाश्चाभवत्तदा।
अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः
कम्पितेनैव मनसा धर्षितः शोकवह्निना॥

अर्थात्—नृपति ययातिने बहुत दिनों तक राज्यपालन करके पुरु और यदुके दो वंश स्थापन करनेके बाद स्वर्गगमन किया। स्वर्गमें बहुत दिनोंतक भोग किया। परन्तु ऋषियोंके अपमान करनेसे स्वर्गसे भ्रष्ट हुये। इसी तरह गीताशास्त्रमें भी वर्णन है :—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते,
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

सामादि वेदशास्त्रज्ञ सोमयायी पापरहित ब्राह्मणगण यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करके स्वर्गलोककी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यके द्वारा स्वर्गलाभ करते हैं और दिव्यभोग उपभोग करते हैं।

इसी तरह स्वर्गभोग करके जब पुण्यक्षीण होता है तब फिर मर्त्यलोकमें लौटते हैं ॥३०॥

प्रसङ्गसे असुरोंका देवत्वसिद्ध किया जाता है :—

शक्तिके विचारसे असुर भी एक श्रेणीके देवता हैं ॥३१॥

ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंमें देवताओंकी जैसी शक्ति है, अधः सप्तलोकोंमें असुरोंकी भी वैसी शक्ति रहती है।

शक्तिके विचारसे देवता और असुर समान ही हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। इस सूत्रमें जो 'अपि' शब्दका प्रयोग हुआ है उसका विज्ञान यह है कि गुण और अधिकारके विचारसे देवता और असुरमें महान् भेद है, परन्तु दैवीशक्तिके विचारसे असुर भी एक श्रेणीके देवता हैं, ऐसा कह सकते हैं, ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंमेंसे भूलोकके पितृलोक, प्रेतलोक आदि विभागसे लेकर भूर्भुवःस्व आदि सप्तलोकोंमें क्रमशः उच्चाधिकारके देवता वसते हैं और देवलोकका ब्रह्माण्ड-सम्बन्धीय सब कार्य वे सम्पादन करते रहते हैं।

देवराजकी राजधानी तृतीय स्वर्लोकमें है। दूसरी ओर अतल, वितल, सुतल आदि अधः सप्तलोकमें नाना श्रेणीके असुर

असुराणामपि देवविशेषत्वं विशिष्टशक्तिमत्वात् ॥३१॥

वास करते हैं, असुरराजकी राजधानी अधः सप्तलोक पातालमें स्थित है, देवासुरका संग्राम इस मृत्युलोकमें सदा होता रहता है। जितने मनुष्य-पिण्ड हैं, वे देवासुर संग्रामके किले हैं, उनको कभी देवता अधीन कर लेते हैं कभी असुर अधीन कर लेते हैं। जब मनुष्य अन्तःकरणरूपी किलोंको अन्तर्जगतमें रहनेवाले असुर अधिकार करते हैं, तब दम्भ दर्प आदि आसुरीवृत्ति कार्य करने लगती है और जब उन किलोंको देवता अधीन कर लेते हैं, तब अभय, ज्ञानका प्रकाश, संयम, शान्ति, अहिंसा आदि दैवी वृत्तियोंका उदय मनुष्योंमें दिखायी देता है। इस प्रकारका देवासुरसंग्राम इस मृत्युलोकमें सदा दिखायी देता है यह तो प्रत्यक्ष ही है और इस मृत्युलोकमें प्रत्यक्ष देवासुरसंग्राम भी नैमित्तिक रूपसे हुआ करता है, उस समय देवताके अवतार और असुरके अवतार उत्पन्न होकर प्रत्यक्ष युद्ध किया करते हैं।

श्रीरामचन्द्र और रावणयुद्ध, महाभारतके युद्ध इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। सूक्ष्म अन्तर्जगतमें भी नैमित्तिकरूपसे देवासुरसंग्राम हुआ करता है, जिसका उदाहरण स्मृतिशास्त्रमें दिया गया है। यथा :—

तथा देवासुरं युद्धं मध्ये मध्येऽत्र जायते।
असुराः कर्मव्यत्यासाद्‌ देवाञ्जित्वा स्वशक्तितः॥
कियन्तमधिकारञ्च तेषां ते कुर्वते स्वयम्।
देवा अपि प्रसादान्मे पुनर्जित्वाऽसुरांस्तथा॥
स्वाधिकारं समाश्रित्य पुनर्नन्दन्ति निर्भयाः।

देवानाञ्चासुराणाञ्चाधिकारे साम्यतां गते ॥
ब्रह्माण्डेषु च धर्मस्य स्थितिर्याथार्थ्यतो मता ॥

अर्थात्—श्रीभगवान् पितरोंसे कहते हैं कि बीच बीचमें देवासुर-संग्राम हुआ करता है। असुरगण कर्मके विपर्ययद्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाकर देवताओंको जीत लेते हैं और उनके कितने ही अधिकार स्वयं चलाने लगते हैं। देवतागण भी पुनः मेरे प्रसादसे असुरोंको जीतकर अपना अधिकार पाते हैं और निर्भय होकर आनन्दसे रहने लगते हैं। देवता और असुरोंकी अधिकारकी साम्यता होनेपर ब्रह्माण्डमें धर्मकी यथार्थरूपसे स्थिति होती है ॥ ३१ ॥

ऐसे ही :—

यहाँ तक कि प्रेत भी उसी हेतुसे देवयोनि हैं ॥३२॥

स्थूल मृत्युलोकके अतिरिक्त चतुर्दश भुवनोंमें जितने सूक्ष्मलोक हैं, उनके सब जीव ही देवयोनि हैं। प्रेतयोनि सब योनियोंमें निकृष्ट है, प्रेतलोक दुःखप्रद है तो भी प्रेतयोनि देवयोनिके अन्तर्गत है, इसमें सन्देह नहीं। भूलोकके चार अंश हैं, वे चार लोक मृत्यु-लोक, नरकलोक, प्रेतलोक और पितृलोक कहाते हैं। उनमेंसे मृत्युलोक स्थूललोक है और बाकी सब सूक्ष्मलोक हैं। तीनों सूक्ष्मलोकोंमेंसे नरक, प्रेत ये दोनों दुःखपूर्ण लोक हैं और पितृलोक सुखपूर्ण लोक है। इन तीनों सूक्ष्मलोकोंमेंसे प्रेतलोक मृत्युलोकमें

प्रेता अप्येवम् ॥३२॥

ही है अर्थात् प्रेतयोनि मनुष्ययोनियोंके आसपास ही वास करती है। प्रत्येक नगर, ग्राम, वन-उपवन आदिमें ही प्रेतोंका निवास है। प्रेतकी अनेक श्रेणियाँ हैं उनमेंसे सात श्रेणियाँ प्रधान हैं, प्रेतोंके रक्षक बेताल और राजबेताल कहाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्यसमाजकी सुरक्षाके लिये नानाश्रेणीके राजा पदाधिकारी नियुक्त रहा करते हैं, ठीक उसीप्रकार प्रेतलोककी सुरक्षाके लिये बेताल राजबेताल और यमदूतादि अपने अपने पदोंपर स्थित रहकर प्रेतलोककी सुव्यवस्था किया करते हैं। प्रेतोंके कर्मानुसार उनपर ठीक ठीक अनुशासन करना उनको कुकर्मसे रोकना, उनको उनके कर्म तथा अधिकारानुसार चलाना इत्यादि कार्य इन पदाधिकारियोंके द्वारा हुआ करता है। मनुष्य मृत्युके अनन्तर प्रायः प्रेतयोनिको प्राप्त हुआ करता है। इसकारण एक वर्षतक प्रेतश्राद्ध करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें पायी जाती है। पुण्यात्मा ज्ञानी अथवा मृत्युसमय सावधान मनुष्य प्रेतयोनिको प्राप्त नहीं होते हैं। प्रेतलोकके कष्टपूर्ण और अन्धकारपूर्ण भोगोंको भोगकर जीव अधिक पापी होनेपर नरकलोकको प्राप्त होते हैं और पुण्यवान् होनेपर पितृलोकको प्राप्त होता है। अधिक पुण्यवान् मनुष्य अवश्य ही भूर्भुवःस्वर्लोक आदि उन्नतदिव्यलोकोंको प्राप्त किया करता है, जिस प्रकार असुर और देवतागण मनुष्यपर अपना आधिपत्य जमा सकते हैं अथवा आविष्ट हो सकते हैं, उसीप्रकार प्रेतगण भी अपवित्र, उन्मत्त, पापी, असावधान अथवा भीरु मनुष्यपर अपना आधिपत्य जमा सकते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेदशास्त्रमें नानाप्रकारके

उन्मादोंमें प्रेतोन्माद भी एक प्रकारका उन्माद है, ऐसा माना गया है। यथा :—

देवविप्रगुरुद्वेषी वेदवेदाङ्गविच्छुचिः ।
आत्मपीड़ाकरोऽहिंस्रो ब्रह्मराक्षससेवितः ॥
उद्धस्त्रः कृशपरुषो विरुद्धभाषी
दुर्गन्धोभृशमशुचिस्तथातिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥

अर्थात्—जो देवता ब्राह्मण और गुरुसे द्वेष करता है, वेद वेदान्तके ज्ञाता और अपनेको पीडन करते हैं, हिंसा नहीं करनेवाले वह ब्रह्मराक्षस सेवित है, ऐसा समझना चाहिये।

जो उर्द्धवस्त्रवाला है और कर्कश विरुद्ध बोलता है, सर्वदा दुर्गन्धयुक्त है और प्रत्येक समय अपवित्र चञ्चल रहता है, बहुत भोजन करता है एक निर्जन वनसे दूसरे वनमें घूमता फिरता है रोरोकर दौड़ता है ऐसे मनुष्यको पिशाच सेवित समझना चाहिये।

देवयोनियोंकी रीतिपर प्रेतगण भी सूक्ष्मदेहधारी होते हैं। और इच्छा करनेपर तथा उनमें प्रबलशक्ति होनेपर वे स्थूलदेहको बना सकते हैं। भेद इतना ही है कि देवतागण सब स्थानोंपर आना जाना कर सकते हैं और प्रेतगण केवल वायुसे सम्बन्धयुक्त स्थानमें आ जा सकते हैं अर्थात् यदि कोई घर किवाड़ आदिसे बन्द हो किन्तु उसमें वायु आने जानेका छोटा-सा भी छिद्र हो तो उसमें भी प्रेत आ सकता है। परन्तु वायुके आने जानेका द्वार

एकदम बन्द होनेसे उसमें प्रेत नहीं आ सकता, देवलागण आ सकते हैं। विशेष बलवान् प्रेत देवताओंकी रीतिपर नानाशरीर भी धारण कर सकते हैं, अतः प्रेतयोनि तक देवयोनिके अन्तर्गत है ऐसा मान सकते हैं ॥३२॥

सर्वोपरि त्रिमूर्तिकी विशेषता कही जाती है :—

ईश्वर होनेसे त्रिमूर्ति वैसी देवता नहीं है ॥३३॥

तैंतीस प्रधान देवता तथा अन्यान्य पदधारी नित्य नैमित्तिक देवता, असुरसे लेकर प्रेतयोनितकको देवयोनिके अन्तर्गत सिद्ध करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार त्रिमूर्तिकी विशेषता वर्णन कर रहे हैं। कहीं जिज्ञासुओंको यह सन्देह न हो कि, कदाचित् अन्य-देवयोनियोंकी रीतिपर भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, भगवान् रुद्र देव भी वैसे ही साधारण देवशरीर विशिष्ट देवता हैं, ऐसी शङ्काओं-का अवसर न हो इसलिये इस सूत्रका आविर्भाव किया गया है। वस्तुतः प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उस ब्रह्माण्डके नायकरूपसे त्रिमूर्ति सगुण ब्रह्म ही हैं। इस दर्शनशास्त्रने श्रीभगवान्के स्वरूपको तीन भागोंमें वर्णन किया है। जिसका विस्तारित वर्णन इस दर्शनके स्थानान्तरमें प्राप्त होगा। उनका अध्यात्मस्वरूप सर्वव्यापक, गुणातीत अद्वैतभावापन्न ब्रह्म है। अपनी ईक्षणशक्तिसे प्रकृतिको कार्यकारिणी बनानेवाला अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक जो उनका सगुणस्वरूप है वही मायाधीश स्वरूप ईश्वर कहाता है और वही

त्रिमूर्ति नैवमीश्वरत्वात् ॥३३॥

अधिदैव है और प्रवाहरूपसे अनादि अनन्त ब्रह्माण्डोंके पुञ्जसहित जो उनका स्थूलरूप है वही विराट् कहाता है। इन तीनों स्वरूपोंका सामञ्जस्य प्रकाशित करके सगुणत्व प्रतिपादक जो अधिदैव प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अधिनायकत्व करते हैं, वही त्रिमूर्ति कहाती हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें इन त्रिमूर्तियोंके सिवाय और कोई सगुणब्रह्म अनुभवगम्य नहीं हो सकता। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उक्त ब्रह्माण्डके अध्यात्म—अधिदैव और अधिभूत, तीनों स्वतन्त्र विभागोंके अनुसार तीनों विभागोंके नायक रूपसे जो ऋषिगण, देवगण और पितृगण अपने अपने कार्यमें नियुक्त रहते हैं, वे तीन श्रेणीके देवतागण इन्हीं त्रिमूर्तिके आज्ञाधीन रहकर सब कार्य करते हैं और पक्षान्तरसे इन्हींके अङ्गरूप हैं इसमें सन्देह नहीं। सगुण पञ्चो-पासनाके अनुसार जो विष्णु, शिव, देवी, गणपति और सूर्यके सगुण पाँच लोक हैं, वे भी इन्हीं लोकोंके अन्तर्गत हैं, ये त्रिमूर्ति पञ्चोपासनाके अनुसार जैसी जिस भक्तकी उपासना होती है, उसको उसी रूपमें दर्शन देकर कृतकृत्य करते हैं। वेदोंमें और पुराण आदि शास्त्रोंमें जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डप्रसविनी ब्रह्मशक्ति महामाया और परमब्रह्म जगदीश्वरका वर्णन आता है, उनका सब प्रकारका कार्य प्रत्येक ब्रह्माण्डमें इन्हीं त्रिमूर्तिके द्वारा सुसम्पन्न हुआ करता है। श्रीभगवान्ने इसी कारण निजमुखसे कहा है :—

ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यं त्रिमूर्तिं त्रिगुणात्मकम्।
यदाऽहं पितरो धृत्वा स्वशक्तेरवलम्बनात्॥

आददे सगुणं रूपं तिस्रस्ता एव मूर्तयः ।
प्राधान्यं सर्वदेवेषु धरन्त्योऽलं भवन्ति ते ॥
ब्रह्माण्डे किल प्रत्येकं मुख्या देवा न संशयः ।
आवहन्तस्त्रिदेवाख्यां प्राशस्त्यं यान्ति सर्वथा ॥
अस्य मूर्तित्रयस्यास्ते प्रतिब्रह्माण्डवर्तिनः ।
नैव भेदो मया सार्द्धं वस्तुतः कश्चिदप्यणुः ॥
एतदेवाधिदैवं हि मुख्यं मूर्तित्रयं मम ।
प्रोच्यते पितरो विज्ञैः प्रतिब्रह्माण्डमीश्वरः ॥

अर्थात्—हे पितृगण ! ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी त्रिगुणात्मक त्रिमूर्तिको धारण करके अपनी शक्तिकी सहायतासे सगुण होता हूँ, तो वही त्रिमूर्ति सर्वदेवप्रधान होकर प्रत्येक ब्रह्माण्डमें निःसन्देह प्रधान देवता कहाते हैं और त्रिदेवनामको धारण करके सर्वथा प्रसिद्ध होते हैं। वास्तवमें प्रत्येक ब्रह्माण्डके इन त्रिमूर्तियोंमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। हे पितृगण ! ये तीनों प्रधान अधिदैव-मूर्ति ही प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ईश्वर कहाते हैं। सुतरां यह सिद्ध है कि त्रिमूर्ति सगुण ब्रह्म ही है और वे ईश्वर होनेसे उनकी गणना साधारण देवश्रेणीमें कदापि नहीं हो सकती है ॥३३॥

प्रसङ्गसे देवयोनिकी विशेषता कही जाती है :—

वे अवाह्य प्रत्यक्ष होते हैं ॥३४॥

एतेषामवाह्यप्रत्यक्षगोचरत्वम् ॥३४॥

पिण्ड तीन प्रकारका होता है। यथा सहजपिण्ड, मानवपिण्ड और देवपिण्ड। उनमेंसे यद्यपि सहजपिण्ड और मानवपिण्डमें दिन और रात्रिका भेद है। परन्तु सहजपिण्डरूपी उद्भिज स्वेदज आदि जीवोंके स्थूलशरीर और मनुष्यका शरीर दोनोंमें ही पृथिवीतत्त्वकी प्रधानता है इस कारण वे दोनों लौकिक प्रत्यक्षगम्य हैं परन्तु दैवपिण्डमें अन्यभूतोंकी प्रधानता रहनेके कारण वे पिण्ड लौकिक प्रत्यक्षगम्य नहीं है, वे केवल अलौकिक प्रत्यक्षगम्य हो सकते हैं। यही कारण है कि देवपिण्ड अबाह्य प्रत्यक्ष होते हैं। स्मृतिशास्त्रमें तीनों पिण्डोंके नाम और लक्षणके विषयमें इस प्रकारसे वर्णन है :—

सहजो मानवो दैवो जीवपिण्डस्त्रिधा मतः।
मर्त्येभ्यश्चेतरे निम्ना भूतसङ्घाश्चतुर्विधाः॥
यैस्तु कर्मफलं पिण्डैर्भुञ्जते सहजा हि ते।
मर्त्योपयुक्तपिण्डा हि कथ्यन्ते मानवाभिधाः॥
दैवपिण्डाश्च ये व्याप्ता भुवनानि चतुर्दश।
वर्तन्ते पितरो दैव-भोगायतनरूपिणः॥
त्रिविधा एव नन्वेते वर्तन्ते पाञ्चभौतिकाः।
उपादानेषु किन्त्वेषां प्रभेदो वर्तते महान्॥
रीतिभिः सहजाभिर्वै पिण्डास्ते सहजाभिधाः।
निर्मीयन्त उपादानैः पार्थिवैरेव केवलैः॥
सूक्ष्मैर्दैवैरुपादानैर्यथा - योग्याधिकारतः।
निर्मीयन्ते न सन्देहो दैवाः पिण्डाः पृथग्विधाः॥

प्रकृत्याऽलौकिकी दैवी शक्तिस्तत्र विराजते।
नैवात्र विस्मयः कश्चित्संशयो वा विधीयताम् ॥
भवद्भिशिष्टसाहाय्याल्लब्धानां किन्तु भूतिदाः।
पिण्डानां मानवीयानां वैलक्षण्यं किमप्यहो ॥
एते शक्तिविशेषाणां वर्तन्ते पितरो ध्रुवम्।
आकर्षणोपयोगित्वाच्चतुर्वर्गफलप्रदाः ॥
निःश्रेयसफलोत्पन्नकारिणो विटपस्य हि।
मानवीयो हि पिण्डोऽयं बीजमास्ते न संशयः ॥

अर्थात्—सहज, दैव और मानवरूपसे पिण्ड त्रिविध होते हैं। सहजपिण्ड वे ही हैं, जिनके द्वारा मनुष्योंसे इतर निम्नश्रेणीके चतुर्विधभूत सङ्घ कर्मफल भोग करते हैं। हे पितृगण! चतुर्दशभुवन-स्थित दैवभोगायतन रूप जो पिण्ड हैं वे दैवपिण्ड कहाते हैं। ये तीनों पिण्ड ही पाञ्चभौतिक हैं परन्तु इनके उपादानमें महान् भेद है। सहज पिण्ड केवल पार्थिव उपादानोंसे ही सहज रीतिसे ही निर्मित होते हैं। नानाविध दैवीपिण्ड सूक्ष्मदैवी उपादानोंसे यथायोग्य अधि-कारानुसार निःसन्देह निर्मित होते हैं। क्योंकि उनमें लोकातीत दैवी-शक्तिका विकाश स्वाभाविक रूपसे विद्यमान रहता है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। हे पितृगण! आपलोगोंकी विशेष सहायतासे प्राप्त जो मानवपिण्ड है उसकी विचित्रता कुछ और ही है। हे पितृगण! वे विशेष शक्तियोंके आकर्षणके उपयोगी होनेसे ही चतुर्वर्गप्रद हैं। वह मानवपिण्ड ही निःश्रेयस फल उत्पन्नकारी वृक्षका निःसन्देह बीजरूप है। सहजपिण्ड और मानवपिण्ड दोनोंमें

पृथिवीतत्त्व प्रधान है। इसी ओर मनुष्यके बहिरिन्द्रिय सब पृथिवी-तत्त्व प्रधान होनेसे उनको केवल पृथिवीतत्त्वप्रधान पिण्ड ही दिखाई देते हैं। दैवपिण्ड अन्य तत्त्व प्रधान होते हैं। यथाः—प्रेतोंके पिण्ड वायुतत्त्वप्रधान, उच्च देवलोकोंके पिण्ड अग्नितत्त्वप्रधान हैं। सुतरां मनुष्यके पार्थिव नेत्रगोलकके द्वारा अपार्थिव दैवपिण्ड प्रत्यक्ष गोचर कदापि नहीं हो सकते हैं। वस्तुतः दैवपिण्ड अबाह्य प्रत्यक्ष होनेसे वे अलौकिक प्रत्यक्षगम्य हैं। योगशक्तिद्वारा, तपःशक्तिद्वारा, पूर्वजन्मार्जितकर्मफल प्राप्त होनेसे महात्माओंके द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेसे अथवा देवताओंके वर द्वारा जब यौगिक प्रत्यक्ष अर्थात् अलौकिक प्रत्यक्षशक्तिरूपी दिव्यदृष्टि मनुष्यको प्राप्त होती है तभी उसको दैवपिण्डोंके दर्शन हुआ करते हैं, यही इस सूत्रका तात्पर्य है ॥३४॥

किन्तु उनका नैमित्तिक रूप लौकिक प्रत्यक्षगम्य है ॥३५॥

पूर्व सूत्रमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने यह सिद्ध किया है कि देवताओंका नित्यस्वरूप अबाह्य प्रत्यक्ष गोचर हैं। अतः जिज्ञासुके चित्तमें यह सन्देह हो सकता है कि शास्त्रोंके अनेक स्थलोंमें देखनेमें आता है कि देवतागण दर्शन भी देते हैं। वस्तुतः देव-योनियोंका दर्शन साधारण मनुष्योंको भी होते हैं तो क्या ऐसे दर्शन करनेवाले सब मनुष्य ही योगदृष्टिसे युक्त होते हैं? ऐसी

अन्यथात्वमपि नैमित्तिकरूपाणाम् ॥३५॥

शङ्काओंका अवसर होने ही न पावे, इसकारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि कोई निमित्त उपस्थित होनेपर देवतागण स्थूल दृष्टिके गोचर होने योग्य रूपको भी धारण किया करते हैं। शास्त्रोंमें इस प्रकारके अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा :—

एवं समाराधयतोस्त्रिभिर्वर्षैर्यतात्मनोः।
परितुष्टा जगद्धात्री प्रत्यक्षं प्राह चण्डिका॥
यत्प्रार्थ्यते त्वया भूप त्वया च कुलनन्दन।
मत्तस्तत्प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत्॥

तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष संयतात्मा होकर आराधना करने पर जगद्धात्री चण्डी प्रसन्न और प्रत्यक्ष होकर बोली कि हे भूप! मैं प्रसन्न हूँ, अतः तुम जिसकेलिये प्रार्थना करोगे वही प्रदान करूँगी।

इसी कारण श्रुतिमें भी लिखा है :—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत।

अर्थात्—पर्वतके पास, नदीके पास स्तुति करनेसे इन्द्रदेवता प्रत्यक्ष होते हैं। और भी

रूपं रूपं मघवा वोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमगात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुवा ऋतावा॥

अर्थात्—देवताओंमें और यहाँ तक कि सब देवयोनियोंमें अलौकिक दैवीशक्ति रहनेसे वे अपनी इच्छाके अनुसार शरीर-धारण करनेमें समर्थ होते हैं, यही कारण है कि पार्थिव नेत्रके भी गोचर बन सकते हैं॥३५॥

इसमें भी अपेक्षा है सो कहा जाता है :—

वह श्रद्धा और कृपा सापेक्ष्य है ॥३६॥

देवताओंके लौकिक प्रत्यक्ष गोचर स्वरूपके दर्शन करनेमें किस विषयकी अपेक्षा है ? ऐसे प्रश्नके उत्तरमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, साधकके अन्तःकरणकी श्रद्धा आविर्भूत होने योग्य देवताकी कृपाकी ही इसमें अपेक्षा रहती है। बिना योग्य आधारके आधेय कदापि ठहर नहीं सकता है। बिना अन्तःकरणके उन्मुख हुए विषयके दर्शन नहीं हो सकते हैं और बिना दैवीसम्पत्तिको प्राप्त हुए देवताओंका ध्यान असम्भव है विशेषतः श्रद्धाके बिना उपासनामें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। साधकमें श्रद्धाके उदय होनेसे उपासनाके द्वारा देवताका सान्निध्य प्राप्त होता है। साधनके विषयमें शास्त्रकारोंने श्रद्धाको ही प्रथम स्थान दिया है। बिना श्रद्धाके कोई भी किसी तरहके साधन मार्गमें उन्नत नहीं हो सकते। इस विषयमें शास्त्रकारोंकी आज्ञा ऐसी है कि—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥
अथासक्तिस्तथा भावस्ततो प्रेमामृतोदयः।
रतिर्भवति देवेषु क्रम एष सनातनः ॥

सबसे पहले श्रद्धा, उसके बाद साधुसङ्ग तदनन्तर भजनक्रियाका आरम्भ होता है। भजनक्रियासे अनर्थकी निवृत्ति होती है अनर्थकी

तत्र श्रद्धा कृपा चापेक्ष्ये ॥३६॥

निवृत्ति होनेसे इष्ट देवतामें निष्ठा और रुचि होती है। रुचिसे आसक्ति, आसक्तिसे भाव और भावसे प्रेमका उदय होता है। साधकोंके लिये यही साधन-क्रम है। पञ्चकोश साधकमें भी है और देवतामें भी है दूसरी ओर पञ्चकोश समष्टि-व्यष्टिमें ओतप्रोत है। सुतरां श्रद्धाके द्वारा मनोमयकोशकी सहायतासे साधक देवताका सान्निध्य तुरन्त प्राप्त करता है। श्रद्धाके द्वारा आधाररूप साधकका अन्तःकरण देवदर्शनके उपयोगी बन जाता है। श्रद्धा ही साधकमें देवदर्शन करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करती है और श्रद्धाके द्वारा ही साधकका अन्तःकरण पवित्र होकर क्लिष्ट वृत्तिका नाश होते हुए और अक्लिष्ट वृत्तिका उदय होकर उसमें दैवीसम्पत्तिका आविर्भाव हो जाता है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि श्रद्धाके द्वारा ही साधकमें देवदर्शनकी सब प्रकारकी योग्यता प्राप्त होती है। दूसरी ओर देवता-को जब लौकिक प्रत्यक्षगम्य शरीरधारण करना पड़ता है, तो उसमें उनको जो विशेष दैवीशक्तिका प्रयोग करना पड़ता है, उसमें उपास्य देवकी कृपा ही कारण है। यदि प्रश्न हो, कि कभी-कभी ऐसा होता है, कि उपासक ही उपास्यदेवका दर्शन पाता है, और कोई नहीं ऐसे अन्तरायोंका कारण क्या है? ऐसी शङ्काओंका समाधान यह है कि, दैवीकृपा जहाँ प्रधान होगी, वहाँ श्रद्धाकी शक्ति गौण होगी और जहाँ श्रद्धाकी शक्ति प्रधान होगी, वहाँ देवताकी कृपा गौण हो जायगी। यही कारण है कि, उपासक बलपूर्वक भी देवताको बुला सकते हैं।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि, एक ओर श्रद्धा और दूसरी ओर

कृपा होनेसे तब देवताओंका बाह्य प्रत्यक्ष अर्थात् लौकिक इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेयोग्य नैमित्तिक स्वरूप प्रकट हो सकता है ॥३६॥

देवताओंसे पितरोंका क्या वैलक्षण्य है सो अब कहा जाता है :—

आधिभौतिक सम्बन्ध होनेसे पितरोंका सम्बन्ध भूलोकके साथ है ॥३७॥

यह पहले ही भलीभाँति वर्णन किया गया है कि अध्यात्म-जगत्का सम्बन्ध ऋषियोंके साथ अधिदैवजगत्का सम्बन्ध देवताओंके साथ और अधिभूतराज्यका सम्बन्ध पितरोंके साथ है। अतः आधिभौतिक जगत्के सञ्चालक अधिदैव पितृगणका सम्बन्ध भूलोकके साथ रहना स्वतः सिद्ध है। यद्यपि वेद और शास्त्र द्वारा यह प्रमाणित है और इसका प्रमाण पहले दिया जा चुका है कि, ऊर्द्ध्वसप्तलोकोंमें भी पितरोंका निवास है और अधः सप्तलोकोंमें भी पितरोंका निवास है। देवताओंके पितर ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंमें रहते हैं और असुरोंके पितर अधः सप्तलोकोंमें रहते हैं। जब कभी देवताओंके अवतारोंका तथा असुरोंके अवतारोंका इस मृत्युलोकमें जन्म होता है तब भी वे ही पितर मृत्युलोकमें सहायता करते हैं, नहीं तो साधारणतः ऐसे पितरोंका सम्बन्ध मृत्युलोकमें नहीं रहता है। मृत्युलोकमें जिन पितरोंका सदा सम्बन्ध रहता है, वे भूलोकके पितर कहाते हैं और भूलोककी सब आधिभौतिक क्रियाओंका संरक्षण और सम्पादन उनके

पितरो भूसम्बन्धा आधिभौतिकसम्बन्धात् ॥३७॥

द्वारा हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त पितर भूलोकमें ही निवास करते हैं ॥३७॥

उनके निवासस्थलका वर्णन किया जाता है :—

उनका आवास पितृलोकमें है ॥३८॥

मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त पितरोंका आवास पितृलोकमें है। वस्तुतः पितृलोक नामक लोक भूलोकका सुखप्रद स्वतन्त्र लोक है। भू, भूव, स्व, जन आदि जो ऊर्द्ध्व सात लोक हैं, उनमेंसे भूलोकका एक विभाग यह मृत्युलोक है, और दूसरा विभाग पितृलोक कहाता है। भूः, भूवः, स्वः, जन आदि जो लोक हैं वे सब लोक उत्तरोत्तर अधिक सुखप्रद हैं, वैसे ही भूलोकका सुखप्रद लोक पितृलोक है। पितृलोक एक प्रकारका स्वर्गलोक ही है। मृत्युलोकके मृतपितृगण जो पुण्यवान् होते हैं, वे नैमित्तिकपितृ बनकर सुखभोगकेलिये पितृलोकमें कुछ समयके लिये जाया करते हैं। और मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त नित्यपितरोंका तो स्थायी आवास पितृलोकमें ही है ॥३८॥

भूलोक प्रधानतः कितने भागोंमें विभक्त है सो कहा जाता है :—

भूलोक चार भागोंमें विभक्त है, उनमेंसे पितृलोक सुखभोगप्रद है ॥३९॥

तेषामावासः पितृलोके ॥३८॥

भूर्विभज्यते चतुर्धा तत्र सुखभोगप्रदः पितृलोकः ॥३९॥

जिस प्रकार इस स्थूल मृत्युलोकके अनेक विभाग हैं जिनका विस्तारित विवरण भूगोलशास्त्र किया करता है, इसी प्रकार भूः, भुवः, स्वः आदि उर्द्ध्वसप्तलोक और अतल, वितल, सुतल अधः सप्तलोकोंके अनेक अन्तर्विभाग हैं, इसमें सन्देह नहीं। उन सब विभागोंका स्वरूप यद्यपि योगिराज त्रिकालदर्शी महर्षियोंको योगशक्ति द्वारा विदित था। परन्तु उन सब विस्तृत अन्तर्विभागोंका वर्णन करना वे अनावश्यक समझते थे। उग्रकर्मा मनुष्यगण ही ऐसे बड़े लोकोंमें जाया करते हैं। उग्रकर्मा दैवीसम्पत्तिके अधिकारी उत्तर ऊपरके लोकोंमें और उग्रकर्मा आसुरीसम्पत्तिके अधिकारीगण सप्तअधःलोकोंमें जाते हैं, परन्तु साधारणतः मनुष्यगण मृत्युके अनन्तर भूलोकमें ही रहते हैं। यही कारण है कि पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार भूलोकके प्रधान अन्तर्विभागोंका वर्णन कर रहे हैं। स्मृतिशास्त्रमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा :—

श्रीभगवान्ने पितरोंसे कहा है—

मृत्युलोकस्य भूलोकान्तर्गतस्यास्ति विस्तृतिः।
महती नात्र सन्देहस्तद्विभागश्चतुर्विधः॥
एको वः पितृलोकोऽस्ति मृत्युलोको द्वितीयकः।
प्रेतलोकस्तृतीयोऽस्ति चतुर्थो नरकाभिधः॥
भूलोके भवतामेव लोकः स्वर्गः सुखप्रदः।
वस्तुतो नात्र सन्देहो विधातव्यः स्वधाभुजः॥
कर्मभूमृ्र्त्युलोकोऽस्ति कर्मक्षेत्रञ्च यं जगुः।
प्रेतलोकस्तथैव स्तो लोकोऽपि नरकाभिधः॥

दुःखदावानलज्वालापूरितौ भीषणावलम् ।
प्रेतलोकोऽस्ति संश्लिष्टो मृत्युलोकेन सर्वथा ॥
भुवर्लोकादयोऽन्ये वो लोकादूर्द्ध्वमवस्थिताः ।
अस्त्यतश्चोर्द्ध्वलोकानामधोलोकव्रजस्य च ॥
वैलक्षण्येन सार्द्धं वः सम्यक् परिचयो न हि ।
यद्यप्यस्याश्चतुर्लोक्यां धर्म्मराजानुशासनम् ॥
वरीवर्त्त्येव विस्तीर्णं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।
दृढं कुर्य्यात् चेत्प्रयत्नं पितरो यूयमन्वहम् ॥
यमदण्डस्य साहाय्यमन्तरेणैव तर्ह्यलम् ।
कृतार्था भवितुं सृष्टेः सामञ्जस्यस्य रक्षणे ॥

अर्थात्—हे पितृगण ! मृत्युलोक भूलोकके अन्तर्गत होनेपर भी भूलोकका विस्तार अधिक है। भूलोकके चार विभाग हैं। यथा-आपलोगोंका पितृलोक, मृत्युलोक, प्रेतलोक और नरकलोक। वस्तुतः हे पितृगण ! आपलोगोंका लोक ही भूलोकमें सुखप्रद लोक है। मृत्युलोक कर्म्मभूमि है, जिसको कर्मक्षेत्र कहते हैं। और प्रेतलोक तथा नरकलोक घोर दुःख दावानलसे पूर्ण और भयकारक है, वस्तुतस्तु प्रेतलोक मृत्युलोकसे ही संश्लिष्ट है। हे पितृगण ! भूवर्लोक आदि अन्यलोक आपके लोकसे परे स्थित हैं। इस कारण उन ऊर्द्ध्वलोकों तथा अधोलोकोंके वैचित्र्यके साथ आप-लोगोंका विशेषरूपसे परिचय नहीं है। हे पितृगण ! यद्यपि धर्मराजका अनुशासन इन चारों लोकोंमें विस्तृत है, परन्तु आपलोग यदि यह प्रयत्न करें तो बिना यमदण्डकी सहायताके

ही सृष्टिके सामञ्जस्यकी सुरक्षामें कृतकार्य हो सकते हैं। ऊपर-लिखित प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि भूलोकके चार विभाग हैं, जिनमेंसे पितृलोक सुखप्रद होनेसे वह एक प्रकारका मृत्युलोकका स्वर्गभोगोपयोगी दिव्यलोक है और पितृगण जो पितृलोकमें रहते हैं, उनके साथ मृत्युलोककी आधिभौतिक उन्नतिका साक्षात् सम्बन्ध रहता है ॥३९॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

दण्डधारी होनेसे यमराज नरक और प्रेतलोकके शासक हैं ॥४०॥

भूलोकके साथ यमराजका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण प्रसङ्गसे कहा जाता है कि वे मनुष्यके दण्डविधाता हैं। इसी कारण वे नरकलोक और प्रेतलोकके ईश्वर हैं। दण्डकी महिमाके विषयमें शान्तिपर्वमें ऐसा कहा है कि :—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥
दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिपः।
कामं संरक्षते दण्डः त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥
दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वन्नुपादत्स्व भावं पश्यत्वलौकिकम्॥

शास्ता नरकप्रेतलोकयोर्यमो दण्डधारणात् ॥४०॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥
दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पाल्यते॥
यस्माद् दण्डात् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः॥

अर्थात्—दण्डसे ही प्रजाका शासन होता है। दण्डसे ही सब रक्षित होता है। दण्ड ही सोनेवालेको जगाता है। दण्डको ही बुधगण धर्म कहते हैं। दण्ड ही अर्थ तथा धर्मकी रक्षा करता है। कामकी रक्षा भी दण्डसे ही होती है। दण्ड ही त्रिवर्ग है। धन, धान्य, दण्डसे ही सुरक्षित होता है। कोई पापात्मा राजदण्डके भयसे, कोई यमदण्ड, कोई परस्परके दण्डसे पाप नहीं करते हैं। संसारमें दण्डके द्वारा ही सब प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार दण्डका जो पालन नहीं करता वह अन्धतममें प्रविष्ट होता है। उद्दण्ड तथा अशिष्टोंको दमन तथा दण्डविधान करनेसे इसे दण्ड कहते हैं।

वस्तुतः यमराजकी राजधानी भूलोकके अन्तर्गत ही है और धर्म्मराज यम मनुष्योंके दण्डविधाता हैं। दण्ड अपराधीको हुआ करता है। कर्म दो प्रकारके हैं, एक पुण्यकर्म और दूसरा पापकर्म। पुण्यकर्मका फल पितृलोक, स्वर्गलोक आदि उच्चलोकप्राप्ति और

पापकर्मका फल प्रेत और नरकलोक प्राप्ति है। जब इस मृत्युलोकमें जीवकी मृत्यु होती है अर्थात् जीवका स्थूल देह न्यारा होकर उसको आतिवाहिकदेहकी प्राप्ति होती है, उस समय यह जीव पुण्यात्मा हो तो साधारणतः देवदूतगण आकर उसको पुण्यमय पितृलोकमें ले जाते हैं, यदि वह व्यक्ति अधिक पुण्यात्मा हो तो उसको भूव, स्व आदि उच्चतर पुण्यलोकमें ले जाते हैं। और जब जीव पापात्मा होता है और दण्डका अधिकारी होता है तो यमदूतगण धर्मराजकी आज्ञासे पापफल भोगरूप दण्डके यथायोग्य अधिकारके अनुसार उसको या तो प्रेतलोकमें पहुँचाते हैं या नरकलोकमें पहुँचा देते हैं। प्रेतलोक और नरकलोकका विस्तारित वर्णन स्मृतिशास्त्रमें पाया जाता है। पापफल भोगनेके यही दो प्रधान लोक हैं। और धर्मराज यम ही जीवगणोंके दण्ड विधाता हैं, इसकारण वे प्रेतलोक और नरकलोकके व्यवस्थापक और ईश्वर हैं। पापात्मा जीवगण उन्हींके विचारसे यथायोग्य अशुभ लोकोंमें दुःखभोगके लिये भेजे जाते हैं ॥४०॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

नरपतिके शरीरमें यम और इन्द्रकी कला रहनेसे राजा कालका कारण है ॥४१॥

अशुभ तथा दण्डभोगके उपयोगी लोकोंके अधीश्वर धर्म्मराज यम हैं। और शुभ तथा पुण्यफलभोगोपयोगी जो देवलोक हैं उनके

कालहेतुर्नरेशो यमेन्द्रकलावत्वात् ॥४१॥

अधीश्वर देवराजेन्द्र हैं। मृत्युलोकमें मनुष्यसमाजकी व्यवस्था सुरक्षित करनेके लिये जो राजा होता है, वह यदि अपने राजधर्मके पालन करनेमें तत्पर हो तो उसके शरीरमें देवराजेन्द्रकी कला और यमराज यमकी कला विद्यमान रहती है। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक ही प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त है। सुतरां ब्रह्माण्डके सूक्ष्मलोकोंकी सुरक्षाकेलिये जिसप्रकार अपने अपने अधिकारके अनुसार धर्म्मराज यम और देवराज इन्द्र, अपने अपने पदोंपर नियुक्त रहते हैं, उसीप्रकार इस स्थूल मृत्युलोकमें प्रजाके शुभ और अशुभ कर्मोंके फल विधातारूपी राजाके शरीरमें उन दोनों देवताओंकी कला विद्यमान रहना स्वतःसिद्ध है। योग्य व्यक्तिको पुरस्कृत करना तथा संमान करना और अयोग्य और पापी व्यक्तिको तिरस्कृत करना और दण्ड देना यह नरपतिका प्रधान कर्तव्य है और इसीके द्वारा मनुष्यसमाजमें अनुशासनकी सुव्यवस्था रहती है।

मृत्युलोक कर्मभूमि वस्तुतः इस ब्रह्माण्डका केन्द्र है। इस मृत्युलोकसे ही प्रस्तुत होकर जीव देवलोक और असुरलोकोंमें जाता है। मनुष्यसे ही उसके उग्रकर्मके फलसे लोकान्तरमें पहुँच सुरयोनि अथवा देवयोनिको प्राप्त होता है। मनुष्यलोकसे ही अधोगतिको प्राप्त होकर जीव अशुभ प्रेतलोक और नरकलोकमें पहुँचता है। सुतरां ऐसे परमावश्यकीय तथा ब्रह्माण्डके केन्द्ररूपी मृत्युलोकमें शासनकर्ता होगा, उसमें उक्त दोनों देवताओंकी कला रहना अवश्यसम्भावी है। भेद इतना ही है कि यदि राजा दैवीसम्पत्तिसे युक्त

है तो उसमें देवराज इन्द्रकी कला विद्यमान रहेगी और यदि आसुरी सम्पत्तिसे युक्त हो तो उसमें असुरराजकी कलाका विकाश होगा। और राजा अपने धर्मसे च्युत होगा तो उसमें कोई भी दैवी कला नहीं रहेगी।

स्मृतिशास्त्रमें लिखा है :—

जङ्गमास्थावराणाञ्च हीशः स्वतपसा भवेत्।
यागभागग्रहणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा॥
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।
धर्मप्रवर्तकोऽधर्म्मनाशकस्तमसो रविः॥
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्डकृद् यमः।
शुचिरग्निरिव राजा रक्षकः सर्वभागभुक्॥
पुष्यत्यपांरसैः सर्वं वरुणः स्वधनैः नृपः।
करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः॥
कोषाणां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः।

अर्थात्—राजा इन्द्रकी तरह अपनी तपस्यासे स्थावर जङ्गमात्मक अधीश्वर रक्षाकार्य्यमें दक्ष होते हैं। और इन्द्र जिस प्रकार यज्ञ-भाग ग्रहण करते हैं, राजा भी प्रजाकी सम्पत्तिमें भागग्राही होते हैं। जैसे वायु गन्धका प्रेरक है वैसे राजा भी शुभाशुभ कर्म्मका प्रेरक है। जैसे सूर्य्यके द्वारा अन्धकार नाशको प्राप्त होता है वैसे ही राजा भी अधर्म्मरूप अन्धकारका नाशक है। जिस प्रकार यम पापियोंके दण्ड विधाता हैं, उसीप्रकार राजा पापीका दण्डविधाता है। अग्निकी तरह राजा पवित्र होता है और रक्षक होनेसे सब भागके

भोक्ता है। जैसे वरुणके जलसे जगत्की पुष्टि होती है वैसे ही राजा अपने धनके द्वारा प्रजाकी पुष्टि करता है। जैसे चन्द्रमा किरण जालके द्वारा जीवगणको आह्लादित करता है वैसे ही राजा भी अपने सद्गुणोंसे प्रजाका आनन्ददाता है। जैसे कुबेर अपने धनकी रक्षा करते हैं वैसे ही राजा भी अपने कोशकी रक्षामें निपुण होता है।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥

अर्थात्—संसारमें राजा न होनेसे सब लोग भयभीत होते हैं। इस कारण भगवान्ने उसे रक्षणार्थ उत्पन्न किया है। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन अष्टदिक्पालोंके अंशसे उत्पन्न होनेसे राजा समस्त प्राणियोंको अभिभूत करते हैं। ऊपर कथित प्रमाणोंसे यह सिद्ध हुआ है कि इस मृत्युलोकमें प्रजाकी सुरक्षा और सुव्यवस्थाके लिये राजाकी आवश्यकता होनेसे कई देवताओंकी कला राजामें विद्यमान रहती है। सूक्ष्मदैवजगत् इस स्थूलजगत्का चालक है यह पहले सिद्ध हो चुका है। इस कारण देवतागण राजाके शरीरमें कलारूपसे आविष्ट होकर प्रजाकी सुरक्षामें प्रवृत्त होते हैं। इस सूत्रमें जो केवल दो देवताओंका

वर्णन है वह केवल अनुशासन पक्षमें है। क्योंकि पूर्वकथित देवताओंमेंसे अनुशासनके विचारसे देवराज इन्द्र और धर्म्मराज यम ही मुख्य हैं। इस कारण कलाकी मुख्यतासे और अनुशासन धर्मकी मुख्यतासे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इन्हीं दोनों देवताओंका सम्बन्ध वर्णन किया है। किन किन कारणोंसे राजाके पिण्डमें दैवी कलाओंका आविर्भाव होता है, किन किन कारणोंसे तिरोभाव होता है उसका वर्णन स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकार है :—

योहि धर्म्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्म्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्॥

अर्थात्—धर्मपरायण राजा ही देवांशसे उत्पन्न है और अधार्मिक प्रजापीड़क राजा राक्षसके अंशसे उत्पन्न है, ऐसा जानना चाहिये। सुतरां जबतक राजा अर्थ कामको गौरव समझकर और इन दोनों स्वार्थोंपर दृष्टि न रखकर केवल धर्मपर ही दृष्टि रखकर पुत्रवत् अपनी प्रजाका पालन और रक्षणमें तत्पर रहता है, तबतक ही उस राजाके पिण्डमें दैवी कलाओंका विकाश रहता है और उसमें स्वधर्मका अभाव होनेसे जब राजा धर्मलक्ष्यको छोड़कर काम और अर्थके लिये प्रजाका पालन करता है तब उस राजाके शरीरमें दैवी कलाका तिरोभाव होकर आसुरी कलाका विकाश हो जाता है। राजाके साथ कालका किस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस विषयमें स्मृतियोंके मत नीचे दिये जाते है :—

कृतं त्रेतायुगञ्चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥

कलिः प्रसुप्तो भवति संजाग्रद् द्वापरं युगम् ।
कर्म्मस्वभ्युदयस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि सभी राजाके चेष्टित हैं, अतः राजाको युग कह सकते हैं। राजा जब प्रजाकी श्रीवृद्धिके प्रति आँखें मूँद लेता है तब कलि, राजकार्यमें जाग्रत रहता है तब द्वापर, जब राजकर्मके अनुष्ठानमें अवस्थित रहता है तब त्रेता और जब यथाशास्त्र कर्मानुष्ठान करते हुए स्वच्छन्द विचरण करता है तब सत्ययुग प्रवर्तित होता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें राजाके साथ अपूर्व सम्बन्ध बतलाया गया है। यथा :—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो माभूद् राजा कालस्य कारणम् ॥
दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥
ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां ना धर्मे रमते मनः ॥
योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।
वैदिक्यानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्विताः ॥
ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणाञ्च स्वरवर्गे मनांसि च ॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते क्वचित् ।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो नतु जायते ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च॥
नाधर्मो विद्यते तत्र धर्मस्य तु केवलम्।
इतिकार्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर॥
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते॥
अशुभस्य चतुर्थांशंत्रीनंशाननुवर्त्तते।
अकृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा॥
अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नित्यर्थमनुवर्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते॥
अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशावनुवर्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्द्धफला तथा॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजा क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः॥
कालावधर्मो भूमिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः॥
शूद्राः भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसङ्करः॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यमायिनस्तथा॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः॥

विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचित् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् शस्यं प्ररोहति ॥
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
कृतस्य कारणात् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः कारणात् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ॥
प्रवर्तनात् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनात् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥
ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्त्तिं पापञ्च विन्दति ॥

काल राजाका कारण है, अथवा राजा कालका कारण है, इस प्रकार सन्देह करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि राजाही कालका कारण है। जिस समय राजा पूर्णधर्म्मानुसार दण्डनीतिकेद्वारा राज्यपालन करता है उसी समय कालकी प्रेरणासे सत्ययुगका उदय होता है। सत्ययुगका उदय होनेसे सभी वर्णोंकी प्रजाओंका मन धर्मरत होता है और अधर्मका नाम भी नहीं रहता है। प्रजाओं-का योगक्षेम निःसन्देह निर्वाह होता है और सभीगुण वेदानुकूल होते हैं। समस्त ऋतु सुखमय और रोगरहित होते हैं और मनुष्योंके स्वरवर्ण और मन प्रसन्नतासे युक्त रहते हैं। देशमें किसी प्रकारकी व्याधि और अल्पायु नहीं देखा जाता है,

नारी विधवा नहीं होती है, और कृपणता भी किसीमें नहीं होती है। पृथिवी कर्षण किये विना ही शस्यप्रदान करती है और औषधि-समूह भी स्वतः उत्पन्न होते हैं, त्वक्पत्र फल और मूल वीर्य-वान् होते हैं, उस समय कहीं भी अधर्म नहीं होता है और सबल केवल धर्मही रहता है, कृतयुगके ये ही सब लक्षण जानने चाहिये। जिससमय राजा दण्डनीतिका तीन अंशपालन करते हैं और चतुर्थांशका परित्याग करते हैं उस समय त्रेतायुगका उदय होता है। त्रेतायुगके उदय होनेसे एक अंश अशुभ रहता है और तीन अंश शुभ रहते हैं। पृथिवी और औषधियाँ कर्षणके विना ही फल-प्रसव करती है। जिससमय राजा दण्डनीतिके दो अंशका त्यागकर प्रजापालन करते हैं, उस समय द्वापर युगका उदय होता है, उससमय दो भाग शुभ और दो भाग अशुभ होते हैं और पृथिवी कर्षण करने पर भी अर्द्धफलको उत्पन्न करती है। जिस समय सम्पूर्ण दण्ड-नीतिको त्याग करके राजा प्रजाको कष्ट दिया करते हैं उससमय कलिका उदय होता है। कलियुगमें अधर्म बहुत होता है। कहीं पर धर्म नहीं देखायी देता है, उस समय शूद्र भिक्षावृत्तिद्वारा और ब्राह्मण सेवावृत्तिद्वारा जीविका निर्वाह करते हैं। सर्वत्र योग-क्षेम-का नाश और वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होती है। समस्त वैदिक कर्म गुणहीन हो जाते हैं, ऋतुओंका ठीक ठीक सुखकर उदय, नहीं होता है और सर्वत्र रोग फैलता है। मनुष्योंका स्वरवर्ण और मन दुर्बल हो जाता है व्याधिकी उत्पत्ति होती है और लोग-अल्पायु होकर मर जाते हैं। नारी पतिहीना और प्रजानृशंस हो

जाती है, वर्षा और शस्यका अभाव हो जाता है और समस्त रसोंका क्षय हो जाता है। इस प्रकार राजा ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगके कारण होते हैं। सत्ययुगकर्ता राजाको अक्षयस्वर्ग मिलता है, त्रेतायुगकर्ता राजाको सक्षय स्वर्गलाभ होता है, द्वापरयुगकर्ता राजाको कर्मानुसार फल मिलता है और कलियुगकर्ता राजा विशेष पाप भागी होते हैं। एता-दृश दुष्कर्मी राजा अनन्तकालतक नरकमें वास करता है और अकीर्ति और पाप दोनोंको ही प्राप्त करता है।

ऊपर लिखित प्रमाण और प्रमेय निश्चयका सारांश यह है कि, ब्राह्मणके सूक्ष्म दैवराज्यकी केन्द्रशक्तिको अनुशासनद्वारा नियमित करनेवाले दो देवता हैं, उनमें एकका नाम देवराज इन्द्र है, दूसरेका नाम धर्मराज यम है। उन्हीं दोनोंके द्वारा दैवराज्यकी सुव्यवस्था बनी रहती है। प्रथमके द्वारा देवासुररूपी द्वन्द्वशक्ति-की समताके साथ ही देवताओंका प्राधान्य बना रहता है और दूसरेके द्वारा दुःखभोगके कारागार सदृश प्रेतादिलोकोंकी सुव्य-वस्था होकर जीवोंका कल्याण विधान होता रहता है। इस मृत्युलोकमें नरपति राजाका अधिकार भी वैसा ही है, क्योंकि राजाके हाथमें दण्ड है। राजा उस दण्डके प्रभावसे प्रजाको चाहे धर्मके पथमें चलावे चाहे अधर्मके पथमें चला सकता है। सुतरां प्रजाको धर्मके मार्गमें चलानेवाले राजाके शरीरमें अनेक देवताओं-की कला विद्यमान रहती है। उनमेंसे पूर्वकथित दो देवताओंकी कलाकी प्रधानता होती है। परन्तु यदि राजा अपनी प्रजाको

केवल अपने धनलोभ और कामलोभसे शासन करता है और धर्ममार्गको भूलता है तो ऐसे राजाके पिण्डसे दैवीकला एकबार ही हट जाती है और उसमें आसुरी राक्षसी कलाका विकाश होता है। तब वह अर्थकामलोलुप धर्महीन राजा अपनी प्रजाको विपथ-गामी और दुःखी कर देता है और स्वयं भी नरकका भागी होता है। यही कारण है कि शास्त्रोंने राजाको कालका कारण कहा है। क्योंकि धर्मभीरु राजा अपनी प्रजाको धर्ममें चलाकर अपने राज्यमें शुभकालका उदय कर सकता है और यदि राजा अधार्मिक काम और अर्थलोभी हो तो स्वतः उसकी प्रजा अधर्ममार्गमें चलती है और दुःख पाती है और उसके राज्यमें अशुभकालका उदय होता है। यही कारण है कि राजा देवांशसम्भूत होनेसे कालका कारण हुआ करता है ॥४१॥

इस कारण राजाका दायित्व सर्वप्रधान है ॥४२॥

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें स्थूल मृत्युलोक कर्मभूमि होनेसे उसका केन्द्र समझा जाता है। शास्त्रोंमें श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे कहा है कि :—

विचित्रो मध्यवर्त्यस्ति मृत्युलोको विभूतिदाः।
यथा गार्हस्थ्यमाश्रित्य पुष्टाः स्युः सर्व आश्रमाः ॥

अतः कर्त्तव्यमस्य सर्वातिशायि ॥४२॥

मृत्युलोकं समाश्रित्य भुवनानि चतुर्दश।
स्वातन्त्र्यं पूर्णमत्रास्ति कर्मसम्पादने यतः॥
मृत्युलोकप्रतिष्ठाऽतो विद्यते निखिलोपरि
यद्यप्युत्पद्यते मोक्षफलमुद्यान उत्तमे।
मृत्युलोके न सन्देहस्तद्बीजं किन्तु लभ्यते॥

अर्थात् हे पितृगण! मध्यवर्त्ति मृत्युलोक अतिविचित्र है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका पोषक है, उसीप्रकार मृत्युलोक ही चतुर्दश भुवनोंका पोषक है। क्योंकि मृत्युलोकमें कर्म करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होनेके कारण उसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। मोक्षरूपी फलकी उत्पत्ति मृत्युलोकरूपी उद्यानमें होती है। अस्तु, मृत्युलोकसे ही जीव अपने कर्मोंके अनुसार ऊर्ध्व सप्त-देवलोकोंमें और अधःसप्त अधोलोकोंमें जाता है और उक्त लोकोंकी पुष्टि करता है। क्योंकि मनुष्यसे ही देवता और असुर काला-न्तरमें बनते हैं और प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक मनुष्यको मृत्युके बाद ही जाना पड़ता है। सुतरां इस ब्रह्माण्डमें मृत्युलोकका दायित्व सर्वोपरि है। दूसरी ओर नरपति राजा ही मृत्युलोकका शासक है, राजा ही कालका कारण है। राजाके हाथमें तिर-स्कार और पुरस्कारकी शक्ति रहनेसे राजा मनुष्य-समाजको जैसा चाहे वैसा बना सकता है। विशेषतः दण्डका पूर्णाधिकार राजाके हाथमें रहनेके कारण राजा अपनी प्रजाको चाहे तो धार्मिक बना सकता है चाहे अधार्मिक बना सकता है।

राजा चाहे अपनी प्रजाको तिरस्कार, पुरस्कार और दण्डकी सहायतासे निवृत्तिसम्पन्न विषयविरागी बना सकता है और चाहे घोर प्रवृत्तिका अधिकारी विषयलोलुप बना सकता है। राजाके हाथों-में ऐसी शक्ति नित्य ही रहती है कि, जिसकेद्वारा राजा अपनी प्रजामें कामका प्रचार करे चाहे अपनी प्रजाकी दृष्टि अर्थकी ओर बढ़ाकर नरकका अधिकारी बना दे, चाहे प्रजामें धर्म्म और मोक्षके अधिकार प्रकट करके अपने राज्यको स्वर्गसे भी उन्नत बना दे।

फलत: राजामें इसप्रकारकी शक्तियाँ जब स्वत: रहती हैं तो उसका दायित्व सर्वोपरि होगा इसमें सन्देह ही क्या है ॥४२॥

दैवीक्रियाके प्रसङ्गसे ब्रह्माण्डका कल्याण कैसे होता है सो कहा जाता है:—

देवता और असुरोंकी शक्तिका सामञ्जस्य ही विश्वके कल्याण-का हेतु है ॥४३॥

सृष्टि द्वन्द्वमूलक है। प्रकाश और अन्धकार, शीत और उष्ण उत्पत्ति और नाश, चेतन और जड़, इसप्रकार जितना देखा जाय सृष्टिप्रपञ्चमें द्वन्द्व ही दिखायी देगा। ब्रह्माण्डके द्वन्द्वमूलक होनेसे उसके चतुर्दश भुवनोंका स्वरूपभी द्वन्द्वमूलक है। यही कारण है कि ऊपरके सातलोकोंमें देवताओंका निवास नीचेके सातलोकोंमें असुरोंका निवास है। देवतागण सत्त्वप्रधान और असुरगण तमःप्रधान होते हैं। ब्रह्माण्डका जो प्रबन्ध है पिण्डकाभी

देवासुरशक्त्यो र्विश्वशिवदं सामञ्जस्यम् ॥४३॥

वही प्रबन्ध है। ब्रह्माण्डमें जिसप्रकार देवता और असुरका विभाग है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणमें अक्लिष्ट और क्लिष्टवृत्ति सत्त्वप्रधान पुण्य और तमःप्रधान पाप तथा धर्मवृत्ति और अधर्म्मवृत्ति व्याप्त रहती है। सूक्ष्मदैवीलोकों में जिसप्रकार समय समयपर देवताओंके साथ असुरोंका संग्राम होता रहता है और असुरगण सदा दैवराज्यपर अधिकार करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। ठीक उसी प्रकार असुरगण मनुष्यके मनोराज्यमें भी अपना अधिकार जमाकर उसमेंसे दैवीवृत्तियोंका नाश करके आसुरीवृत्तियोंको बढ़ानेका प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रकारसे ब्रह्माण्डमें तथा पिण्डमें देवासुर-संग्राम होनेकी सम्भावना स्वतःसिद्ध है। यही कारण है कि मनुष्योंके अन्तःकरणमें पुण्यवृत्ति और पापवृत्ति, सत्त्वगुण और तमोगुण, आत्मोन्मुखप्रवृत्ति और विषयोन्मुखप्रवृत्ति इस प्रकारसे देवासुर-संग्राम होना प्रमाणित है।

वस्तुतः इस मृत्युलोकमें मनुष्यपिण्ड देवासुरसंग्रामकेलिये दुर्गरूप है। इन दुर्गोंको कभी देवतालोग अपने वशीभूत कर लेते हैं और कभी असुरलोग अपने वशीभूत कर लेते हैं। जब असुरगण अधिकदुर्ग अपने अधीन कर लेते हैं तभी इस मृत्युलोकमें आसुरी-काल और आसुरीराज्यका विस्तार होता है। राजा और प्रजा सभी असुरभावापन्न हो जाते हैं और इस संसारसे दैवीसम्पत्तियोंका विलय होने लगता है। पुनः देवतागण ऋषि और देवताओंके अवतारोंकी सहायतासे पृथिवीपर दैवीभावोंका विस्तार करके आसुरी भावोंको दूरकरनेमें समर्थ होते हैं। कभी-कभी जब असुरोंके

अवतार अधिक उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी शक्ति अधिक बढ़ जाती है, तब देवतागणके असमर्थ होनेसे श्रीभगवान्‌का अवतार आविर्भूत होकर देवताओंकी इच्छा पूर्ण कर सृष्टिके सामञ्जस्य-की रक्षा करते हैं। उसी प्रकार दूसरी ओर जब देवतागण योग-परायण होकर अपने तपका नाश कर डालते हैं, असुरगण अपना तप बढ़ा लेते हैं, तब दैवलोकमें देवासुरसंग्राम तीव्रवेगसे चलने लगता है। प्रथम भूलोकके सबसे आगे असुरगण जय कर लेते हैं और पीछे भुवर्लोक और स्वर्लोक तक वे पहुँच जाते हैं तो देवताओंकी राजधानी असुरोंके हाथमें जानेसे ब्रह्माण्डभरमें सृष्टिकी समता नष्ट होने लगती है, तब पुनः भगवत् सहायतासे असुरोंका पराजय होता है। इसप्रकार देवासुर-संग्रामका वर्णन वेद और पुराणोंके अनेक स्थलोंमें पाया जाता है।

"ब्रह्मह देवोभ्यो विजिग्ये तस्यह ब्रह्मणो विजये देवा अमही-यन्त त ऐक्षान्तास्माकमेवायम् विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति"

तात्पर्य्य यह है कि ईश्वरीय नियम भङ्गकारी असुरोंको देवताओंके हितार्थ ब्रह्मने पराजय किया अतः देवताओंको अहङ्कार हुआ कि यह हमारी ही विजय और महिमा है। और भी श्रुति :—

"द्वयाह प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कनीयसा
एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त"

अर्थात् दो प्रजापतिकी सन्तान है देवता और असुर, देवता छोटे हैं और असुर बड़े हैं, दोनों परस्पर लड़ते रहते हैं। स्मृतिमें भी लिखा है :—

युद्धे देवासुरे जाते काचित्केऽपि कदाचन ।
तयोर्निवासभूम्योः स्यात् कदाचित्को विपर्य्ययः ॥

अर्थात् कभी देवासुरसंग्राम होने पर इसका सामयिकरूपसे कहीं कहीं विपर्य्यय भी होता है। इसमें रहस्य इतना ही है कि, देवतागण सत्त्वप्रधान होनेके कारण कदापि दूसरेका राज्य अर्थात् असुरके लोकोंकी जय करनेकी इच्छा नहीं करते हैं। और दूसरी ओर देवराज यदि असुरराजसे हार भी जाय तो असुरगण तृतीय ऊर्ध्व-लोक अर्थात् स्वर्लोकसे आगे कदापि नहीं बढ़ सकते हैं। ऐसी सम्भावना होते ही देवताओंको भगवत्सहायता प्राप्त होती है। सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षाका गूढ़ विज्ञान ही इसका कारण है। जब देवतालोग अपने अधिकार दैवकार्य्य सुसम्पन्न करते हैं और असुर-गण अपने लोकोंमें रहकर अपने ही कार्योंमें रत रहते हैं, तभी सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षा होती है। और ऐसा न हो तो जैसे और ऋतुमें ग्रीष्मका प्रकोप हो और ग्रीष्मऋतुमें शीतका प्रकोप होने लगे तो जिसप्रकार ऋतुविपर्य्यय होकर सृष्टिका सामञ्जस्य नष्ट होता है और उसकेकारण दुर्भिक्ष महामारी भय आदि द्वारा सृष्टिकी सुव्यवस्थामें अन्तर पड़ने लगता है, ठीक उसी प्रकार यदि देवासुरसंग्राममें असुरगण जीतने लगे तो सृष्टिकी सम्पूर्ण सुव्यवस्थामें अन्तर पड़ने लगता है। सुतरां यह विचार सिद्ध हुआ कि देवताओंकी शक्ति और असुरोंकी शक्ति इन दोनों द्वन्द्व दैवीशक्तियोंका सामञ्जस्य सुरक्षित होनेसे ही सम्पूर्ण विश्वका कल्याण हुआ करता है ॥४३॥

प्रसङ्गवशात् कहा जाता है :—

तमः प्रधान होनेसे असुरोंकी राजधानी सप्तम अधो-लोकमें स्थित है ॥४४॥

सृष्टिकी सामञ्जस्य रखनेके विचारसे ही भगवत् आज्ञासे असुरोंकी राजधानी सप्तम पाताल नामक अधःलोकमें स्थित है। यद्यपि अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल, इन सातों अधोलोकमें ही असुरोंका निवास है, परन्तु आसुरीप्रजा तमोगुण प्रधान होनेके कारण असुरराजकी राजधानी सप्तम अधः-लोकमें स्थित रहती है। अनुशासन तीन प्रकारका होता है—योगानुशासन, शब्दानुशासन, और राजानुशासन, बुद्धि तीनगुणके अनुसार त्रिविध होनेसे अनुशासन भी तीन प्रकारका होता है। तीन प्रकारकी बुद्धिके विषयमें श्रीभगवान्ने निजमुखसे श्रीगीतोपनिषद्में कहा है :—

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

राजभवनमन्तिमे तमः प्राबल्यादसुराणाम् ॥४४॥

अर्थात् जो बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्धन, मोक्षको जानती है वह सात्त्विक है। जिस बुद्धिके द्वारा धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य, भय, अभय, सम्यक् रूपसे न जाना जाय अर्थात् सन्देह रहे वह बुद्धि राजसिक है, तथा जो बुद्धि अधर्मको धर्म दिखावे और सम्पूर्ण विषयमें ही जो विपरीत ज्ञान करावे वह बुद्धि तामसिक है। तीन प्रकारकी बुद्धिके अनुसार त्रिविध अनुशासन वर्णन स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे कहा है :—

त्रिविधा बुद्धयो भान्ति यतो भिन्ना गुणैस्त्रिभिः।
ततोऽनुशासनान्यासां त्रिविधानि श्रुतावपि॥
तामसीं बुद्धिमाप्तानां पुंसां राजानुशासनात्।
समाजराजदण्डाभ्यां व्यवस्था विहिता श्रुता॥
धर्मराजस्य शक्तिः स्यात् दण्डः साक्षात् इतिस्मृतम्।
रजोगुणाभिभूतानामपि शब्दानुशासनम्॥
आचार्यवेदयोराज्ञा भेदा तद्द्विविधं मतम्।
योगानुशासनं ज्ञेयं सात्त्विकेष्वधिकारिषु॥
परोक्षापरोक्षभेदात् द्विविधं तच्च कीर्तितम्।
तथानुशासनत्यागनिषिधशास्त्रसम्मतः॥

तीन गुणके अनुसार बुद्धि भी तीन प्रकारकी होती है और तदनुसार अनुशासन भी तीन प्रकारके वर्णित हुए हैं। तामसी बुद्धिवालोंकेलिये समाजदण्ड और राजदण्डरूप अनुशासनकी व्यवस्था की गयी है। वह दण्ड साक्षात् धर्मराजकी शक्तिका स्वरूप है। राजसिक व्यक्तियोंके लिये शब्दानुशासन विहित है, उसके

दो भेद हैं। यथा आचार्य और वेदकी आज्ञा और सात्त्विक पुरुषोंके लिये योगानुशासन विहित है। परोक्ष और अपरोक्ष भेदसे वह भी दो प्रकारका है।

सुतरां आसुरी प्रजा जब तमोगुण प्रधान होती है, तामसिक बुद्धिका आधिक्य रहनेके कारण सब असुरलोकोंमें ही राजानुशासनकी आवश्यकता रहनेके कारण अन्तिम अधोलोक अर्थात् पाताललोकमें असुरराजकी राजधानी होना विज्ञानसिद्ध है। सप्तम अधोलोकमें असुरराज रहते हैं, इसकारण वे सातों अधोलोकका अनुशासन कार्य्य ठीक ठीक चलाकर असुरोंको अपने अधीन रख सकते हैं, यही असुर राजधानीका सप्तम अधोलोकमें रहनेका दार्शनिक कारण है ॥४४॥

प्रसङ्गक्रमसे कहा जाता है :—

सत्त्वप्रधान होनेसे देवराजकी राजधानी तृतीयलोकमें स्थित है ॥४५॥

देवतागणमें सत्त्वगुणका प्राधान्य रहता है, इसकारण उनमें बहुधा योगानुशासन और शब्दानुशासनका अधिकार बना रहता है। ऋषियोंमें तो योगानुशासनका प्राधान्य होना स्वतः सिद्ध है। षष्ठ उपासनाप्रधानलोक और सप्तम ज्ञानप्रधानलोकमें तो योगानुशासनका अधिकार ही बना रहता है। यही कारण है कि श्रीभगवान् ब्रह्माजीकी रात्रिमें नीचेके सात लोक और ऊपरके तीन लोक

स्वर्देवराजस्य सत्त्वप्राधान्यात् ॥४५॥

इस प्रकारसे दशलोक लय हो जाते हैं। श्रीभगवान् विष्णुकी रात्रिमें ग्यारह लोक लय हो जाते हैं, और श्रीभगवान् रुद्रकी रात्रिमें बारह लोक लय हो जाते हैं। तब उस समय भी ये दो ऊर्द्ध्वलोक अपने रूपमें विद्यमान रहते हैं। अतः ऐसे उन्नत ज्ञानपूर्णलोकमें राजानुशासनकी तो बात ही क्या है, शब्दानुशासनकी आवश्यकता भी नहीं रहती है तथा अन्य उन्नतदेवता और पितरोंमें भी राजानुशासनकी आवश्यकता नहीं रहती है। उनमेंसे प्रायः शब्दानुशासनके आश्रयसे ही अपने गन्तव्य मार्गमें चलते रहते हैं और उनमेंसे कोई कोई योगानुशासनके अधिकारी रहते हैं।

यही कारण है कि देवताओंके सबलोकमें से राजानुशासनकी आवश्यकता केवल भूलोक भुवर्लोक और स्वर्लोक, इन तीनों लोकोंमें ही रहती हैं और यही कारण है कि देवराज इन्द्रकी राजधानी तृतीयस्वर्लोकमें ही रहा करती है। असुरगण भी अपने तपःप्रभावसे विजयी होने पर इसी स्वर्लोक तक ही पहुँच सकते हैं आगे नहीं जा सकते हैं, यही कारण है कि इन्द्रपुरी तृतीय लोकके अन्तर्गत है।।४५।।

ऊपरके चार लोकोंमें विना दण्डकी सुव्यवस्था कैसे रहती है ऐसी शङ्काओंका समाधान किया जाता है—

उससे उन्नत चार लोकोंमें राजदण्डकी अपेक्षा नहीं है।।४६।।

तदूर्ध्वानामनपेक्ष्यो राजदण्डः ।।४६।।

यह पहलेही कहा गया है कि बिना दण्डके प्रजा धर्ममार्गपर नहीं चल सकती है। अब यह सिद्ध हुआ कि देवराजका विशेष-सम्बन्ध ऊपरके चार लोकोंसे नहीं है, तो स्वतः ही जिज्ञासुओंके अन्तःकरणमें सन्देह हो सकता है कि, जब दण्डकी सम्भावना उक्त जन, मह आदि चार लोकोंमें नहीं है तो वहाँकी सुव्यवस्था कैसे रहती है? तथा स्मृतिमें जो दण्डका माहात्म्य वर्णन है, उसकी विफलता तो नहीं होगी? इत्यादि शङ्काओंके समाधानके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, उक्त चार लोकोंमें राजानुशासनकी आवश्यकता ही नहीं रहती हैं, इसकारण ऐसी शङ्कायें हो नहीं सकती हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि सात्त्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धिके अनुसार तीन अधिकारियोंके लिये यथाक्रम योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन, इस प्रकारसे तीन अनुशासनकी व्यवस्था है। योगानुशासनके दो भेद हैं, यथा परोक्षानुभूति और अपरोक्षानुभूति। शब्दानुशासनके दो भेद हैं। यथा गुरु आज्ञा और शास्त्र-आज्ञा और राजानुशासनके दो भेद हैं—यथा राजदण्ड और समाजदण्ड। तामसिक बुद्धि-सम्पन्न प्रजाको धर्ममार्गमें चलानेकेलिये राजाके द्वारा राजदण्ड, और समाजपतिके द्वारा समाजदण्डका प्रयोग करना पड़ता है, तब उस दण्डके भयसे तामसिक प्रजा भयभीत होकर धर्ममार्ग पर चला करती है। सातों आसुरीलोकोंमें न्यूनाधिकरूपसे राजदण्डकी अपेक्षा अवश्य ही रहती है। भूलोकमें प्रेत, नरक और मृत्युलोकमें तो राजानुशासनकी आवश्यकता रहती है। भूलोकके चतुर्थ अंश

पितृलोकमें तथा भूवर्लोक और स्वर्लोक इन तीनों सुखभोगसम्पन्न लोकोंमें न्यूनाधिकरूपसे राजानुशासनकी आवश्यकता रहती है। शब्दानुशासन तथा योगानुशासनके अधिकार भी इन लोकोंमें विद्यमान रहता है। क्योंकि इन लोकोंमें ऋषिगण तथा उन्नत-देवतागण भी निवास करते हैं। परन्तु जन, मह, तप, सत्य इन चार उन्नततर, उन्नततम लोकोंमें जो देवतागण वास करते हैं, अथवा वहाँ जो उन्नत आत्मायें जाती हैं, वे इतनी उत्तम होती हैं कि इन चार लोकोंमें केवल शब्दानुशासन और योगानुशासनका ही प्रभाव यथेष्ट होता है। और इन चार लोकोंमें राजानुशासनके द्विविध दण्डोंकी कुछ भी आवश्यकता नहीं होती है ॥४६॥

प्रसङ्गसे ब्रह्माण्डके उन्नततमलोकोंकी महिमा कही जाती है:—

अन्तिम ऊर्द्ध्व दोनों लोकोंके ज्ञान और उपासनाके आकर होनेसे त्रिमूर्तिकी रात्रिमें भी उनका लय नहीं होता है ॥४७॥

चतुर्दश भुवनोंमेंसे ऊर्द्ध्व सप्तमलोक श्रेष्ठ है और ऊर्द्ध्व सप्त-लोकोंमें से अन्तिम दो लोक सर्वोन्नत माने जाते हैं। ये दोनों लोक इतने उन्नत हैं कि, भगवान् रुद्रदेवकी रात्रिमें भी ये दोनों लोक अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं।

त्रिमूर्तिरात्र्याऽपि न विलीयते लोकद्वयमत्युच्चै ज्ञानोपास्या-करत्वात् ॥४७॥

इस ब्रह्माण्डके सगुण ब्रह्मस्वरूप त्रिमूर्तिकी आयुके विषयमें ज्योतिःशास्त्रका मत पहलेही कहा गया है, अब स्मृतिशास्त्रसम्मत नीचे कहा जाता है। यथा मेरुतन्त्रमें—

एवं तस्या घटिकया वर्षमेकं स्मृतम्।
घटीशतमितं तस्याः ब्रह्मा जीवति कीटवत्॥
ऋतुमात्रं हरिर्जीवेद् वर्षमेकं सदाशिवः॥

ब्रह्म-प्रकृति महामायाकी एक घटिकामें ब्रह्माका एक वर्ष होता है, परिमाणसे एकशतघटिका तक ब्रह्माकी आयु रहती है। दो महीने तक विष्णुकी आयु है और एक वर्ष तक रुद्रकी आयु है।

'ब्रह्मा विष्णुर्दिने एकः पतत्येवं वदन्ति ते'

अर्थात् विष्णुके एकदिनमें ब्रह्मा ब्रह्मीभूत होते हैं। वेद और पुराणादि शास्त्रोंमें त्रिमूर्तिके मस्तकमें एक क्यों पाया जाता है, इस प्रकारकी शङ्काके समाधानमें कहा जाता है कि इस प्रकारका वर्णन त्रिमूर्तिपदकी नित्यताके सम्बन्धसे किया गया, क्योंकि ये पद नित्य हैं। वस्तुतः तीनोंकी आयुमें भेद अवश्य है। क्योंकि ज्योतिः-शास्त्र, पुराणशास्त्र, स्मृतिशास्त्र और तन्त्रशास्त्र सबमें इसका पता-चलता है।

यद्यपि ज्योतिषशास्त्र, स्मृतिशास्त्र आदिमें कहीं कहीं मतभेद पाया जाता है, परन्तु मनुष्य विचारसे अगम्य सिद्धान्तोंमें मतभेद होना असम्भव नहीं है। सृष्टिभेदसे और ब्रह्माण्ड भेदसे उसका समाधानभी

असाध्य नहीं है। आयुके न्यूनाधिक होनेमें सब एक मत हैं इसमें सन्देह नहीं है।

इस प्रमाणसे भी यह तो सिद्ध होता है कि भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, श्रीभगवान् रुद्र तीनोंकी आयुमें भेद है। यद्यपि गौरवके अनुसार ये तीनोंही सगुणब्रह्म हैं, तथापि आयुके अनुसार यह माननाही पड़ेगा कि एक विष्णु भगवान्की आयुमें अनेक ब्रह्मा अपने पदसे हटकर ब्रह्मीभूत हो जाते हैं और एक रुद्र भगवान् की आयुमें अनेक विष्णुदेव अपने पदको छोड़कर ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। जब इन तीनोंकी आयुमें महान् भेद है, तो इन तीनोंकी रात्रिके स्वरूपमें भी आकाश पातालका सा अन्तर होगा इसमें सन्देह ही क्या है। भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् रुद्र तीनोंही अपने अपने वर्षके अनुसार सौवर्षकी आयु पाते हैं। ब्रह्माकी आयु स्मृतिशास्त्रमें प्रमाणित है—यथा विष्णुसंहितामें—

> चतुर्युगसहस्रञ्च कल्पः सच पितामहस्याह।
> तावती चास्य रात्रिः। एवंविधेनाहोरात्रेण
> मासवर्षगणनया सर्वस्यैव ब्रह्मणोवर्षशतमायुः।

सहस्रवार चारयुग बीतनेपर एक लय होता है। यही ब्रह्माका एक दिन है, उनकी रात्रिका भी उतनाही प्रमाण है। इसप्रकार दिन रात्रि, महीना तथा वर्षके हिसाबसे शतवर्ष आयु ब्रह्माकी है।

पूर्व प्रमाणसे यह सिद्ध ही है कि इन तीनोंकी आयुमें बड़ा भारी अन्तर है तो इनके प्रत्येकके दिन और रात्रिमें बड़ा अन्तर होगा यह भी स्वतः सिद्ध है। हिसाब सम्बन्धीय इस प्रमाणके

अनुसार यह मानना ही पड़ेगा कि त्रिमूर्तियोंके प्रत्येककी रात्रिमें भी प्रलयका होना अवश्यसम्भावी है। भगवान् ब्रह्माकी रात्रिमें जो प्रलय होता है, उसका वर्णन स्मृतिशास्त्रमें इसप्रकारपाया जाता है :—

चतुर्युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते प्रतिवत्सरे।
आत्मसंस्था प्रजाकर्तुः प्रतिपेदे प्रजापतिः॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यमेकयुगं ज्ञेयं तस्य एकादशश्चयः॥
मन्वन्तरं तज्ज्ञेयं ते तु यत्र चतुर्दश।
सः कल्पोनाम वैकल्पस्तदन्ते प्रलयस्तु यः॥
सा ब्रम्हरात्रि राजेन्द्र! तस्यां शेतेऽम्बुजासनः॥
लीयन्ते हि त्रयो लोकास्तदा वैराजसत्तम।
नैमित्तिको तयोर्नाम दैवंदिनमितीर्यते॥

सत्य त्रेता द्वापर और कलियुग इन चारो युगोंसे एक दिव्ययुग होता है। ११ दिव्ययुगोंसे एक मन्वन्तर होता है, चौदह मन्वन्तरसे एक कल्प होता है, उसके अन्तमें जो प्रलय होता है उसको ब्रह्मरात्रि कहते हैं, उसीमें कमलासन ब्रह्माजी लेटते हैं। हे राजन् उस समय तीनों लोक लय हो जाते हैं, उसको दैवंदिन नैमित्तिक प्रलय कहते हैं।

अब शङ्का यह भी हो सकती है कि शास्त्रोंमें ब्रह्माकी रात्रिके साथ और शतायुके साथ सम्बन्ध युक्त प्रलयका वर्णन क्यों पाया

जाता है। प्रलयके वर्णनके साथ श्रीविष्णु या श्रीरुद्र भगवान्‌की रात्रि और शतायुका कोई भी सम्बन्ध किसी वर्णनमें नहीं पाया जाता है। इसकी सहज मीमांसा यह है कि मृत्युलोकके साथ ही अपना सम्बन्ध रहनेके कारण स्थायी दैवलोकका आवश्यक वर्णन साधारण प्रलय प्रकरणमें लेनेकी आवश्यकता भी है। द्वितीयतः श्रीब्रह्माजीकी आयु और रात्रि अन्य दोनोंकी रात्रि और नामसे आवश्यकता कम होनेसे मृत्युलोकके साथ उनका निकट सम्बन्ध है, इस कारणसे भी ऐसा वर्णन प्रायः आता है। पूर्वविज्ञान तथा प्रमाणोंसे इतना सिद्ध होता है कि रजोगुणके अधिदैव श्रीभगवान् ब्रह्मा, सत्त्वगुणके अधिदैव श्रीभगवान् विष्णु और तमोगुणके अधिदैव श्रीभगवान् रुद्र, ये तीनों ही सम्पूर्ण ब्रह्म होने पर भी इनकी आयुके अन्तमें अनेक भेद हैं। उन तीनोंकी आयुके विषयमें मतभेद होने पर भी यह निश्चित है कि तीनोंकी आयु एक नहीं है। यह अवश्य नित्य है जब आयुकी उनमें छुटाई बढ़ाई है तो उनके दिन और रात्रिमें छुटाई बड़ाई अवश्य होगी, जब उन तीनों की रात्रिमें अनेक भेद हैं तो उसका प्रभाव सृष्टि-स्थिति और लय पर भी यथायोग्य रीति पर पड़ना स्वतः सिद्ध है।

सुतरां जब भगवान् ब्रह्माजीकी रात्रिमें प्रलय होता है, तब भगवान् विष्णु और भगवान् रुद्रकी रात्रिमें भी प्रलय होता है, इसमें सन्देह ही नहीं है। भेद इतना ही है कि भगवान् ब्रह्माकी रात्रिमें अतल, वितल आदि सात असुरलोक और ऊपरके सात लोकोंमेंसे

ये तीन दिव्यलोक, इसप्रकारसे दश लोक लयको प्राप्त होते हैं। जब पूर्व प्रमाणोंसे यह सिद्ध हुआ कि श्रीब्रह्माजीकी रात्रिमें दशलोक नष्ट होते हैं तो इस सूत्रोक्त निदानके अनुसार श्रीविष्णुजीकी रात्रिमें ग्यारह लोकका नष्ट होना, श्रीरुद्रजीकी रात्रिमें बारह लोकोंका लय होना अन्तिम दो ऊर्द्ध्व दो लोकोंका अपने स्वरूपमें स्थित रहना विज्ञान विरुद्ध नहीं होगा। सिद्धान्त यह है कि भगवान् विष्णु-की रात्रिमें ये दशलोक तथा महर्लोक इस प्रकारसे एकादशलोक लयको प्राप्त हुआ करते हैं और भगवान् रुद्रकी रात्रिमें ये एकादशलोक तथा जनलोक तक मिलकर बारहलोक लयको प्राप्त हुआ करते हैं। अतः जब यह सिद्ध हुआ कि सगुणब्रह्म त्रिमूर्त्तिकी रात्रिकी अवस्थामें भी अन्तिम दोनों ऊर्द्ध्वलोक अर्थात् तपोलोक और सत्यलोक जब जाग्रत रहते हैं अर्थात उनमें रात्रिका प्रवेश कदापि नहीं होता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि, ये दोनों ऊर्द्ध्वतम लोकोंमें ज्ञान और सत्त्वगुणका पूर्ण विकाश है। यही कारण है कि, तपोलोक तो उपासनाका प्रधानलोक है, और यहाँ सालोक्य, सामीप्य आदि मुक्तिकी सम्भावना है। सत्यलोक ज्ञानलोक है और इसीमें सूर्य्यमण्डलभेदनकारके उग्रकर्मा महात्मागण स्वस्व-रूपको प्राप्त होकर मुक्त होते हैं। 'अपि' शब्दका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डके त्रिगुणभेदसे त्रिमूर्त्तिरूपी तीनों देवता ईश्वर हैं और सगुण ब्रह्म हैं। उनके लोकोंमें जब रात्रि होती है, तब चतुर्दश-भुवनोंमें तमोगुण छा जाना सम्भव था, परन्तु उन दोनों लोकोंमें रात्रिका उदय अर्थात् तमोगुणका उदय होनेपर भी उक्त दोनों

सर्वश्रेष्ठलोक तमोगुणसे रहित बने रहते हैं। यही इन दोनों दिव्यलोकोंका सर्वोपरि महत्त्व है ॥४७॥

दैवराज्यके प्रसङ्गसे ऋषियोंका सम्बर्द्धनका उपाय वर्णन किया जाता है :—

ब्रह्मयज्ञ आदिसे ऋषिगण सम्बर्द्धित होते हैं ॥४८॥

दैवराज्यका साधारण ज्ञान प्रकाशित करके दैवराज्यसम्बन्धीय तीनों विभागोंमेंसे अध्यात्मविभागके अधिदैवरूपी ऋषियोंके सम्बर्द्धन करनेका उपाय वर्णन कर रहे हैं। प्रत्येक विभागके अधिदैवके सम्बर्द्धन का विज्ञान प्रकाशित होनेपर दैवराज्यका मङ्गल सम्पादित होता है। अतः पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कह रहे हैं कि, ब्रह्मयज्ञ जिसको ऋषियज्ञ भी कहते हैं, तथा ब्रह्मयज्ञके सदृश अन्यान्य धर्मसाधनके द्वारा ऋषियोंका सम्बर्द्धन होता है। ऋषियोंकी प्रसन्नताके उपयोगी दानधर्म आदिमें अनेक ऐसे धर्मकार्य हैं, जो ब्रह्मयज्ञके सहायक और सदृश माने जा सकते हैं। अनेक आध्यात्मिक उन्नतिकारी ऐसे सत्कार्य हैं, जिनके द्वारा समष्टिरूपसे जगत्‌में ज्ञानज्योति विकाशमें सहायता मिलती है। ऐसे धर्मकार्योंके उदाहरण स्मृतिशास्त्रमें पाये जाते हैं। यथा :—

कायेन मनसार्थेन विद्यावृद्धिमिहेच्छता।
यद्दानं दीयते सम्यक् ब्रह्मदानं तदीर्य्यते॥

ब्रह्मयज्ञादिभिः प्रोर्ज्जिता ऋषयः ॥४८॥

स्थापनं पाठशालानां महाविद्यालयस्य च ।
दुर्लभप्राक्तनानर्घ्यपुस्तकानां प्रकाशनम् ॥
तथा विरचनं नव्यग्रन्थानामुपयोगिनाम् ।
दानञ्च पुस्तकादीनां विद्यार्थिभ्योऽर्थपाठनम् ॥
एवं लेखनशैलीनां हितबुद्ध्या प्रवर्त्तनम् ।
ज्ञेयान्येतान्यपि ब्रह्म-दानानन्तर्भावितानि वै ॥

अर्थात्—शरीरसे मनसे और अर्थसे विद्याकी वृद्धिकेलिये जो दान दिया जाता है, उसको ब्रह्मदान कहते हैं। महाविद्यालय और पाठशालाओंका स्थापन दुर्लभ अप्रकाशित और अमूल्य पुस्तकोंका प्रकाशन, उपयोगी नव्यग्रन्थोंका विरचन, तथा विद्यार्थियोंको पढ़नेकेलिये पुस्तकप्रदान, और जगत्के कल्याणकेलिये नूतन लेखशैलीका प्रचार, इन सबोंको भी ब्रह्मदान कहते हैं। सृष्टिके आदिसे प्रकट होकर सृष्टिके अन्तपर्य्यन्त रहनेवाली आर्य्यजातिके जितने आचार हैं, वे सब वैदिक विज्ञानसम्मत और अतिदूरदर्शितासे पूर्ण हैं। आर्य्यजातिके सदाचारोंकी ही महिमा है कि आध्यामिक उन्नतिकारी प्रवाहको स्थिर रखकर यह सदाचारी मनुष्यजाति चिरकाल तक अपने स्वरूपमें जीवित रहती है। सुतरां इस ब्रह्माण्डके दैवजगत्के सम्वर्द्धन करनेकी समीचीन-शैली इस जातिके सदाचारमें प्रचलित रहेगी इसमें सन्देह ही क्या है। जिन कर्म्मोंकेद्वारा दैवजगत्के सबश्रेणीके अधिदैवोंका सम्वर्द्धन होता है जिन-जिन धर्मसाधनोंके द्वारा दैवजगत्की पुष्टि होती है, वे सब धर्मकर्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकेलिये परम मङ्गलकर

होगे इसमें सन्देह ही नहीं है। विशेषतः उन विशेष धर्मसाधनोंके द्वारा दैवजगत्के रक्षकगण सम्वर्द्धित होते हैं और उनके सम्वर्द्धन होनेसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है, ऐसे धर्मसाधनोंको महायज्ञ कहते हैं। क्योंकि कर्ममीमांसा दर्शनमें कहा है:—

जिस महायज्ञके द्वारा ब्रह्माण्डके अध्यात्म विभागके अधिदैव रूपी ऋषिगण सम्वर्द्धित होते हैं उन्हीं यज्ञोंको महायज्ञ कहते हैं। महायज्ञ प्रधानतः पाँच श्रेणीके माने गये हैं। यथा शास्त्रोंमें कहा है:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञञ्च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञञ्च यथाशक्ति न हापयेत्॥
एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदोजनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति॥

अर्थात्—ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और पितृयज्ञ इन पञ्चमहायज्ञों-को यथाशक्ति त्यागना उचित नहीं है। यज्ञशास्त्रवेत्ता कोई कोई महात्मा इन पञ्चमहायज्ञोंको इन्द्रियमें ही हवन करते हैं। ब्रह्मयज्ञद्वारा ऋषिगण सम्बर्धित होते हैं, देवयज्ञद्वारा देवतागण सम्वर्द्धित होते हैं, पितृयज्ञ-द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होते हैं। भूतयज्ञद्वारा ब्रह्माण्डके सब प्राणी सम्वर्धित होते हैं और नृयज्ञद्वारा मनुष्यसमाजमात्रकी पूजा और पुष्टि होती है।

[अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलि-भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्। पञ्चैतांश्च महायज्ञान्न हापयति शक्तितः]।

अर्थात्—अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, हवन देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ, और अतिथियोंका पूजन नृयज्ञ कहलाता है। यथाशक्ति

इन पञ्च महायज्ञोंको त्याग देना उचित नहीं है। इसी कारण ये पाँचों सब प्रकार महायज्ञोंमें सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। वेद और शास्त्रोंमें सबके लिये यह अति आवश्यकीय नित्य और कर्तव्यकर्म रखा गया है अर्थात् इनके करनेसे विशेष पुण्य नहीं होता है और न करनेसे विशेष पाप होता है। इन पाचोंमेंसे इस सूत्रके साथ ब्रह्मयज्ञकाही सम्बन्ध है। कर्तव्य बुद्धिको धारण करके निष्काम हो, प्रतिदिन नियमपूर्वक वेद और शास्त्रोंके अनुशीलन और स्वाध्याय द्वारा ब्रह्मयज्ञका साधन होता है, 'स्वाध्यायैर्वार्चयेद् ऋषीन्'। ऐसा स्मृतिमें लिखा है। ज्ञानप्रकाशक ज्ञानके आधारभूत वेद और शास्त्रके अनुशीलन द्वारा ऋषियोंकी पुष्टि होती है। क्योंकि ज्ञानविस्तार और आध्यात्मराज्यपर आधिपत्य करना ऋषियोंका कार्य है। जिस प्रकार अन्नद्वारा मनुष्यशरीरकी पुष्टि होती है, उसीप्रकार ज्ञानविस्तार द्वारा ऋषियोंकी पुष्टि होती है। सुतरां ब्रह्मयज्ञ द्वारा ऋषिगण सम्वर्द्धित होंगे इसमें सन्देह ही क्या है। 'आदि' शब्दसे तात्पर्य बहुत कुछ है। वेद और शास्त्रोक्त ब्रह्मयज्ञके अतिरिक्त यज्ञ, तप, दान आदि धर्मोंके अङ्गभूत ज्ञानविस्तार और विद्याकी सेवाके सम्बन्धमें जितने धर्मकार्य होंगे, वे भी ब्रह्मयज्ञसे परोक्षरूपसे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण ब्रह्मयज्ञके अन्तर्गत ही समझे जा सकते हैं। उनके द्वारा अवश्य ऋषियोंका सम्वर्द्धन, और प्रसन्नता होती है। शंका निवृत्तिकेलिये उल्लेख किया जाता है कि, जिस देशमें या जिस मनुष्यजातिमें वेद और वेदसम्मत शास्त्रोक्त पञ्चमहायज्ञका प्रचार नहीं है, वहाँ भी ऋषियोंकी प्रसन्नताका

लक्षण दिखाई देता है, वहाँ भी ज्ञानके विभिन्न अङ्गोंका विस्तार हुआ करता है। अतः ब्रह्मयज्ञसे सम्बन्धयुक्त अन्यधर्मसे भी ऋषिगण सम्वर्द्धित होते हैं, यही इस सूत्रमें आदिशब्दका तात्पर्य है। इतना मानना ही पड़ेगा कि ब्रह्मयज्ञ प्रधान है और ऋषिगणके सम्वर्द्धनके सम्बन्धमें ब्रह्मयज्ञसे सम्बन्धयुक्त अन्यधर्म गौण है। अथवा इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, जब ब्रह्माण्डके चतुर्दश भुवनोंमें ही ऋषियोंका वास है, जब सप्त ऊर्द्ध्व देवलोकोंमें भी विभिन्न श्रेणीके ऋषियोंका निवास है, यहाँ तककि सप्त आसुरी अधोलोकोंमें भी आसुरीज्ञानके प्रकाशक विभिन्न श्रेणीके ऋषि वास करते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि देवताओंकी रीतिपर ऋषियोंकी श्रेणियाँ भी अनेक है। सुतरां उक्त श्रेणीके तारतम्यानुसार ब्रह्मयज्ञ तथा आदि, इन दोनों शब्दोंका सम्बन्ध बाँधा जाय तो विज्ञानविरुद्ध नहीं होगा।

वस्तुतः अध्यात्मलक्ष्ययुक्त यावत् शास्त्रब्रह्मयज्ञसे साक्षात् सम्बन्धयुक्त समझे जायँगे। आध्यात्मिक लक्ष्यविहीन अन्यान्य ज्ञान प्रकाशक शास्त्र आदिका सम्बन्ध इस सूत्रोक्त आदिशब्दके साथ यदि माना जाय तो विज्ञान सिद्ध होगा ॥४८॥

उनके सम्वर्द्धनका फल कहा जाता है :—

वे सम्वर्द्धित होकर ज्ञानकी वृद्धि करते हैं ॥४९॥

इस संसारमें राजा प्रजाके सम्बन्धसे देखा जाता है कि प्रजाके

तथाविधा ज्ञानस्य वर्द्धकाः ॥४९॥

कर से राजा सम्वर्द्धित होकर प्रजाकी सब प्रकारसे रक्षा करता है, उसी उदाहरणसे समझनेयोग्य है कि, इस ब्रह्माण्डके अध्यात्मविभागके चालक और रक्षक ऋषिगण जब किसी मनुष्य अथवा मनुष्यजातिके ब्रह्मयज्ञ आदि द्वारा सम्वर्द्धित होते हैं तो अवश्य ही प्रसन्न होकर उस मनुष्य अथवा मनुष्यजातिके आध्यात्मिक कल्याणार्थ यथायोग्य रीतिपर उस मनुष्यके अन्तःकरणमें अथवा वंशमें अथवा उस मनुष्यजातिमें ज्ञानका विकाश किया करते हैं। स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे लिखा है कि—

स्वभावतः प्रसीदन्ति तेषु देवर्षयोध्रुवम्।
अतो अन्तःकरणे अध्यात्म-रहस्यस्य यथाक्रमम्॥
विकाशो जायते तेषां नात्र कार्या विचारणा।

तात्पर्य यह है कि ऋषियोंकी प्रसन्नतासे जीवके अन्तःकरणमें निश्चित रूपसे अध्यात्मज्ञानका विकाश होगा, इसमें सन्देह ही नहीं। अस्तु। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि ज्ञानराज्यकी सुव्यवस्था करना और ज्ञानका विस्तार करना यह ऋषियोंका कार्य है, सुतरां यदि ऋषिगण परिपुष्ट तुष्ट और सम्वर्द्धित होंगे तो अवश्य ही अपना कर्तव्यसाधन करके व्यक्ति अथवा मनुष्यसमाजका आध्यात्मिक कल्याण साधन करेंगे इसमें सन्देह ही नहीं। अवश्य भेद इतना है कि जिस श्रेणीके ऋषियोंकी तुष्टि होगी उसीश्रेणीका ज्ञान प्रकाशित होगा। ऋषियोंके श्रेणी-विभागको पूर्वमें इङ्गित किया गया है॥४६॥

ऋषियोंकी श्रेणी और अधिकारका वर्णन किया जाता है :—

ज्ञानवैचित्र्यके कारण ऋषियोंका अधिकार सर्वत्र है ।।५०।।

ज्ञानका विस्तार और वैचित्र्य अतिमहान् है। इस कारणसे ऋषियोंका निवास सर्वत्र होना विज्ञानसिद्ध है। इस सूत्रमें सर्वत्र-शब्दका तात्पर्य चतुर्दश भुवनोंसे है।

ऊर्द्ध्वलोकोंके भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य, और सप्त अधोलोक अर्थात् अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, और पाताल, इन सब चतुर्दश लोकोंमें विभिन्न ऋषिगण वास करते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

वर्तन्ते पितरो यानि भुवनानि चतुर्दश।
ऋषीणामधिकारोऽस्ति सर्वथाऽक्षुण्ण एवचलम् ।।
ज्ञानराज्याधिदैवानामधिकारस्तथैव हि।
अस्ति व्याप्तः किलर्षीणां भुवनानि चतुर्दश ।।

अर्थात् ज्ञानके अधिष्ठातृदेवता ऋषियोंका अधिकार चतुर्दश-भुवनोंमें ही अक्षुण्णरूपसे परिव्याप्त है।

और भी :—

हे सूताध्यात्मराज्यस्य चालका ऋषयो यतः।
तच्चतुर्दशलोकेषु गतिस्तेषामबाधिता ।।

सर्वत्राधिकारो ज्ञानवैचित्र्यादृषीणाम् ।।५०।।

अर्थात् ऋषियोंके अध्यात्मराज्यके चालक होनेके कारण उनकी गति चतुर्दशभुवनोंमें ही अवाधित है। भूलोकके अन्तर्गत पितृलोकमें भी ऋषिगण रहते हैं और इस मृत्युलोकमें सब श्रेणीके ऋषियोंके अवतार हुआ करते हैं। इसकारण भूलोकमें भी ऋषिगण वास करते हैं, ऐसा अवश्य कहा जायगा। ज्ञानशास्त्रका दो भाग है यथा पराविद्या सम्बन्धीयशास्त्र और अपरा विद्या सम्बन्धीयशास्त्र। जिन शास्त्रोंमें केवल आत्मा, अनात्माका विचार हों वे शास्त्रसमूह पराविधा सम्बन्धीय शास्त्र कहाते हैं और अन्यान्य सब लौकिक शास्त्र अपरा विधाकी श्रेणीमें समझे जायँगे।

श्रुतिमें कहा है कि :—

"द्वे विद्ये वेदितव्य इति स्म
यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥

तत्रापराऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"

अर्थात्—दो प्रकारकी विद्या जाननी चाहिये, यथा परा और अपरा जैसा कि ब्रह्मज्ञगण कहते हैं। उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्वेद शिक्षाकल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष ये अपरा विद्या हैं और जिस विद्याके द्वारा अक्षर ब्रह्म जाने जाय वह परा विद्या है। स्मृतिमें परा और अपरा विद्या विषयक वर्णन श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे किया है :—

मम सेवारतायाश्च स्वरूपं प्रकृतेर्द्विधा ।
विभक्तं वर्त्तते विज्ञाः नात्र कार्या विचारणा ॥
एका पराभिधा ज्ञेया द्वितीयाऽपरनामिका ।
अपरानामिका जीवान् प्रकृतिर्मेऽखिलानलम् ॥
गुणत्रयात्मके जाले स्वस्मिनाश्लिष्य मायया ।
द्वन्द्वस्यानुभवंतैश्च कारयन्ती निरन्तरम् ॥
स्वविलासात्मकं लीलामयं जनयते जगत् ।
परा मे प्रकृतिर्धन्या साधकानां हृदयाम्बुधे ॥
भृङ्गावलीं पराभक्तिं सन्निवेश्य महर्षयः ।
वीक्षयन्ती भयानाश्च गुणानां वैभवं मुहुः ॥
द्वन्द्वातीतं पदं नीत्वा मामेनान् दर्शयत्यहो ।

अर्थात्—मेरी सेवामें रता प्रकृतिके स्वरूपके दो भेद हैं । एकको परा और एकको अपरा जानो । अपरा नाम्नी मेरी प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक जालमें सब जीवोंको मायामें फँसाकर उनको द्वन्द्वका अनुभव निरन्तर कराती हुई अपने विलासरूपी लीलामय संसारको प्रकट करती है । हे महर्षिगण ! मेरी धन्या पराप्रकृति साधकोंके हृदय कमलमें मेरी भक्तिरूपिणी भृङ्गावलीको संनिविष्ट करके त्रिगुण-वैभवको बार-बार दर्शन कराती हुई द्वन्द्वातीत पदमें पहुँचाकर मेरा दर्शन करा देती है। ऊपर कथित वर्णनोंसे यह प्रमाणित होता है कि, पराविद्या और अपराविद्या दोनोंका बहु विस्तार है । इस विज्ञानको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं, कि पूर्व कहे हुये सात अज्ञानभूमि और सात ज्ञानभूमिओंके अनुसार सब ज्ञानभूमियोंके शास्त्रसमूह

पराविद्या सम्बन्धीय शास्त्र कहे जायँगे और सातों अज्ञानभूमि सम्बन्धीय शास्त्रसमूह अथवा अन्यान्य लौकिकशिल्प और पदार्थ-विद्या सम्बन्धीय शास्त्रसमूह अपराविद्या सम्बन्धीय शास्त्र समझे जायँगे। इन सप्तज्ञानभूमि और सप्त अज्ञानभूमियोंका विस्तारित विवरण पहले आ चुका है। जब ज्ञान और अज्ञान भूमियोंका चौदह भेद हैं और उन भेदोंके अनेक श्रेणियाँ हैं तो ऋषियोंके अनेक अधिकार और अनेक श्रेणियाँ होना भी स्वतः सिद्ध है। क्योंकि जितनी प्रकार जितनी श्रेणीकी ज्ञानप्रणाली प्रकाशित होती है वैसी विभिन्न अधिकारके और श्रेणीके ऋषियोंके द्वारा ही हुआ करती है। आसुरी विद्याके ऋषियोंका असुरलोकोंमें और दैवीविद्याके ऋषियोंका देवलोकमें वास होना भी स्वतः सिद्ध है। अतः ऋषियों-का चतुर्दशलोकोंमें ही निवास होना ज्ञानकी विचित्रताके कारणसे सिद्ध होता है ॥५०॥

देवताओंके सम्वर्द्धन उपाय कहा जाता है:—

देवयज्ञादिके द्वारा देवगण सम्वर्द्धित होते हैं ॥ ५१ ॥

प्रत्येक ब्रह्माण्डके रक्षक तीन श्रेणीके देवता हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। वे ही ऋषिगण, देवगण और पितृगण नामसे अभिहित होते हैं। इससे पहले प्रथम श्रेणीके अधिदैवोंके सम्वर्द्धनका उपाय कहा गया है, अब द्वितीयश्रेणीके अधिदैवके सम्वर्द्धनका उपाय कहा जाता है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि जैसे ब्रह्मयज्ञ

देवयज्ञादिभिर्देवाः ॥ ५१ ॥

तथा ब्रह्मयज्ञकी श्रेणीके धर्मसाधनोंके द्वारा ऋषियोंका सम्वर्द्धन होता है, उसीप्रकार देवयज्ञरूपी महायज्ञ तथा उसकी श्रेणीके सब प्रकारके धर्मसाधनोंसे देवताओंका सम्वर्द्धन हुआ करता है। जिस प्रकार ब्रह्मयज्ञ एक महायज्ञ है, उसी प्रकार देवयज्ञ भी दूसरा महायज्ञ है। वेद और वेदसम्मत देवयज्ञ अग्निमें आहुति द्वारा नित्य कर्म-रूपसे किया जाता है। अग्निहोत्र आदि वैदिक स्मार्त और तान्त्रिक कर्म भी देवयज्ञके अन्तर्गत माने जाते हैं, इसीकारण अग्निहोत्रादि कर्मोंकी सनातनधर्ममें इतनी महिमा गायी गयी है, देवयज्ञकेद्वारा देवतागण सम्वर्द्धित होते हैं, स्मृतिशास्त्रमें इसका प्रमाण मिलता है। यथाः—

इष्टदेवप्रसादः स्यान्नित्यं होमानुशीलनम्।
देवा देव्यश्च तृप्यन्ति होमेनाऽनेन निश्चितम्॥
सहयज्ञाःप्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

तात्पर्य यह है कि देवयज्ञरूपी नित्यहोम अनुशीलनके द्वारा इष्टदेव तथा अन्यान्यदेव देवी सम्वर्द्धित होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। गीतोपनिषद्में भी लिखा है कि—

ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न किया और कहा—कि इसी यज्ञके द्वारा क्रमोन्नति करो यह अभीष्टप्रद हो। इसके द्वारा तुम देवताओंका सम्वर्द्धन करो देवतालोग तुम सबोंको सम्वर्द्धित करें। इस प्रकार परस्पर सम्वर्द्धनाकर परममङ्गल लाभ करोगे। यज्ञावशिष्टभोजी साधुगण सब पापसे मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो अपनेलिये पाक करते हैं, वे पाप ही भक्षण करते हैं। जिज्ञासुओंके चित्तमें यह शङ्का हो सकती है कि जहाँ वेदसम्मत शास्त्रविहित देवयज्ञका प्रचलन नहीं है, उस भूमिमें तथा उस देशके अधिवासियोंपर देवतागणकी प्रसन्नता कैसे दिखायी देती है? दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि क्या देवताओंकी प्रसन्नता प्राप्तिके लिये क्या एकमात्र देवयज्ञ ही उपाय है? तीसरी शङ्का हो सकती है कि वर्णाश्रमसदाचारयुक्त आर्यजाति ही देवताओंके सम्वर्द्धनमें कारण हो सकती है? इसप्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने 'आदि' शब्दका प्रयोग किया है। आदिशब्दके तात्पर्य यही है कि साधारणधर्म, विशेषधर्म, आपद्धर्म, और असाधारणधर्म इन चतुर्विध धर्मोंके अङ्गोपाङ्गोंमेंसे प्रायः अनेक ऐसे धर्म और उपाङ्ग हैं, जो देवयज्ञके अन्तर्गत न होनेपर भी देवताओंके सम्वर्द्धनका कारण बना करते हैं। उक्त धर्मसाधनोंके करनेका आर्य, अनार्य्य, शिक्षित, अशिक्षित सब प्रकारके मनुष्य-जातिओंका अधिकार है। अतः उक्त धर्मसाधनोंके द्वारा सब देश और सब मनुष्यजातिमें देवताओंके सम्बर्द्धनका उपाय बन सकता है। जिसप्रकार ऋषिगण ज्ञानराज्यके चालक और रक्षक हैं

उसी प्रकार देवतागण कर्मराज्यके चालक और रक्षक हैं। सुतरां सत्वगुणवर्द्धक कर्म हो, लोककल्याणकारी कर्म हो अथवा धर्मोन्नतिकारी कर्म हो उसके द्वारा देवतागण अवश्य सम्वर्द्धनको प्राप्त होंगे ॥ ५१ ॥

देवताओंके सम्वर्द्धनका फल कहा जाता है :—

वे शक्ति और सुख आदि प्रदान करते हैं ॥५२॥

क्योंकि वे कर्मराज्यके संरक्षक और चालक हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा :—

सृष्टेरस्त्यधिभूतायाश्चालकं धारकं तथा ।
आधिदैविकराज्यस्य चालका परिरक्षकाः ॥

अर्थात् अधिदैवराज्यका चालक और परिरक्षक निखिल देवतागण हैं।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अर्थात्—जिस कारण देवतागण यज्ञसे सम्वर्द्धित होकर तुमको अभीष्टभोग प्रदान करेंगे उन लोगोंका दिया हुआ द्रव्य आदि उनको न देकर जो भोग करता है वह चोर है।

शक्तिसुखादीनाम् ॥५२॥

जब देवतागण कर्मराज्यके चालक और संरक्षक हैं और कर्मके द्वारा ही सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक, उन्नति, अवनति, शक्तिकी प्राप्ति, शक्तिकी हीनता, ऊर्द्ध्वगति, अधोगति आदिकी प्राप्ति होती है, तब यह स्वतः सिद्ध है कि कर्मराज्यके अधिदैवरूपी देवतागण जब सम्वर्द्धित होकर प्रसन्न होंगे तो वे अवश्य ही सुख, शक्ति, ऐश्वर्य आदि प्रदान करेंगे। इस सूत्रमें 'आदि' शब्दसे उन कर्मफलोंका तात्पर्य है जो सुखप्रद, शक्तिप्रद हो यथा स्वर्गसुख ऐहलौकिक ऐश्वर्य, पारलौकिक ऐश्वर्य, लौकिकशक्ति, अलौकिकशक्ति इत्यादि, ये सब ही देवतागण प्रसन्न होकर दिया करते हैं ॥५२॥

अब पितरोंके सम्वर्द्धनका उपाय कहा जाता है :—

पितृयज्ञ आदिके द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होते हैं ॥५३॥

प्रथम ज्ञानराज्य उसके अनन्तर कर्मराज्यके अधिदैवोंके यथाक्रम सम्वर्द्धन होनेका उपाय वर्णन कर अब महर्षि सूत्रकार इस सूत्रद्वारा अधिभूत-स्थूलराज्यके अधिदैवरूपी पितरोंके सम्वर्द्धनका उपाय वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं कि, पितृयज्ञरूपी महायज्ञ तथा उसी श्रेणीके अन्यान्य धर्मसाधनोंकेद्वारा पितृगण सम्वर्द्धित हुआ करते हैं। स्मृतिशास्त्रोंमें भी श्रीभगवान् शम्भुने पितरोंसे कहा है कि—

यस्यां मनुष्यजातौ स्यात्पित्रोः पूजा यथार्थतः ।
ऋषीणां देवतानाञ्चावताराणां यथायथम् ॥

पितृयज्ञादिभिः पितरः ॥५३॥

मद्विभूत्यवताराणां स्यादाराधनमप्यलम् ।
यत्र सप्तविधानाञ्च वृद्धानाममलात्मनाम् ॥
पूजा स्यात् सन्ततं सम्यक् सत्कारेण समन्विता ।
स्वयं सम्वर्द्धिता जातिरसौ सम्वर्द्धयेद्धि वः ॥

अर्थात्—श्रीभगवान् शम्भु पितरोंसे कहते हैं कि जिस जातिमें मातापिताकी यथार्थ पूजा प्रचलित है, जिस जातिमें ऋषि देवताओं-के अवतारों तथा मेरी विभूति और अवतारोंकी यथायोग्य आराधना होती है, जिस जातिमें सप्तप्रकारके वृद्धोंके सम्यक्रूपसे नित्य पूजा होती है, वह जाति स्वयं भी सम्वर्द्धित होकर आपलोगोंको सम्वर्द्धित करती है। और भी इस विषयका प्रमाण श्रुतिस्मृति में—

"आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वाताः पथिभिर्देवयानै-रस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्" ये अग्निष्वात्ता अनग्निष्वाता मध्येदिवः स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराऽसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयति" पितृश्राद्ध ।

यह पहले ही वर्णन हो चुका है कि, पितृगण कितने प्रकारके होते हैं तथा वे स्थूलशरीररूपी पिण्ड और स्थूलशरीरसे सम्बन्धयुक्त अन्यान्य विषयोंके रक्षक हैं। अतः इसका भी विज्ञान प्रकाशित होना अत्यावश्यक है कि ऐसे उपकारी और शक्तिशाली अधिदैवीका सम्वर्द्धन कैसे हुआ करता है। पञ्चमहायज्ञोंमेंसे पितृयज्ञ भी एक प्रधान यज्ञ है। सब कर्मकाण्डीय-क्रियायें वैदिक तान्त्रिक और मिश्र इस प्रकारसे त्रिविध होती हैं। जैसा स्मृतिशास्त्रमें कहा है कि :—

वैदिकी तान्त्रिकी मिश्रा त्रिविधा कर्म चोदना ॥

वैदिकी तान्त्रिकी और मिश्र, कर्म तीन प्रकारके होते हैं। उसी रीतिके अनुसार पितृयज्ञ भी प्रधानतः वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र, इसप्रकारसे तीन श्रेणीका होता है, उनका साधन करना गृहस्थाश्रमीका प्रधान कर्तव्य है। वर्णाश्रमसदाचारसे युक्त आर्य-जातिका यह एक प्रधान आचार माना गया है। यही कारण है कि वर्णाश्रमी आर्यजातिके साथ पितृगणोंका कुछ विचित्र सम्बन्ध माना गया है।

जैसा कि स्मृतिशास्त्रमें कहा है :—

शाश्वतस्यास्य धर्मस्य यावत् प्रादुर्भविष्यति।
सार्वभौमस्वरूपं हि पितरो भाग्यशालिनः ॥
साधारणस्य धर्मस्य तत्त्वतो हृदयङ्गमम्।
सार्वभौमस्वरूपं हि कर्तुं मह्यं न संशयः ॥
पालनीयाः सदाचारा आर्य्यजातीयमानवैः।
वर्णाश्रमीयधर्मस्य विशेषस्य तथैव च ॥
यतो वर्णाश्रमैर्धर्मै र्विहीना सर्वथा ननु।
असौ सृष्टिर्मानवानां कालिकायाः प्रभावतः ॥
प्रकृतेर्मे लयं याति कुत्रचित्समये स्वतः।
धत्ते रूपान्तरं वासौ नात्र कार्या विचारणा ॥
वर्णाश्रमाणां धर्माणां बीजरक्षाप्रभावतः।
मर्त्यानां रक्षितः पन्थाः स्यात् क्रमाभ्युदयप्रदः ॥

शाश्वतस्य हि धर्मस्य ज्ञानंस्यात् तेन कर्हिचित् ।
वर्णधर्मं यतो विज्ञाः प्रवृत्तेरोधकं जगुः ॥
निवृत्तेः पोषकञ्चैव धर्ममाश्रमगोचरम् ।
अतो वर्णाश्रमाख्यस्य धर्मस्यैव सुरक्षणात् ॥
रक्षिता पितरो वो हि शक्तिः सम्पत्स्यते शुभा ।

अर्थात्—श्रीशम्भु भगवान् निजमुखसे पितरोंको आज्ञा करते हैं कि हे भाग्यशाली पितृगण ! इस सनातनधर्मका सार्वभौम स्वरूप जितना प्रकट होगा उतना ही इस संसारमें मनुष्योंकी क्षुद्रता नष्ट होगी। तत्त्वतः साधारणधर्मका सार्वभौम स्वरूप निःसन्देह हृदयङ्गम करने योग्य है और उसीप्रकार वर्णाश्रमसम्बन्धी विशेषधर्मके सदाचार भी आर्यजातीय मनुष्योंसे पालन करने योग्य है। क्योंकि वर्णाश्रमधर्मरहित यह मनुष्यसृष्टि मेरी प्रकृति कालीके प्रभावसे किसी समयान्तरमें सर्वथा लयको प्राप्त हुआ करती है, अथवा वह रूपान्तरको धारणकर लिया करती है, यह निश्चित है। वर्णाश्रमधर्मकी बीजरक्षाके प्रभावसे मनुष्योंकी अभ्युदय देनेवाली शैलीकी रक्षा होती है, उससे किसी समय सनातनधर्मका ज्ञान होता है। क्योंकि हे पितृगण ! वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक, आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक कहा जाता है। इसलिये वर्णाश्रमधर्मकी रक्षासे तुम्हारी शुभशक्ति रक्षित होगी।

पहले कहा गया है कि जिस देश अथवा जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमधर्मकी सुव्यवस्था होनेसे पितृपूजा और पितृ-

यज्ञका यथाविधि स्वरूप प्रचलित नहीं है, वहाँ क्या पितरोंको सम्वर्द्धित होनेका उपाय नहीं हो सकता है ? इत्यादि शङ्काओंके निराकरणार्थ विज्ञानकी पुष्टिके अर्थ पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रमें 'आदि' शब्दका प्रयोग किया है। पितृयज्ञके सदृश नित्य और नैमित्तिक पितृगणोंकी पूजाके सम्बन्धके जितने धर्माङ्ग और उपाङ्ग है, वे सब 'आदि' शब्दके अन्तर्गत समझे जायँगे ॥५३॥

पितरोंके सम्वर्द्धनसे जो फलकी प्राप्ति होती है सो कहा जाता है :—

वे स्वास्थ्य वीर्य्य आदि प्रदान करते हैं ॥५४॥

पितृगण जब सम्वर्द्धित होकर प्रसन्न होते हैं तो वे स्वास्थ्यवीर्य्य आदि प्रदान करते हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी लिखा है :—

प्रसीदन्ति भवन्तो हि मर्त्यजातौ तु यत्र वै।
सैव स्वास्थ्यं तथा वीर्य्यं सदाचारं पवित्रताम् ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोवलम् ॥

अर्थात्—जिस मनुष्यजातिपर आप प्रसन्न होते हैं वह जाति अवश्य ही शीघ्र स्वास्थ्य, वीर्य्य, पवित्रता और आचारको लाभ करती है। पूजनीयोंकी सेवा, प्रणाम सत्कारादिसे आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है। श्रुतिमें भी लिखा है—

स्वास्थ्यवीर्यादीनाम् ॥५४॥

"अत्ता हवींषि वर्हिं यथाऽपि७ सर्ववीरं दधातन "पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वाचः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात" आधत्त पितरो- गर्भं कुमारं पुष्करस्रजं यथेह पुरुषोऽसत्"

पितृगण आधिभौतिक जगत्के संरक्षक और चालक हैं। नित्य-पितृगण एक प्रकारके देवता ही हैं। नैमित्तिक पितृगण भी प्रायः पितृलोकमें पहुँचकर उनके कार्यमें सहायक हो सकते हैं। पितरोंका कार्य केवल ब्रह्माण्डके आधिभौतिक विभागसे ही सम्बन्ध रखता है, इस कारण उनकी प्रसन्नता होनेपर शारीरिक वीर्य्य और स्वास्थ्य तथा वीर्य्य और स्वास्थ्य सम्बन्धीय सब बातें, वे प्रदान किया करते हैं। स्त्री-पुरुषके रजोवीर्य्यकी शुद्धि, संतानकी उत्पत्ति, उत्तम सन्ततिका होना, स्वास्थ्यका ठीक रहना, कर्मजदोषज और दोषकर्मज-रूपी त्रिविध व्याधिकी शान्ति, शारीरिक पराक्रम, धर्मोन्मुख पुरुषार्थ, सत्कर्ममें उत्साह आदि सब ही स्वास्थ्य और वीर्य्यसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। पितृगणके प्रसन्न होनेपर ये सब पदार्थ स्वतः ही प्राप्त होते हैं। इस सूत्रमें 'आदि' शब्दसे स्वास्थ्य और वीर्य्यके सदृश अन्यान्य आधिभौतिक लाभसे सम्बन्ध है ॥५४॥

प्रसङ्गसे दैवीजगत्से लाभ उठानेके कारणोंमेंसे प्रधान कारण कहा जाता हैः—

सर्व श्रद्धा सापेक्ष है ॥५५॥

सर्वं श्रद्धया ॥ ५५ ॥

दैवी जगत्से तथा पूर्वकथित तीन प्रकारके देवताओंसे तथा उपासना सम्बन्धीय सब साधनोंमें लाभवान् होनेका प्रधान कारण श्रद्धा है।

उपास्य उपासकभावकी सफलतामें तथा दैवजगत् सम्बन्धीय सब पुरुषार्थोंमें श्रद्धाका होना मुख्य है। इस सूत्रमें श्रद्धाशब्दका अर्थ पूर्वकथित स्नेह, प्रेम, श्रद्धा, श्रद्धासे तात्पर्य नहीं है। यहाँ विश्वाससे उत्पन्न जो स्थिर बुद्धियुक्त पवित्र धारणा है, श्रद्धाशब्दसे उसीको समझना चाहिये। मनुष्यके अन्तःकरणमें प्रथम विश्वास उत्पन्न होता है और विश्वास दृढ़ हो जाने पर एक निश्चयात्मिका पवित्र तथा दृढ़ता उत्पन्नकरनेवाली और फलमें निश्चय दिलानेवाली वृत्तिका उदय होता है उसीको श्रद्धा कहते हैं। यथा स्मृतिमें—

प्रत्ययो धर्मकर्मेषु श्रद्धेत्युदाहृता ॥
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम् ॥

धर्मकर्ममें निश्चयता देनेवाले विश्वासको श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धाहीन मनुष्यका सभी धर्म कर्म वृथा होता है। क्रियाशुद्धि, संस्कारशुद्धि तथा अन्तःकरणशुद्धिमें श्रद्धा ही कारणरूप है। श्रद्धाके बिना कोई भी किसी कर्ममें यथाशक्तिरूपसे प्रवृत्त हो सकता है। श्रद्धाकेद्वारा अन्तःकरण सत्त्वोन्मुख होता है। क्रिया संस्कार तथा अन्तःकरण सभीको पवित्र करती हुई श्रद्धा उपासनामें साधककी दृढ़ता सम्पादन करती है। श्रद्धाकी महिमाके विषयमें वेद और शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा :—

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ॥
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।
"यदावै श्रद्धात्मना मनुते नाश्रद्दधत् मनुते श्रद्धैव मनुते"
श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः" श्रुतिः ।
"श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" योगदर्शन ।

श्रद्धा पूर्वा इमे धर्माः श्रद्धामध्यान्त संस्थिताः ।
श्रद्धां नित्या प्रतिष्ठाश्च धर्माः श्रद्धैव कीर्तिताः ।
श्रुतिमात्ररसाः सोक्षाः प्रधानपुरुषेश्वराः ।
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा ॥
कायक्लेशैर्न वहुभिर्नैवार्थस्य राशिभिः ।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि ॥
श्रद्धास्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ।
सर्वस्वं जीवितं वापि दद्यादश्रद्धया यदि ॥
नाप्नुयात् तत् फलं किञ्चित् श्रद्धादानं ततो भवेत् ।
एवं श्रद्धान्वयाः सर्वे सर्वे धर्माः प्रकीर्तिताः ॥
केशवः श्रद्धया गम्यो ध्येयः पूज्यश्च सर्वदा ।
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ नचतत् प्रेत्य नो इह ।
श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत् क्रियते नृभिः ॥
सुविशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्प्यते ।

अर्थात्—श्रद्धासे सत्यलाभ होता है, जब कोई भी मनुष्य कुछ काम करते हैं श्रद्धापूर्वक ही करते हैं, अश्रद्धासे कुछ भी काम नहीं

करते हैं। श्रद्धासे ही अग्निमें जलाते हैं, श्रद्धासे ही हवन करते हैं। जो कुछ धर्म है सब श्रद्धापूर्वक ही होता है। श्रद्धा समस्त धर्मोंमें ही है, श्रद्धा मध्य और अन्तमें भी है। श्रद्धा नित्य प्रतिष्ठाके स्वरूप है, श्रद्धासे ही प्रकृतिके ईश्वर पुरुषको लाभ कर सकते हैं, श्रद्धा स्वर्ग है, मोक्ष है और विश्व चराचरका स्वरूप है। अश्रद्धासे अपना सर्वस्व अपना प्राणपर्यन्त दान करें तौ भी कुछ फल नहीं होगा। इसी तरह समस्त धर्म श्रद्धासे युक्त है, श्रद्धापूर्वक भगवान्का ध्यान-पूजन करना चाहिये तभी उनको जान सकते हैं।

अश्रद्धासे हवन, दान, तपस्या जो कुछ करें, सब असत् है। श्रद्धापूर्वक जो कुछ कर्म किया जाता है उसीसे अनन्त फल लाभ होता है, इससे पहले भावशुद्धिका विशेष वर्णन आ चुका है। भावशुद्धिकी महिमा इतनी अधिक है कि, उसके द्वारा अधर्म भी धर्म-रूपमें परिणत हो सकता है, पापकर्म भी पुण्यकर्मरूपमें परिणत हो सकते हैं। श्रीभगवान् भावगम्य है, ऐसा भगवत् साक्षात् करानेवाला भाव भी श्रद्धामूलक है। सुतरां श्रद्धा उपासनासम्बन्धीय सब कर्मोंका मूल होती है—इसमें सन्देह ही क्या है। योगभूमियोंके अनुसार यदि विचार किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि प्रत्याहार भूमिके साथ श्रद्धाका सम्बन्ध है, धारणाभूमिके साथ भावका और ध्यानभूमिके साथ समाधिका सम्बन्ध है। वस्तुतः अन्तर्जगत्की योगभूमिमें ये ही तीन प्रधान हैं। इनमेंसे अन्तर्जगत्की पहली भूमि प्रत्याहारके साथ जब श्रद्धाका सम्बन्ध है तो बिना श्रद्धाके उपासक अपनी भूमियोंमें न आगे बढ़ सकता है और न समाधि-

प्राप्तकर सकता है। अतः श्रद्धा सबका मूल है, यह स्वतः सिद्ध हुआ ॥५५॥

उसके भेद कहे जाते हैं :—

वह त्रिविध है ॥५६॥

यह संसार त्रिगुणात्मक है, इसकारण स्थूलराज्यसे लेकर अन्तर्राज्यकी वृत्तिसमूह तक सब त्रिगुणात्मक हैं। अतः श्रद्धाका भी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके भेदसे त्रिविध होना स्वतः सिद्ध है। तीनों प्रकारकी श्रद्धा ही अपने अपने अधिकार, अधिकारीके अनुसार शुभफलप्रद होती है, तथापि सात्विक श्रद्धाकी महिमा सर्वोपरि मानी गयी है। शास्त्रोंमें त्रिविध श्रद्धाके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं :—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्विकी राजसी चैव तामसी च बुभुत्सवः॥
तासान्तु लक्षणं देवाः शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिका परा।
विचारहीन-संस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता॥

अर्थात्—श्रीभगवान्‌ने देवताओंको निजमुखसे कहा है कि जीवोंकी प्रकृतिके अनुसार श्रद्धा त्रिविध होती है, सात्विकी, राजसी और तामसी, अब उनके लक्षण भक्तिभाव सुनो। जो विशुद्ध ज्ञान-

सा त्रिविधा ॥५६॥

मूलक श्रद्धा है उसको सात्त्विक जानो, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसी है और विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसी है ॥५६॥

श्रद्धाके सम्बन्धसे देवशक्तिके विकाशका तारतम्य वर्णन किया जाता है :—

तारतम्यसे दिव्यदेशादिमें देवशक्तिका विकाश होता है ॥५७॥

सोलह प्रकारके दिव्य देशोंके नाम और वर्णन पूर्वमें आ चुका है। दिव्यदेश किसको कहते हैं उसका रहस्य क्या है सो शास्त्रोंमें कहा गया है यथा:—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः पयोधरान्निस्सरतीह केवलम्।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतः सम्प्रकाशमाप्नोति दिव्यदेशकैः ॥

यथाधिकारं लभते दिव्यदेशे ह्युपासनाम्।
योगसिद्ध्युपलब्धो हि सहकारितया मता ॥
धारणा सहकारेण दिव्यदेशे प्रकाशते।
इष्टोदेवो मन्त्रयोगो दिव्यदेशो हितप्रदः ॥
वेदेषु तन्त्रशास्त्रेषु दिव्यदेशस्य वर्णना।
भेदश्च वर्णितो विज्ञैर्विस्तरेण महात्मभिः ॥

तारतम्याद्दिव्यदेशादौ देवशक्तिविकाशः ॥५७॥

कुर्य्यादावाहनं मूर्तौ मृण्मयादौ सदैव हि ।
प्रतिमायां जले वह्नौ नावाहनविसर्जने ॥

अर्थात्—जिस प्रकार दुग्ध गौके सारे शरीरमें परिव्याप्त रहनेपर भी केवल स्तनद्वारा क्षरित होता है, इसीप्रकार परमात्माके सर्व-व्यापक होनेपर भी उनका विकाश दिव्यदेशोंमें होता है। साधकके अधिकारानुसार इन दिव्यदेशोंमें उपासना करनेका उपदेश उनको प्राप्त होता है, योगसिद्धिमें यह हितकर है। धारणाकी सहायतासे दिव्य देशोंमें इष्ट देवताका आविर्भाव होता है, मन्त्रयोगमें दिव्यदेश-सेवन परम हितकर है। दिव्यदेशोंका विस्तारित वर्णन और भेद वेद और तन्त्रोंमें अनेक प्रकारसे वर्णित है। मृण्मय आदि मूर्तियोंमें प्रथम देवताका आवाहन करके पूजा आरम्भ करना उचित है। किन्तु प्रतिष्ठित देवविग्रह, संस्कृत अग्नि अथवा ध्यानमें आवाहन और विसर्जनकी आवश्यकता नहीं है।

तीनों गुणोंके अनुसार साधकोंमें जिस गुणकी विशेषता रहेगी उसी गुणके श्रद्धाका विकाश उसके अन्तःकरणमें होगा। जैसी श्रद्धाका उदय साधकमें होगा उससे सम्बन्धयुक्त दिव्यदेश आदिमें भी उसी श्रेणीके अधिदैवका आविर्भाव हुआ करता है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि यदि तामसिक श्रद्धावाला साधक, यदि किसी दिव्यदेशमें पीठ उत्पन्नकर और राजसिक श्रद्धावान् साधक किसी दूसरे दिव्यदेशमें पीठ उत्पन्न करे तो तीनोंका दिव्यदेश एक ही श्रेणीका होनेपर भी तीनों पीठोंकी शक्तिमें अनेक तारतम्य

होगा। ऊपरसे देखनेमें मूर्त्तिचित्र अथवा स्थण्डिल आदि दिव्य-देश एक ही प्रकारसे एक ही रूपसे देखेजानेपर भी इस दिव्यदेशमें जो तीनों श्रेणीके साधकोंके द्वारा जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप पीठ उत्पन्न हुये हैं उनकी आन्तरिक सूक्ष्मशक्तिमें अनेक तारतम्य रहेगा। इस विज्ञानको और भी सूक्ष्मरूपसे समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि दिव्यदेशमें पीठशक्तिके विकाशमें तारतम्य होनेके कारणोंमें से मुख्य कारण श्रद्धाके साथ ही साथ और भी कारण ध्यानमें रखने योग्य है। साधककी शक्ति और साधककी प्रकृति और प्रवृत्ति-जनित अधिकार भी कारण है। शक्तिके विषयमें योग्यता अयोग्यता प्राप्ति करनेका उपाय सम्बन्धीय विज्ञान अगले सूत्रसे प्रगट होगा और प्रकृति प्रवृत्तिजनित अधिकारके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है :—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

अर्थात्—सब मनुष्योंमें श्रद्धा अपने अपने अन्तःकरणके अनुसार होती है, यह पुरुष श्रद्धायुक्त है जैसी श्रद्धा होती है। वैसा ही वह पुरुष होता है। सात्विक पुरुष देवताओंका और राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसोंका और तामसी जन प्रेत और भूतोंका पूजन करते हैं।

इन श्लोकोंमें जो त्रिविध श्रद्धाका भेद वर्णन किया गया है, वह साधककी प्रवृत्ति और प्रकृतिके अनुसार ही कहा गया है। वस्तुतः यह भेद श्रद्धाके नहीं है, श्रद्धान्वित साधकके हैं। फलतः दिव्य-देशमें पीठकी सहायतासे अधिदैवके आविर्भाव होनेमें श्रद्धा तथा उसके सहायक अन्य विषयोंके तारतम्यसे दैवीशक्तिके आविर्भावमें भी तारतम्य हुआ करता है। पीठके वर्णनमें जो पाँच प्रकारके पीठोंका वर्णन किया गया है उनमेंसे उपासनापीठ ही दिव्यदेश नामसे अभिहित होते हैं और इसके अतिरिक्त जो और चार प्रकारके पीठ है उन्हींके लिये इस सूत्रमें आदि शब्दका प्रयोग हुआ है ॥५७॥

विकाशका मुख्य साधन कहा जाता है :—

श्रद्धासे देवताओंका आविर्भाव होता है ॥५८॥

दिव्य देशके आदिमें पीठकी सहायतासे अधिदैवोंके आविर्भाव-का कारण तथा अवस्थाका वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्र-कार इस सूत्रद्वारा उनके विकाशका मुख्य साधन कह रहे हैं। यद्यपि दिव्यदेश आदिमें अधिदैवशक्तियोंके आविर्भाव करनेके योग-विज्ञानके अनुसार अनेक उपाय हैं परन्तु उनमेंसे प्रधान यह है कि श्रद्धाका होना. कौशलका होना, ठीक अनुष्ठान होना और क्रिया-मन्त्रका ठीक साधन होना, इस प्रकारसे तीनोंकी योजनासे दिव्यदेशमें तुरन्त ही अधिदैवशक्तियोंका आविर्भाव हो जाता है। श्रद्धाके द्वारा अभ्यानशुद्धि, मन्त्रके द्वारा अधिदैवशुद्धि और क्रियाकेद्वारा

श्रद्धाभ्यो देवानाम् ॥५८॥

अधिभूतशुद्धि एक साथ होते ही दिव्यदेशमें तत्काल यथायोग्य दैवशक्तिका आविर्भाव हो जाता है।

अग्नि, जल, मूर्त्ति, नित्ययन्त्र आदि दिव्यदेशोंको लक्ष्यमें रखकर साधक जब अपनी श्रद्धाके अवलम्बन द्वारा बुद्धियुक्त होकर निश्चय करता हुआ विश्वासको सुदृढ़ कर लेता है, दूसरी ओर उक्त अधिदैवके मन्त्रजप द्वारा अपने मनको एकाग्र करता हुआ अपने इष्टका सान्निध्य प्राप्त करता है और साथ ही साथ शास्त्रोक्त क्रियाके द्वारा दिव्यदेशको शुद्ध नियन्त्रित करता है, तो तुरन्त ही यथायोग्य पीठका आविर्भाव हो जाता है। दूसरी ओर अध्यात्म-शुद्धिद्वारा श्रद्धाकी सहायतासे उस साधकका विज्ञानमयकोष देवतामें युक्त हो जाता है अधिदैवशुद्धिद्वारा मन्त्रकी सहायतासे उस साधकका मनोमयकोष देवतामें युक्त हो जाता है, और अधि-भूत शुद्धि होनेसे उसका प्राणमयकोष उक्त अधिदैवके प्राणमय-कोषसे युक्त होकर उक्तदिव्यदेशमें पीठ उत्पन्न करके उक्त दैवीशक्तिका वहाँ आविर्भाव कर देता है। क्रियाकेद्वारा देवताओंकी प्रसन्नताभी होती है, क्योंकि पूजामें क्रिया ही प्रधान है। अच्छाभाव मूलक मन्त्रमें और देवतामें अभेद है। जिस प्रकार नाम और रूपमें अभेद है, अतः मन्त्रसिद्धि और क्रिया आदि द्वारा देवताओंका साक्षात्कारभी हुआ करता है, क्योंकि मन सब इन्द्रियोंका राजा है। शास्त्रोंमें इस विज्ञानके अनेक प्रमाण है। यथा :—

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवता सन्निधिर्भवेत् ॥

यही सूत्रका विज्ञान है ॥ ५८ ॥

अब सकल स्थानोंमें दैवीशक्ति व्यापक कैसे होती है इसका विज्ञान कहा जाता है :—

नित्य और व्यापक होनेसे गोदुग्धकी तरह भगवत् शक्तिका विकाश होता है ॥५६॥

श्रीभगवान्‌की शक्ति अथवा ऋषिदेवता आदिकी शक्ति व्यापक है। वह व्यापकशक्ति एक केन्द्रमें केन्द्रीभूत होकर कैसे आविर्भूत होती है उसका विज्ञान समझानेके लिये तथा पूर्व कहेहुए दिव्यदेश-तत्त्व और पीठतत्त्व और आगे कहनेवाले योग अवतारतत्त्वको भली-भाँति समझानेकेलिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने यहाँ इस सूत्रका आविर्भाव किया है। दैवीशक्तिके विकाशके विज्ञानका जैसा पूर्व सूत्रके साथ सम्बन्ध है वैसा ही परसूत्रोंके साथ भी है। जिस प्रकार सूर्यकी अग्निपूर्ण रश्मि आकाशमें सर्वव्यापक है, परन्तु आतसीकाच द्वारा वह व्यापक रश्मि एक केन्द्रमें केन्द्रीभूत होते ही अग्नि उत्पन्न होकर जलाने लगती है, ठीक उसीप्रकार सर्वव्यापक दैवशक्ति पीठ द्वारा दिव्यदेशमें केन्द्रीभूत होकर दैवशक्तिका स्वरूप धारणकर लेती है। इसी विज्ञानको स्पष्ट रूपसे समझानेके लिये इस सूत्रमें

नित्यत्वव्यापकत्वाद्भगवच्छक्तेश्च गोदुग्धवत् ॥५६॥

कहा गया है कि, जैसे गौके सारे शरीरमें रसरूपसे गोदुग्ध व्याप्त है, परन्तु जब दूध निकलता है तब गौके स्तनके द्वारा ही निकलता है। उसीप्रकार व्यापक दैवीशक्ति दिव्यदेश आदि पीठोंमें तथा अवतारके विग्रहमें केन्द्रीभूत होकर प्रकाशित हुआ करती है ॥५९॥

अब अवतारतत्त्व कहा जाता है :—

भगवान्के अवतारके सदृश ऋषि एवं देवताओंके अवतार होते हैं ॥६०॥

मृत्युलोकमें विशेषकार्य सम्पादनकेलिये श्रीभगवान्के अवतार होते हैं, और भगवदवतारके सदृश ऋषि और देवताओंके अवतारभी होते हैं। पितरोंके अवतार नहीं हुआ करते हैं, क्योंकि पितामाताके द्वारा ही स्थूलशरीर निर्माणार्थ सर्वकार्य सम्पादित हो सकता है। कर्मराज्य और ज्ञानराज्यका विशेष विशेष कार्य जीवके द्वारा न होनेके कारण मनुष्यकेन्द्रमें ऋषियों और देवताओंके अवतार समय समयपर प्रकट हुआ करते हैं। भगवत्कला विकाशके द्वारा अवतारतत्त्वके प्रकट करनेके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें जो रहस्य वर्णन है उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

शक्तेर्मय्यवतिष्ठन्ते कलाः षोडश सर्वदा।
अतोऽहं सर्वशक्तीनामस्म्याधारस्वरूपिणी॥

ऋषिदेवानामवतरणं तद्वत् ॥६०॥

कलारूपैः कलापूर्णा शक्तिः सा मेऽश्नुते जगत् ।
तस्याः तासां कलानान्तु वित्त भेदाननेकशः ॥
ममैवैका कला शक्तेरुद्भिज्जेषु विकाशते ।
स्वेदजेषु कलाद्वैत - मण्डजेषु कलात्रयम् ॥
चतस्रश्च कला भान्ति जरायुजगणेऽखिले ।
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वान्मर्त्येषु प्रायशोऽमराः ! ॥
आकलापञ्चकादष्ट कला नूनं चकासति ।
नवारभ्य कलायावत् षोडशं मे यथायथम् ॥
सम्विकाश्यावतारेषु नानाकेन्द्रोद्भवेषु च ।
कुत्रचिन्मे प्रपूर्यन्तेऽवतारे पूर्णसंज्ञके ॥

अर्थात्—ब्रह्मशक्ति महामाया देवताओंसे कह रही हैं कि मुझमें शक्तिकी षोडशकला सर्वदा विद्यमान है, इसलिये मैं सर्वशक्तियोंका आधारस्वरूपा हूँ। कलाओंसे पूर्ण वही मेरी शक्ति कलारूपसे जगत्में परिव्याप्त है। उस शक्तिकी उन कलाओंके अनेक भेद हैं। मेरी शक्तिकी एक कला उद्भिज्जमें, स्वेदजमें दो कलाओंका, अण्डजमें तीन कलाओंका और सब जरायुजोंमें चार कलाओंका विकाश होता है। हे देवगण ! पञ्चकोषके पूर्ण अधिकारी होनेके कारण मनुष्योंमें पाँच कलाओंसे लेकर आठकलाओंतकका विकास होता है। साधारणतः नानाकेन्द्रोंसे आविर्भूत मेरे अवतारोंमें नवसे लेकर षोडशकलाओंका यथावश्यक विकास होकर किसी पूर्ण अवतारमें सोलह कलायें पूर्ण विकसित होती हैं। भगवत् अवतारके सदृश ऋषियों और देवताओंके अवतार भी इस मृत्युलोकमें

आविर्भूत होकर अपने अपने अधिकारके कार्योंको सुसम्पन्न करते हैं। इस सम्बन्धमें स्मृतिमत उद्धृत किया जाता है—

आध्यात्मिक्यः कलाः सर्वा मम षोडशसंख्यकाः।
प्रपूर्यन्ते शिवेऽतोऽसौ महर्ष्यादिर्जगद्गुरुः॥
मत्कला आधिदैविक्यः प्रपूर्यन्ते यतो हरौ।
अतो देवादिदेवोऽयं विश्वस्मिन् विष्णुरुच्यते॥
ममावतारसङ्घोऽपि विष्णवंशैरेव जायते।
विधौ षोडश पूर्यन्ते ह्यधिभूतकला मम॥
अतः प्रजापतीनाञ्चासावस्त्यादिः पितामहः।
ममाध्यात्मकलानाञ्च षोडशानां पुराऽमराः!॥
भूत्वा सप्तर्षिवर्गेषु विकाशो याति हेतुताम्।
अनेकेषां महर्षीणां ज्ञानविस्तारकारिणाम्॥
इमं व्यासमुनिं तत्र द्वात्रिंशत्संस्मराम्यहम्।
यथासम्भव विज्ञानदृशा संदृश्यमानया॥
द्वादशाल्पधियस्तत्र कुलाकारे हि तैः समाः।
दश सर्वे समाकाराः शिष्टाः कुलविलक्षणाः॥
अद्याप्यन्ते भविष्यन्ति व्यासवाल्मीकयस्तथा।
भृग्वङ्गिरापुलस्त्याश्च तथैवाप्यन्यथैव च॥

अर्थात्—महामाया देवताओंसे कहती हैं कि मेरी आध्यात्मिक षोडशकलाओंकी पूर्णता शिवमें प्रकाशित होनेसे वे सब ऋषियोंके आदि और जगत्के गुरु हैं। मेरी अधिदैव कलाकी पूर्णता विष्णुमें होनेसे वे संसारमें देवादिदेव कहे जाते हैं। इसलिये मेरे अवतार-

समूह विष्णुके अंशसे आविर्भूत होते हैं। मेरी अधिभूत कलाओंकी पूर्णता ब्रह्मामें है। इसलिये वे प्रजापतियोंके आदि और पितामह कहे जाते हैं। मेरी आध्यात्म षोडशकलाओंका विकास प्रथम सप्तर्षियोंमें होकर ज्ञानके चालक नाना ऋषियोंका कारण बनता है। ऋषिगण मेरी इन कलाओंमेंसे विशेष विशेष कलाओंको धारण करके चतुर्दशभुवनोंमें ज्ञानका विस्तार करते हैं।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतसदेवाएह वक्षति।
ऋग्वेद १।१।२

"ज्योतिः शास्त्रमते वशिष्ठपत्न्यरुन्धतीसहितवर्तमान मन्वन्तरीयसप्तर्षीणां मघानक्षत्रे स्थितिः तस्योदये तेषाञ्चोदयो भवति।

काशीखण्डमते शनिलोकादूर्द्ध्वं ध्रुवलोकादधः तेषां स्थितिः,,

अर्थात् ज्योतिषशास्त्रके मतानुसार वशिष्ठपत्नी अरुन्धतीके साथ वर्तमान मन्वन्तरीय सप्तर्षिगण मघानक्षत्रमें स्थित हैं। अतः अरुन्धतीके उदयसे उन लोगोंका भी उदय होता है। काशीखण्डके मतसे शनिलोकके ऊर्द्ध्व और ध्रुवलोकके अधः उन लोगोंकी स्थिति है।

कर्द्दमो वालखिल्याश्च विश्रवाः शक्तिवर्च्चसः।
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषिताङ्गताः॥
ऋषिपुत्रा ऋषिकास्तु मैथुनाद्गर्भसम्भवात्।
परत्वेनर्षयस्ते वै भूतादि ऋषिकास्ततः॥

ऋषिकाणां सुता ये वै विज्ञेयाः ऋषिपुत्रकाः ।
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषिताङ्गताः ॥
तेषां पुत्रानृषिकांस्तु गर्भोत्पन्नान्निबोधत ।
वत्सरो नहुषश्चैव भारद्वाजश्च वीर्यवान् ॥
ऋषिर्दीर्घा तपाश्चैव बृहद्दुःस्थः शरत्वतः ।
वाजिश्रवाः सुचित्तश्च श्यावोऽश्वश्च पराशरः ।
शृङ्गी च कश्यपश्चैव राजा वैश्रवणस्तदा ॥
इत्येते ऋषिकाः सर्वे सत्येन ऋषिताङ्गताः ।

इति मात्स्ये १२० अध्याये ।

देवताओंके अवतारके विषयमें भागवतमें लिखा है—

देवासुरा हतवृता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजादृप्ता ववादिरे ॥
तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णा कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥

अर्थात्—देवासुर संग्राममें मारे हुये अनेक भीषण दैत्य मनुष्य-लोकमें उत्पन्न होकर प्रजापीडन करने लगे थे । अतः उनके हरणार्थ श्रीभगवान्की पूर्ववर्ती आज्ञाके अनुसार यदुकुलमें भी अनेक देवता मनुष्यरूपमें उत्पन्न हो गये थे । धर्मस्थापनपूर्वक इस मृत्युलोककी सुरक्षाके लिये और बढ़े हुये अधर्मके विनाशकेलिये जो साधारण कार्य होता है उसको श्रीभगवान् अपनी विभूतियोंके हृदयमें प्रेरणा करके सुसम्पन्न किया करते हैं ।

परन्तु जब कभी अधिक शक्तिके प्रकाशकी आवश्यकता होती है और विभूतियोंके द्वारा कार्य नहीं हो सकता है, तब श्रीभगवान् अवताररूपसे आविर्भूत होकर जगत्का मङ्गल साधन करते हैं। यथा स्मृतिशास्त्रमें श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात्—जब जब धर्मकी हानि होती है और अधर्मकी उन्नति होती है, तब श्रीभगवान्का अवतार होता है। साधुओंकी रक्षाके लिये पापियोंके विनाशके लिये और धर्मकी व्यवस्थाकेलिये प्रति युगमें भगवान्का अवतार होता है।

उसी प्रकार ज्ञानज्योति-विकाशके लिये ऋषियोंके अवतार और कर्मकी सुव्यवस्थाके लिये देवताओंके अवतार समय समयपर इस मृत्युलोकमें हुआ करते हैं। श्रीभगवान्का अवतारका होना किस प्रकार अकाट्य विज्ञानसे युक्त है, वह पूर्वकथित शास्त्रीय वर्णनसे स्वतः ही प्रमाणित होता है। उसीप्रकार अध्यात्मराज्य और अधिदैवराज्यकी सुव्यवस्थाके लिये ऋषियोंके अवतार और देवताओंके अवतारका होना भी विज्ञानसिद्ध होगा इसमें सन्देह नहीं। ६० ॥

अब अवतारका प्रमाण कहा जाता है :—

कलाभेदसे पूर्णावतार तथा अंशावतार होते हैं ॥६१॥

कलाभेदेन पूर्णांशत्वम् ॥ ६१ ॥

सगुण ब्रह्म श्रीभगवान्‌के अवतार जैसे बुद्ध, कृष्ण आदि, ऋषियोंके अवतार जैसे व्यास आदि और देवताओंके अवतार, जैसे युधिष्ठिर आदि ये सब कला और पूर्णभेदसे कई प्रकारके होते हैं। सगुण ब्रह्म श्रीभगवान् विष्णुके जो प्रधान दश, चौवीस, अथवा पचीस अवतार माने गये हैं, उनमेंसे भगवान् कृष्ण पूर्णावतार, परशुराम, बुद्ध आदि कलावतार समझे जाते हैं। श्रीभगवान् कृष्णमें सगुण ब्रह्मकी शक्तिकी सोलह कला पूर्ण थी। परशुराम, बुद्ध आदिमें दश और द्वादश आदि कलाका विकाश है। उसीप्रकार व्यासके द्वादश अवतारोंमें कला और पूर्णत्वका सम्बन्ध समझने योग्य है। धर्मराज यमके युधिष्ठिर और विदुर आदि अवतारोंमें भी इसी प्रकार आधिदैवी कलाका तारतम्य समझने योग्य है। इससे पूर्व विस्तारितरूपसे स्मृतिप्रमाण द्वारा सिद्ध कर दिया गया है कि निम्नसृष्टिसे एक कलाका प्रारम्भ होकर किस तरहसे पूर्णावतारमें सोलह कलाओंकी पूर्णता होती है। भगवत्कलाके सम्बन्धमें श्रुतिमें भी कहा है कि:—

"प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर्जायमानो वहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढ़मस्य पांसुले" तद्धैतद् घोर एव आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचा पिपास एव स वभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्य च्युतमसिप्राण संशितमसीति॥

अर्थात्—उसी प्रकार ऋषि आदिके अवतारमें भी समझना

उचित है। भेद इतना ही है कि भगवत्कलासम्पूर्ण सृष्टिमें परिव्याप्त है। जैसा कि स्मृतिके पूर्व प्रमाणसे सिद्ध है। परन्तु ऋषियोंकी कला अथवा असुरोंकी कलाका विकाश केवल मानवपिण्डमें ही हुआ करता है। सहजपिण्डसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, यही उभयमें पृथक्ता है। देवता अथवा असुरकी कला अथवा नित्य ऋषियोंकी कला मनुष्योंमें सदा कार्य्य करती रहती है। जिस मानवपिण्डमें ज्ञान प्रकाशका कार्य होता है वहाँ कुछ न कुछ ऋषिकलाका विकाश अवश्य है। उसी प्रकार जहाँ आसुरी सम्पत्तिके लक्षण प्रकाशित है, वहाँ आसुरी कलाका अवश्य विकाश है, और जिस मानव-पिण्डमें दैवीसम्पत्तियोंका लक्षण परिस्फुट है वहाँ अवश्य ही देवताकी कलाका विकाश है। परन्तु उनके अवतार तभी माने जायगे जब उन कलाओंका विकाश आठ कलासे षोडशकला तक आविर्भूत हुआ हो। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि असुर भी एक प्रकारसे शक्तिके विचारानुसार देवता हैं। असुरगण मनुष्यके कर्मको विगाड़ते हैं और देवतागण मनुष्यके कर्मोंको सुधारते हैं। निर्भय होना, पवित्रता, ज्ञान, अभिमानरहित होना इत्यादि सब दैवी सम्पत्तियोंके द्वारा मनुष्यके संस्कार सुधरते हैं। परन्तु भीरुता, अपवित्रता, अज्ञान, दम्भ, दर्प आदि आसुरीसम्पत्ति द्वारा मनुष्यकी अधोगति होकर मनुष्यके संस्कार नीचेकी ओर ले जाते हैं। वस्तुतः शक्तिके विचारसे दैवीशक्ति और आसुरी-शक्ति समान है, परन्तु ऊर्ध्वगतिशील और अधोगतिशील होनेके विचारसे दिन और रातके समान अलग अलग है।

इसी विज्ञानके अनुसार यह प्रतिपन्न होता है कि, सब समय मनुष्य-शरीरमें देवता और असुरोंका कार्य्य, देवता और असुरोंका आधिपत्य होता और जाता रहता है। ऋषियोंके विषयमें केवल विशेषता यह है कि जिस मनुष्यपिण्डमें ज्ञानका कुछ विशेष प्रचारका कार्य्य प्रकट होता है, वहीं ऋषिशक्तिका आविर्भाव होना सम्भव है अन्यत्र नहीं। सुतरां देवता, असुर अथवा ऋषि, इनका कार्य इस मृत्युलोकमें सब समय प्रकट रहना स्वतः सिद्ध है; उसीप्रकार इन तीनोंका कार्य होते रहना भी स्वतः सिद्ध है। भगवत्‌शक्ति कलाओंमें पाँच कलासे लेकर आठकला पर्य्यन्त जहाँ विकाश होता है उसको विभूति कहते हैं। ऐसे विभूतियोंका गुरुरूपसे, आचार्यरूपसे, राजारूपसे सामाजिक नेतारूपसे और इसीप्रकार नानाविभूतिरूपसे संसारमें सब समय प्रकट रहना स्वतः सिद्ध है। अतः भगवत्‌विभूतिका, आसुरी सम्पत्तिका, दैवी सम्पत्तिका और ज्ञानमयी ऋषिशक्तिका सब समय इस संसारमें प्राकट्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त जब अधिक भगवत्‌कला, अधिक आसुरी कला, अधिक दैवी कला और अधिक ऋषिकलाका प्राकट्य किसी मानव-पिण्डमें होता है तभी वहाँ अवतारकी संज्ञा दी जाती है। जैसे परशुराम बुद्ध आदिमें सगुण ब्रह्म श्रीभगवान्‌की शक्तिका अवतरण, व्यास वशिष्ठमें ऋषिशक्तिका अवतरण, युधिष्ठिर भीष्म आदिमें दैवीशक्तिका अवतरण और रावण दुर्योधन आदिमें असुर शक्तिका अवतरण, अवतार रूपसे हुआ था, यह निश्चित ही है। इस वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा सगुणब्रह्म जगत् स्थितिकारी श्रीविष्णु भगवान्‌के

अवतार तथा ऋषि, देवता और असुरोंके अवतारका रहस्य सुगमतासे प्रतिपन्न हुआ।

जिज्ञासुओंके हृदयमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि, जब श्रीविष्णु भगवान्का अवतार इस मृत्युलोकमें होता है तो क्या उस समय विष्णुलोकका विष्णुपदं खाली रहता है? उसी प्रकार यह भी शङ्का हो सकती है कि ऋषि, देवता और असुरोंके अवतार होते समय क्या तत् तत् ऋषि, देवता और असुरके ऋषिलोक, देवलोक और असुरलोकके पद खाली रहते हैं? ऐसी शङ्काओंका समाधान अवश्य होना उचित है। शास्त्रोक्त वर्णनसे ही इन शंकाओंका समाधान सुगम रीतिसे हो सकता है। श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्ण जीने निज मुखसे श्रीगीतोपनिषद्में कहा है कि :—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।

हे अर्जुन! हमारे और तुम्हारे बहुत जन्म हुये हैं, उन सबोंको मैं जानता हूँ तुम नहीं जानते। श्रीभगवान्की इस आज्ञासे यही समझना उचित है कि—यद्यपि श्रीभगवान् कृष्ण सगुण ब्रह्मके पूर्णावतार थे और अर्जुन देवराज इन्द्रके अवतार थे, परन्तु उन दोनोंका जन्म पूर्वमें भी होता रहा है। श्रीकृष्णका अन्तिम जन्म श्रीभगवान्के पूर्णावतार रूपसे होनेसे पहले वे नारायण ऋषि आदिरूपसे और अर्जुनके इस जन्मसे पहले वे नरनामक ऋषि आदि रूपसे आवागमनचक्रमें आते जाते रहते थे।

यथा श्रीभगवान् ब्रह्माने तथा श्रीभगवान् कृष्णाने भी निज मुखसे कहा है :—

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
सम्प्राप्तो मानुषे लोके कार्य्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥
अर्जुनो वासुदेवश्च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते।
तावेतौ सहितावेह खाण्डवस्य समीपतः॥
नरस्तमसि युधर्ष हरिर्नारायणो स्वयम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारयणावृषी॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वच्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ॥

ब्रह्माजीने खाण्डववनको दग्ध करनेवाले अग्निको कहा कि नरनारायणरूपसे जो ऋषि पूर्वजन्ममें तपस्या करते थे, वे ही देवताओंके कार्यकेलिये मनुष्यलोकमें आये हैं। उन्हींका नाम अर्जुन और वासुदेव है, इनके साथ खाण्डव वनके समीप जाओ। भगवान्ने अर्जुनको कहा है कि हे अर्जुन तुम पूर्वजन्ममें नर ऋषि थे और मैं नारायण ऋषि था। इस जन्ममें भगवान्का रूप होकर मेरा जन्म हुआ है। तुम अर्जुनरूपसे अवतीर्ण हुए हो तुमसे मुझमें कोई अन्तर नहीं है इत्यादि। नरनारायणरूपसे उन दोनोंने बदरीकाश्रममें तपस्या की थी और इसी कारण बदरीकाश्रम तीर्थकी इतनी महिमा है। इन सब गाथाओंका वर्णन पुराणके अनेक स्थलोंमें मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान्का पूर्णावतार जिस मानवपिण्डमें आविर्भूत होता है

उस मानवपिण्डकी आत्मा आवागमन चक्रमें घूमती रही है। सुतरां चाहे भगवत् अवतार हो, चाहे ऋषि, देवता और असुरोंके अवतार हो उनका अवतरण मानवपिण्डमें ही हुआ करता है। केवल भेद इतना ही है कि श्रीभगवान्का अवतार सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य मुक्तिवाले आत्माओंमें होता है और ऋषि, देवता और असुरोंका अवतार अन्य शक्तिशाली जीवपिण्डमें हुआ करता है। अवश्य ही ऋषि, देवता और असुरके अवतारोंके आविर्भूत होनेके उपयोगी केन्द्रोंकी योग्यतामें यथायोग्य तारतम्य हुआ करता है। वस्तुतः जब श्रीभगवान्का अवतार इस मृत्युलोकमें होता है तो विशेष केन्द्रमें उनकी यथायोग्य शक्तिका आविर्भाव होता है। उनको स्वयं साक्षात्‌रूपसे आना नहीं पड़ता। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उस आविर्भूतशक्तिमें और उनमें भेद नहीं रहता है। इसीप्रकार ऋषिलोक, देवलोक और असुरलोकसे भी यथायोग्य शक्ति ही आकर यथायोग्यकेन्द्रमें आविर्भूत होती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, देवराज इन्द्रका अवतरण अर्जुनमें होनेपर भी अर्जुनने इन्द्रलोकमें देवराजको यथायोग्य पदपर आसीन पाया था। यही उदाहरण सब जगह समझने योग्य है ॥६१॥

पुनः भेद कहा जाता है :—

निमित्तके सम्बन्धसे विशेष और अविशेष होते हैं ॥६२॥

पुनः अवतार विज्ञानको विस्तारितरूपसे समझनेकेलिये पूज्य-

निमित्ताद्विशेषाऽविशेषौ ॥६२॥

पाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जैसे कला और पूर्ण भेदसे अवतारके अनेक भेद होते हैं, उसीप्रकार विशेष और अविशेष रूपसे भी अनेक भेद होते हैं। इस विज्ञानको समझनेकेलिये इसप्रकारसे मान सकते हैं कि युगधर्मके स्थायी नियमके अनुसार श्रीभगवान्के कलावतार और पूर्णावतार हुआ करते हैं। इस कारण ऐसे अवतारोंका पदगौरव कुछ विलक्षण ही है। अस्तु, ऐसे अवतार विशेष कहलाते हैं। परन्तु अविशेष अवतार-की श्रेणी अन्य प्रकारसे है। केवल साधारण निमित्तको आश्रय करके नैमित्तिकरूपसे कुछ क्षणके लिये जो भगवान्का अवतरण जिनमें होता है उनको अविशेष अवतार कहते हैं। यथार्थ गुरुपद प्रतिष्ठित महापुरुष जब शिष्यके कल्याण करनेके अर्थ युक्त होकर शिष्यको दीक्षा देनेमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय गुरुकी जो अवस्था होती है, वह श्रीभगवान्के अविशेष अवतारकी दशा है। महापुरुष-गणमें जब कभी-कभी सामयिक भगवद्भावावेश होता है, वह आवेश अवतारकी दशा भी अविशेष अवस्था कहाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक शरीरमें दो दो शक्तियोंका आविर्भाव हुआ करता है। यथा एक ही शरीरमें ऋषिशक्ति और भगवत्कलाका प्रकाश होना, अथवा एक ही शरीरमें देवशक्ति और ऋषिशक्तिका प्रकाश होना, अथवा एक ही शरीरमें देवशक्तिका नित्य विराज-मान होना और कभी-कभी भगवत्कलाका आविर्भाव होना। ऐसे स्थलोंमें जो शक्ति नैमित्तिकरूपसे प्रकाशित होती है, वह अविशेष कहाती है। अस्तु, जिस प्रकार श्रीभगवान्का विशेष और अविशेष

अवतार होते हैं उसीप्रकार ऋषि और देवताओंके भी हुआ करते हैं ॥६२॥

प्रसङ्गसे अवतारके आविर्भावका कारण बताया जाता है :—

वह समष्टि कर्माधीन है ॥६३॥

अवतारतत्त्वका वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार सब प्रकारके अवतारोंके आविर्भावका हेतु प्रतिपादन कर रहे हैं। चाहे भगवदवतार हो, और चाहे ऋषि और देवताओंका अवतार हो, सबके आविर्भावका मूलकारण जगत्का समष्टि-कर्म है। जगतका व्यष्टिकर्म तो व्यष्टिजीवके ही अधीन है। केवल समष्टिकर्मके लिये जगत्के समष्टिकेन्द्रसे शक्तिप्रयोगकी आवश्यकता होती है। जब किसी जीवविशेषको अथवा किसी धार्मिकको सम्हालना या सहायता देना होता है तो सृष्टिके साधारण नियमके अनुसार श्रीभगवान्के इङ्गितसे ऋषिगण, देवतागण अथवा पितृगण, अपने अपने अधिकारके अनुसार अन्तर्जगत्में रहकर ही सहायता किया करते हैं। यह सब व्यष्टिकर्म व्यष्टिजीव अर्थात् व्यक्तिगतजीवसे सम्बन्ध रखता है। परन्तु जब किसी मनुष्यसमाजका समष्टिकर्म सुधारना होता है अर्थात् किसी समष्टिकर्मप्रवाहको सहायता देकर नियमानुकूल उन्नत करना होता है उस समय आध्यात्मिक कार्य होनेसे ऋषियोंके अवतारोंका आविर्भाव होता है और अधिदैवकार्य होनेसे यथायोग्य शक्तिके उपयोगी

समष्टिकर्म्माधीनं तत् ॥६३॥

यथायोग्य देवताओंके अवतार प्रकट होकर समष्टिकर्मके सुधारमें सहायक बनते हैं।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ही केन्द्रमें देवशक्ति और ऋषिशक्ति दोनोंही शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। और जब कभी सृष्टिकी असाधारण अवस्था होती है तब सृष्टिमें ऐसा घोर विप्लव उपस्थित होता है कि केवल दैवीशक्तिसे काम नहीं चलता है, उस समय श्रीभगवान्‌को स्वयं अवतार धारण करना पड़ता है। दशावतार इसीके उदाहरण हैं। ये सब प्रकारके अवतारोंका आविर्भाव सृष्टिके समष्टिकर्मसे सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः जीवका व्यष्टिकर्म स्वार्थ-परतासे पूर्ण है और अवतारोंका कर्म परार्थपरतासे सम्बन्ध रखता है। श्रुतिस्मृतिमें भी कहा है:—

"गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनुधत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि॥

"बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य"

"सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्माऽसतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो! विधातः सदनुग्रहाय च।
विखनसाऽर्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले"
भुवोभारावतारार्थं देवक्यां वसुदेवतः।

अर्थात् भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, छन्द धर्म और अर्थकी रक्षाके लिये शरीरधारण करते हैं। चराचर निखिल जगत्‌के कल्याणके लिये हे परमात्मन् आप शरीरधारण करते हैं। हे प्रभो! देवता, ऋषि, मनुष्य और पक्षी आदिकोंमें जो आपका

आविर्भाव होता है, वह असाधुओंके नाश और साधुओंकी रक्षाके लिये ही है। ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे विश्वकी रक्षाकेलिये आप यदुकुलमें उत्पन्न हुये हैं। पृथ्वीका भार हरणकेलिये वसुदेवसे देवकीके गर्भमें उत्पन्न हुये हैं। इत्यादि।

अवतारविज्ञानकी पुष्टिके लिये उसके नित्यत्वका रहस्य कहा जाता है :—

अन्तःकरणमें उनका आविर्भाव नित्य है ॥६४॥

अवतार प्रसङ्गमें इससे पहले श्रीभगवान् तथा देवऋषिके सब प्रकारके अवतारोंका विस्तारित विज्ञान प्रतिपादन करके तदनन्तर उनका कारण निर्णय करनेके अनन्तर अवतारविज्ञानकी विशेष पुष्टिकेलिये सृष्टिमें भगवत् अवतारके नित्यत्वका रहस्य प्रकट करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जीवके अन्तःकरणमें सर्वजीवहितकारी सर्वजनसुहृत् श्रीभगवान्का अवतार नित्यरूपसे होता रहता है।

श्रुति :—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्"

अर्थात् इस शरीरमें जो दहर कमल है वही भगवान्का घर है। हृदयाकाशको दहर कहते हैं। अतः हृदयमें ही भगवान्का अन्वेषण करना चाहिये।

अन्तराभिर्भावस्य नित्यत्वम् ॥६४॥

अज्ञानान्ध जीव जब इन्द्रियोंके वेगसे आकृष्ट होकर विषयोंमें फँसता है तथा मनुष्य अधोगतिशील स्वाभाविक चेष्टा द्वारा पापमें रत होने लगता है, तब उसके मनोमन्दिर विहारी अन्तर्यात्मा चुपकेसे उसको सावधान करने लगते हैं कि ऐसा न करो। यही श्रीभगवान्‌का नित्य अवतरण है। मनुष्योंके अन्तःकरणमें इस प्रकार नित्यावतारका आविर्भाव सदा होता रहता है। मनुष्य जब अधिक पाप करनेका अभ्यास कर लेता है, तब इसप्रकार भगवान्‌के नित्य अवतरणका अनुभव उसको प्रायः नहीं होता है, पाप मलकी अधिकता ही इसका कारण है। परन्तु मनुष्यके अन्तःकरणमें उसको असत् मार्गसे बचानेकेलिये इसप्रकार नित्यावतारका आविर्भाव स्वतः सिद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। मनुष्य जब कर्म उपासना एवं ज्ञानकी सहायतासे अपने मल-विक्षेप और आवरणको हटा लेता है तो जितना उसका अन्तःकरण पवित्र होता जाता है उतना ही वह भाग्यवान् मनुष्य अधिकसे अधिक नित्यावतारका अपने अन्तःकरणमें दर्शन करनेमें समर्थ होता है। उसीप्रकार सर्वजीव सुहृत् श्रीभगवान्‌की परम अनुकम्पाका दृष्टान्त अन्य सब जीवोंके अन्तःकरणमें भी पाया जाता है।

कोई पशु जब विपन्न होता है तो उस विपत्तिसे उसकी रक्षा करनेके लिये जो उसके अन्तःकरणकी सत्प्रेरणा है वह भी विज्ञान मूलक है। निःसहाय निरुपद्रवी जो महिष आदि पशु जब किसी वनमें स्वतः ही हिंसक जन्तु व्याघ्र सिंह आदिकी आशङ्का करके सावधान होते हैं अथवा उस वनको त्याग करते हैं, यह भी

इसी सर्वजीवहितकारी अवतार विज्ञानको ही सिद्ध करता है। श्रुतिने भी कहा है :—

"यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे यमयति यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

अर्थात् जो मनके ऊपर और अन्तरमें रहते हैं, मन जिनका शरीर है, जो मनको अन्तरमें संयत करते हैं—अन्तरमें जो समस्त भूतोंको संयत करते हैं, वे ही आत्मा अन्तर्यामी और अमृतका स्वरूप है ॥६४॥

प्रसङ्गसे महत्त्व वर्णन किया जाता है :—

सब पूजनीय हैं ॥६५॥

चाहे देवताओंके अवतार हो चाहे ऋषियोंके अवतार हो और चाहे श्रीभगवान्के अवतार हों सब यथायोग्य रूपसे पूजनीय हैं। देवताओंकी कला देवताओंके अवतारमें ऋषियोंकी कला ऋषियोंके अवतारमें और श्रीभगवान्की कला भगवद् अवतारोंमें यथाक्रम प्रकट होती हैं। जिस पिण्डमें इस प्रकारकी कलायें आविर्भूत हों वे पिण्ड उन्हीं आविर्भूत कलाओंके अनुसार अवश्य ही पूजनीय होंगे इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि इस संसारमें जब किसी देशान्तरमें कोई राजकर्मचारी सम्राट्के प्रतिनिधि होकर शासनका भार ग्रहण करता है तो वह सम्राट्का

पूज्यत्वं सर्वेषाम् ॥६५॥

प्रतिनिधि अवश्य ही विशेष रूपसे राजन्यवर्ग और प्रजावर्गमें पूजनीय होता है। इसी उदाहरणके अनुसार यह मानना ही पड़ेगा कि सब श्रेणीके अवतार यथायोग्य अधिकारके अनुसार यथायोग्य रीति-पर पूजा प्राप्त करने योग्य हैं। प्रथम तो जहाँ शक्तिकलाका विकाश होगा वहाँ यथायोग्य शक्तिके विकाशके अनुसार स्वतः ही पूजा होगी, अतः इस प्रकारसे सब अवतारोंकी पूजा होना स्वाभाविक है। दूसरी ओर भगवद् शक्ति हो अथवा उनके अंशरूपी ऋषिशक्ति हो अथवा देवशक्ति हो उनके यथायोग्य अधिकारके अनुसार उनकी पूजा करनेसे पूजाकर्ताको कल्याणकी प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। अवतारके पूज्यत्वके विषयमें श्रुतिस्मृतिमें प्रमाण—

"यस्मिन् विश्वानिकाव्याचक्रे नाभिरिव त्रिता त्रितम् जूती संपर्य्यत व्रजेगावोन संयुजे युजेऽश्वां अयुक्षत नमन्ता मन्यके समे"

प्रसङ्गसे अवतारोंका पार्थक्यनिर्णयका लक्षण वर्णन किया जाता है:—

त्रिविधशुद्धि होनेसे भगवद् अवतार होता है अन्यथा होनेसे अन्यके अवतार होते हैं ॥ ६६ ॥

अवतार विज्ञानका विस्तारित वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकार यह सिद्ध कर रहे हैं कि भगवत् अवतार तथा अन्य अव-तारों में पार्थक्य क्या है? शक्तिका विकाश तो भगवत् अवतार,

त्रिविधशुद्धाववतारो भगवतोऽन्यथा चेदन्यथा ॥ ६६ ॥

ऋषि अवतार और देवताओंके अवतार सबमें ही होता है, परन्तु कैसे लक्षण होनेसे अन्य अवतार होना सिद्ध होता है, इसप्रकार की जिज्ञासाओंके उत्तरमें कहा जाता है कि जिन अवतारोंमें अध्यात्म-शुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धि इन तीनों प्रकारकी शुद्धियोंका प्रत्यक्ष लक्षण विद्यमान हों, वे ही भगवत् अवतार समझे जायँगे। सत्, चित् और आनन्दमय श्रीभगवान्की त्रिविधभाव-कलाका विकाश ही जगत्में व्याप्त है। स्मृतिशास्त्रमें भी ऐसा ही कहा है। ब्रह्मशक्ति महामाया कहती हैं कि :—

दृश्यप्रपञ्चजातेऽस्मिन् निखिले सचराचरे।
अभिव्यक्तास्मि भो देवाः कलारूपेण सर्वतः॥
परं दृश्यप्रपञ्चस्तु नैवास्ते मयि निर्जराः।
मय्यास्ते पूर्णसद्भावः कलाषोडशकान्वितः॥
चिद्भावानन्दभावौ स्तः कलापूर्णौ च मय्यतः।
कलाषोडशकोपेतसच्चिदानन्दमय्यहम्॥
यतोऽहं सच्चिदानन्दभावैः पूर्णैश्च पूरिता।
अन्तःपूर्णा वहिःपूर्णा पूर्णाऽतोऽस्मि च सर्वथा॥
सच्चिदानन्दभावानां नन्वेकैककलाश्रयः।
दृश्यप्रपञ्चपुञ्जोऽयं समुद्भूतोऽखिलो मम॥
एतास्तिस्रस्त्रिभावानां विश्वं व्याश्नुवते कलाः।
आधिदैविकमाध्यात्मं रूपं धृत्वाऽधिभौतिकम्॥

अर्थात्—हे देवतागण! मैं ही कलारूपसे इस सारे चराचर दृश्य-प्रपञ्चमें व्यापकरूपसे प्रकट हूँ। परन्तु मुझमें दृश्यप्रपञ्च

नहीं है। हे देवगण! मुझमें सोलह कलाओंसे पूर्णसद्भाव, सोलह कलाओंसे पूर्ण चिद्भाव और सोलह कलाओंसे पूर्ण आनन्दभाव विद्यमान है। इसलिये मैं षोडश कलाओंसे पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूपा हूँ। मुझमें पूर्ण सच्चिदानन्द भाव विद्यमान है। इसलिये मैं अन्तः-पूर्ण बहिःपूर्ण तथा सब प्रकारसे पूर्ण हूँ। मेरी सद्भावकी एक कला चिद्भावकी एक कला और आनन्दभावकी एक कलामात्रसे ही यह सारा दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है। यही तीन कलायें अध्यात्म, अधिदैवरूप धारण करके जगत्में व्याप्त हैं।

जबतक आध्यात्मिकशुद्धि, आधिदैविकशुद्धि और अधिभूत-शुद्धि तीनों शुद्धियोंके प्रत्यक्ष लक्षण किसी पिण्डमें प्रकाशित न हो तबतक उक्त तीन श्रेणीकी कलाओंका विकास उस पिण्डमें नहीं हो सकता। और जबतक उक्त तीन श्रेणीकी शक्तियोंका आविर्भाव न हो तबतक उस पिण्डमें श्रीभगवान्के अवतारका आविर्भाव होना सिद्ध नहीं हो सकता। भगवद् अवतारमें अध्यात्मशुद्धि होनेके कारण ज्ञानके लक्षण अवश्य प्रकट रहेंगे। भेद इतना ही है कि पूर्णावतारमें वह ज्ञानपूर्ण होगा जैसा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रमें ज्ञानकी पूर्णता थी और अंशावतारमें वैसा न होकर केवल जिस जिस कार्यकेलिये उस अवतारका आविर्भाव हुआ है उसीप्रकारके ज्ञानका विकास उस अंशावतारमें होगा। जैसा बुद्धदेव आदिमें समझना उचित है। अधिदैवशुद्धि होनेके कारण दैवीविभूतियोंका विकाश अवश्य ही अवतारके विग्रहमें होगा। भेद इतना ही है कि श्रीभगवान्के पूर्णावतार होनेसे श्री-

भगवान् कृष्णचन्द्रमें ऐसी विभूतियोंका सर्वाङ्गीण विकास था। परन्तु अन्य अवतारोंमें आवश्यकीय विभूतियोंकी पराकाष्ठा देखी जानेपर भी सब श्रेणीकी विभूतियोंका विकास नहीं हुआ था। इसी प्रकार आधिभौतिक शुद्धि होनेसे शारीरिक वैभवका असाधारण विकाश अवश्य ही अवतार विग्रहमें होगा। भेद इतना ही है कि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र जैसे पूर्णावतारमें सब प्रकारकी आधिभौतिक पूर्णता देखनेमें आती थी परन्तु अंशावतारोंमें एक देशीय पूर्णता ही प्रकाशित होती है।

पूर्णावतारमें जैसे शारीरिक माधुर्यका विकास भी समानरूपसे देखा जाता है, अंशावतारोंमें इसप्रकारसे नहीं पाया जाता। परशुराममें ऐश्वर्य था, परन्तु माधुर्य नहीं था। मत्स्यकूर्मादि अवतारों में भी ऐसा ही समझने योग्य है। अस्तु, भगवद् अवतारमें तीनों शुद्धियोंका विकाश अवश्य सम्भव है, भेद इतना ही है कि पूर्णावतारमें इन तीनोंकी पूर्णता होती है और अंशावतारोंके इन तीनों शुद्धियोंका विकास होनेपर भी प्रत्येक शुद्धियोंकी पूर्णता नहीं होती।

ऋषियोंके अवतार और देवताओंके अवतारमें समानरूपसे त्रिविधशुद्धिका विकास नहीं होता है। ऋषियोंके अवतारमें अध्यात्मशुद्धिकी प्रधानता और देवताओंके अवतारमें अधिदैव-शुद्धिकी प्रधानता रहती है। क्योंकि ऋषिगण केवल ज्ञानराज्य और देवतागण कर्मराज्यके अधीश्वर हैं। ऋषियोंके अवतारमें अध्यात्म-कलाका विकासका होना अवश्यम्भावी होनेके कारण वैसा होना

निश्चित है और साथ ही साथ किसीमें कुछ अधिदैवकला अथवा कुछ अधिभूतकलाका विकास होना भी सम्भव है। उसीप्रकार देवताओंके अवतारमें अधिदैवकलाका आविर्भाव होना अवश्य-म्भावी है और, साथ ही साथ अध्यात्मकला अथवा अधिभूत-कलाका विकास होना भी सम्भव है। जिसप्रकार श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार और अंशावतार होते हैं उसी प्रकार ऋषियोंके अवतार और देवताओंके अवतारमें भी कलाभेदसे पूर्णावतार और अंशा-वतार होना स्वतः सिद्ध है। श्रीभगवान्‌के पूर्णावतारमें त्रिविध शुद्धिकी पूर्णता और अंशावतारमें उन तीनोंका आंशिक विकास जिस प्रकारसे होता है उसी शैलीके अनुसार ऋषियोंके अवतारमें आध्यात्मिक शक्ति और देवताओंके अवतारमें आधिदैविक शक्तिका पूर्ण विकास अथवा आंशिक विकासके अनुसार ऋषि और देवताओंके पूर्णावतार तथा अंशावतारका भेद समझने योग्य है। महर्षि व्यासके द्वादश अवतारोंमेंसे महर्षि कृष्णद्वैपायनमें पूर्णा-वतारके लक्षण और अन्यमें अंशावतारके लक्षण, इसीप्रकार-से धर्मराज यमके अवतारमेंसे महाराज युधिष्ठिरमें पूर्णता और महात्मा विदुर आदिमें अंशावतारका विकाश उदाहरण स्थलपर समझने-योग्य है ॥६६॥

त्रिविधशुद्धिकी अपेक्षासे पुनः इस विज्ञानकी दृढ़ता की जाती है:—

इसी कारण पुण्ययोनि होनेसे ब्राह्मण क्षत्रिययोनिमें भगवत् अवतार होते हैं ॥६७॥

अतः ब्राह्मणक्षत्रिययो : पुण्ययोनित्वात् ॥६७॥

वर्णाश्रमधर्मसे परिशुद्ध जो आर्य्यक्षेत्र है उसीकी पुण्ययोनिमें भगवत् अवतार हो सकते हैं अन्यत्र नहीं। तात्पर्य यह है कि, भगवद् अवतार जब अपने आपही अलौकिक रूपसे विग्रह धारण करते हैं जैसे मत्स्य, कूर्म, नृसिंह आदि उस अवस्थाकी बात कुछ और ही है, क्योंकि उस विग्रहमें मातृपितृसम्बन्ध नहीं रहता है। पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि जब भगवत् अवतारका विग्रह मातृपितृसम्बन्धसे उत्पन्न होता है, तब वह वर्णाश्रमयुक्त पुण्ययोनिमें ही होता है। ऋषियोंका अवतार और देवताओंका अवतार पृथ्वीके सब देश और सब मनुष्यजातियोंमें हो सकता है। यद्यपि उन्नत ऊर्ध्वलोकोंमें जो ऋषि हैं उनका अवतार तो वर्णाश्रमयुक्त आर्यजातिके पुण्ययोनिमें ही प्रकट होना सम्भव है। विशेषत: मन्त्रद्रष्टा वेदकी ऋचाओंको अपने अन्त:करणमें श्रवण करने योग्य ऋषिगणका वर्णाश्रमयुक्त आर्यजातिकी पुण्ययोनिमें ही प्रकट होना सम्भव है। क्योंकि मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण वर्णाश्रमयुक्त आर्य-जातिमें ही हुये हैं और होते हैं। परन्तु जब ऋषियोंका वास प्रत्येक ब्रह्माण्डके ऊर्ध्व सप्तलोक और अध: सप्तलोक सबमें ही है तो ऋषियोंके दिव्यभावधारी और आसुरीभावधारी सब प्रकारके अवतार होते हैं। शास्त्रभी दैवीशास्त्र और आसुरीशास्त्र दोनों प्रकारके होते हैं। अत: ऋषियोंके अवतार सब श्रेणीके होनेके कारण उनकाभी मनुष्यकी सब जातिमें प्रकट होना असम्भव नहीं है। देवताओंका सम्बन्ध कर्मराज्यसे है और देवताभी सब श्रेणीके होते हैं। इस कारण देवताओंके अवतार पृथिवीके सब देश और सब मनुष्य-

जातियोंमें आवश्यक होने पर आविर्भूत हो सकते हैं। केवल भगवत् अवतारका प्राकट्य ऐसे नहीं हो सकता है यही इस सूत्रका तात्पर्य है।

श्री गीतोपनिषद्में लिखा है कि :—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ता राजर्षयस्तथा।

अर्थात् श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन मुझको आश्रय करने पर यदि कोई स्त्री, शूद्र अथवा वैश्यरूपी पापयोनिका भी हो वह भी श्रेष्ठगतिको प्राप्त होता है। पुण्ययोनि रूप ब्राह्मण एवं राजर्षि होकर मेरा भक्त हो तो बात ही क्या है। इस भगवत् वचनद्वारा यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और राजर्षियोंके अतिरिक्त सब पाप-योनि माने जायंगे। पुण्य और पाप, धर्म और अधर्मसे सम्बन्ध रखता है। धर्मसे पुण्य और अधर्मसे पाप होता है। धर्मविहीन अर्थ और कामसे पापकी प्राप्ति होती है। धर्मके द्वारा ही अभ्युदय और मुक्तिकी प्राप्ति होती है। अर्थ काम प्राधान्य ही साधारण शूद्र, वैश्य और स्त्रीयोनिमें पाया जाता है। अतः केवल धर्मलक्ष्यसे युक्त राजर्षिगण और केवल मोक्ष लक्ष्यसे युक्त ब्राह्मणगण ही पुण्ययोनि समझे जाते हैं। यह वर्णाश्रमधर्मका असाधारण विज्ञान है। वर्णाश्रमधर्मकी महिमाके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है :—

आर्य्यजातेर्वीर्य्यरक्षाऽऽध्यात्मिकी च क्रमोन्नतिः।
पितॄणां वर्द्धनाऽनल्पा तत्कृपाप्राप्तिरेव च ॥
सहोच्चै र्देवलोकैश्च सम्बन्धस्थापनं भृशम्।
विबुधानां प्रसादश्च विश्वमङ्गलसाधकः ॥
तथा स्वभावसंसिद्ध - संस्कारोदयसाधनम्।
वीजरक्षात्मबोधस्य कैवल्याधिगमोऽपि च ॥
वर्णाश्रमाणां धर्माणामष्टावेतानि मुख्यतः।
प्रयोजनानि सम्प्राहुः कर्मतत्त्वाब्धिपारगाः ॥

अर्थात् आर्यजातिकी वीजरक्षा, आध्यात्मिक क्रमोन्नति, पितरोंका सम्वर्द्धन और उनकी विशेषकृपाप्राप्ति, दैवी उर्द्ध्वलोकोंके साथ अतिशय सम्बन्ध स्थापन, विश्वमङ्गलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता, स्वाभाविक संस्कारोदय करना, आत्मज्ञानकी वीजरक्षा और कैवल्याधिगम ये वर्णाश्रमधर्मके आठ प्रधान प्रयोजन कर्मतत्त्व पारगोंने कहा है। जब भगवदवतारके प्रकट होनेकेलिये त्रिविध-शुद्धियुक्त विग्रहकी आवश्यकता है तो ऊपर लिखित विज्ञानसे यह बहुत सुगमतासे सिद्ध होगा कि वर्णाश्रमसे युक्त जो मनुष्यजाति है, उसीमें त्रिविध शुद्धिकी सम्भावना है। स्मृतिशास्त्रमें भी ऐसा ही कहा है :—

वर्णाश्रमाणां धर्माणां भवेद्वीजं सुरक्षितम्।
पित्रोर्धार्मिकयोर्नूनं शुद्धया शोणितशुक्रयोः ॥
धर्मे वर्णाश्रमे सम्यक् पीठशुद्धिः स्वतो भवेत्।
पीठशुद्धया स्वतश्चक्रशुद्धिकार्य्यञ्च सिध्यति ॥

यावती चक्रशुद्धिःस्यात् तावती वः प्रसन्नता ।
प्रसीदन्ति प्रसादेन देवा वोऽभ्युदयं गताः ॥
देवप्रसादमासाद्य जनाः प्रारब्धशालिनः ।
ऋषिप्रसन्नतां लब्ध्वा भवेयुर्ह्यात्मवेदिनः ॥

अर्थात्—धर्मपरायण माता-पिताके रजोवीर्य्यकी शुद्धिकेद्वारा वर्णाश्रमधर्मकी बीजरक्षा होती है। वर्णाश्रमके द्वारा पीठशुद्धि स्वतः प्राप्त होती है और पीठशुद्धिद्वारा चक्रशुद्धिका कार्य स्वतः ही सम्पादित हो जाता है। जितनी चक्रशुद्धि होती है उतने ही आप लोग प्रसन्न होते हैं। आपकी प्रसन्नतासे देवतागण अभ्युदय प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। दैवी प्रसन्नता लाभ करके अन्तमें प्रारब्धशाली मनुष्य ऋषियोंकी प्रसन्नता प्राप्त करके आत्मज्ञानी बन जाते हैं।

सुतरां त्रिविध शुद्धियुक्त तथा वर्णाश्रमधर्मसे परिशुद्ध जो आर्य-जाति है, उसीमें भगवत् अवतारका आविर्भाव हो सकता है। इसी कारण आर्यजातिकी निवासभूमि आर्यावर्त्तमें ही भगवत् अवतार प्रकट होते हैं। जिसका वर्णन आगे सूत्रोंमें कहा गया है।

सारांश यह है कि भगवत् अवतारके उपयोगी विग्रहमें त्रिविध-शुद्धिकी आवश्यकता होती है। वर्णाश्रमसे युक्त जो आर्यजाति है वही त्रिविध शुद्धिसे युक्त पिण्डप्रदान कर सकती है। चारों वर्णोंमेंसे ब्राह्मण और क्षत्रियजाति पुण्ययोनि होनेके कारण ये ही दोनों क्षेत्र भगवद् अवतारके प्रकट होनेकेलिये विशेष उपयोगी हैं ॥६७॥

प्रसङ्गसे अब पूर्णावतारकी विशेषता कही जाती है :—

पूर्णावतारमें दोनों शक्तियोंकी पूर्णता रहती है ॥६८॥

ज्ञान और कर्मके विचारसे ज्ञानराज्य और कर्मराज्यके संचालक ऋषिगण और देवतागण श्रीभगवान्‌की प्रधान शक्तियाँ हैं। जब किसी विग्रहमें भगवान्‌का अवतार होता है, तब उसमें त्रिविध शुद्धियुक्त अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं। परन्तु जब श्री भगवान्‌के पूर्णावतार प्रकट होता है तब उसमें त्रिविध शुद्धियुक्त अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों शक्तियाँ प्रकट होती हैं, यह पहले ही प्रमाणित हो चुका है। सुतरां जिस विग्रहमें अध्यात्मशुद्धि और अधिदैवशुद्धिकी पूर्णता हो उसमें ऋषिशक्ति और दैवीशक्तिका प्रकट होना भी स्वतः सिद्ध है। फलतः पूर्णावतारका विग्रह पूर्ण ऋषिशक्ति और पूर्ण दैवीशक्ति-से युक्त होगा इसमें सन्देहही क्या है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका चरित्रही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। श्रीभगवान्‌के पूर्णावतारमें यद्यपि आधिभौतिक शक्तिकीभी पूर्णता रहती है परन्तु यह पहलेही सिद्ध हो चुका है कि पितरोंके अवतार नहीं होते हैं इसकारण इस सूत्रमें आधिभौतिकशक्तिके सम्बन्धमें कोई विज्ञान नहीं कहा गया है। ६८॥

श्रीभगवान्‌के पूर्णावतारमें और भी विशेषता —

पूर्णे तस्मिन् पूर्णतोभयशक्तेः ॥६८॥

उसमें त्रिविध अधिकारकी पूर्णता रहती है ।६९।।

श्रीभगवान्के पूर्णावतारमें त्रिविध अधिकारोंकी भी पूर्णता अवश्य होती है। जहाँ पूर्णता है वहाँ सब कुछ पूर्ण होना ही उचित है। आध्यात्मिक पूर्णता आधिदैविकपूर्णता और आधि-भौतिक पूर्णता, ज्ञान, उपासना और कर्मसम्बन्धी ऐश्वर्योंकी पूर्णता, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और स्थूलशक्तिकी पूर्णता, प्रतिमा ऐश्वर्य और माधुर्यकी पूर्णता ये सब बातें श्रीभगवान्के पूर्णावतारमें स्वतःही प्रकाशित रहती हैं। जैसे श्रीभगवान् अन्तःपूर्ण और बहिःपूर्ण हैं, वैसेही उनके पूर्णावतार उनके चित् आनन्द और सत्‌भाव शक्तियोंसे पूर्ण होते हैं ।६९।।

अन्यके सम्बन्धसे विशेषता—

ऋषि और देवताओंमें ऐसा नहीं होता है ।।७०।।

जिज्ञासुके हृदयमें यदि इस प्रकारका प्रश्न उठे कि श्रीभगवान्के पूर्णावतारमें जब त्रिविध अधिकारकी पूर्णता रहती है तो क्या ऋषि और देवताओंके अवतारमें भी ऐसा होता है? अथवा पूर्णावतार-के सम्बन्धसे भगवत् अवतार और ऋषि और देवताके अवतारमें भेद किस प्रकारका होता है! इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। समाधान यह है कि श्रीभगवान्के अवतारमें जिस प्रकार त्रिविध

तत्र त्रिविधस्याधिकारस्य पूर्णता ।।६९।।

ऋषीणां देवानां वा तत्र नैवम् ।।७०।।

अधिकारोंकी पूर्णता रहती है ऋषि और देवताओंके अवतारमें वैसा नहीं होता है। यद्यपि जिस प्रकार श्रीभगवान्के अंशावतार और पूर्णावतार होते हैं उसी प्रकार ऋषियोंके और देवताओंके भी अंशावतार और पूर्णावतार होते हैं, परन्तु श्रीभगवान्के अंशावतारमें जिस प्रकारसे त्रिविध अधिकारोंका उदय रहनेपरभी न्यूनाधिक होता है और श्रीभगवान्के पूर्णावतारमें त्रिविध अधिकारोंमेंसे प्रत्येककी पूर्णता रहती है वैसा ऋषियोंके अवतारोंमें और देवताओंके अवतारोंमें पूर्णता नहीं हो सकती। ऋषियोंके पूर्णावतारमें आध्यात्मिक अधिकारकी पूर्णता और देवताओंके पूर्णावतारमें आधिदैविक अधिकारकी पूर्णता अवश्य होती है। अन्य दोनोंकी नहीं होती है। इसका कारण यह है कि श्रीभगवान् त्रिभावसे पूर्ण हैं। इस कारण उनके अवतारोंमें भी तीनों भाव सम्बन्धीय शक्तियोंका रहनाभी स्वतः सिद्ध है। ऋषि और देवता केवल एक एक भावमय राज्यके अधीश्वर हैं। उनके कार्य्याधिकारभी नियमित हैं। ऋषियोंका सम्बन्ध केवल आध्यात्मराज्यसे और देवताओंका सम्बन्ध केवल अधिदैवराज्यसे है ॥७०॥

कैसे देशमें भगवत् अवतार होता है सो प्रसङ्गसे कहा जाता है:—

भगवत् अवतारके प्रकट होनेके लिये पूर्णप्रकृतिकी अपेक्षा है ॥७१॥

पूर्णप्रकृतिरपेक्षा तस्य तस्मै ॥७१॥

श्रीभगवान् जब पूर्ण हैं तो उनकी साक्षात् शक्ति जब किसी पिण्डमें आविर्भूत होती है वह पिण्ड यदि मत्स्य, नृसिंह आदि अवतारके तुल्य स्वतः प्रकट हो तो उसमें स्वतःही पूर्णप्रकृति आविर्भूत होती है और यदि वह विग्रह माता पिताके सम्बन्धसे प्रकट हो तो उसके प्रकट होनेके लिये पूर्णप्रकृतियुक्त देशकी आवश्यकता है, देशको भी दो भागोंमें विभक्तकर सकते हैं।

यथा स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

अधुना देशविज्ञानं वर्णयामि सुसाधनम्।
प्रकृतेर्मण्डलं यत्तद्ब्रह्माण्डं तत्समष्टितः॥
तदेव पिण्डरूपेण प्रोच्यते व्यष्टिनामतः॥

तात्पर्य्य यह है कि समष्टि और व्यष्टिभेदसे देश द्विविध है। अर्थात् व्यष्टिदेश पिण्ड और समष्टिदेश ब्रह्माण्ड समझा जाता है। इसको और तरहसेभी समझ सकते हैं कि अवतारविग्रह प्रकट होनेके सम्बन्धमें माता पिताका देह व्यष्टिदेशके अन्तर्गत और पृथिवीके जिस विभागमें अवतार प्रकट हो वह समष्टिदेशके अन्तर्गत है और इन दोनोंका पूर्णप्रकृतिसे युक्त होना उचित है। जिस कुलमें अवतारका विग्रह उत्पन्न होगा वह या तो शुद्ध ब्राह्मणका कुल होगा या तो राजर्षिका कुल होगा जैसा कि पूर्वसूत्रमें सिद्ध किया गया है। वस्तुतः पिता वर्णाश्रमधर्मसे युक्त और पुण्ययोनि ब्राह्मण अथवा क्षत्रियवर्णके होनेसे और माता आदर्श सतीधर्मसे युक्त होनेसे तब व्यष्टिदेशका पूर्णप्रकृतियुक्त होना सिद्ध होगा। सुतरां आर्यजातिमें ही भगवद् अवतारका प्रकट होना केवल सम्भव है, क्योंकि यह

१५

पहलेही कहा जा चुका है कि जो मनुष्यजाति वर्णाश्रमधर्मसे युक्त हो जिस जातिका लक्ष्य केवल अध्यात्म हो और जिसजातिकी स्त्रियोंमें आदर्श सतीधर्मका लक्षण पाया जाय, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कहाती है। दूसरी ओर जिस देशमें भगवान्‌के अवतारका आविर्भाव होगा उस देशका भी पूर्णप्रकृतिसे युक्त होना उचित है। जिस देशमें वर्णाश्रमधर्म प्रचलित हो वही देश पूर्णप्रकृतिसे युक्त है, ऐसा शास्त्रकारोंने सिद्ध किया है।

भारतवर्षकी महिमा स्मृतिशास्त्रोंमें बहुधा पायी जाती है, यथा—

आर्यावर्तप्रदेशे हि कर्मभूमिस्वरूपिणि।
विशुद्धे याज्ञिके रम्ये सर्वर्तुव्रातशोभिते॥
का वार्ताऽतोऽस्ति देवानामवतारीयविग्रहम्।
आविर्भवितुमिच्छाम्यार्यावर्तेऽहमाश्रयन्॥

अर्थात्—श्रीभगवान् निजमुखसे कहते हैं कि "विशुद्ध याज्ञिक सब ऋतुओंसे सुशोभित कर्मभूमि आर्यावर्त-(भारतवर्ष) में देवताओं-की तो बातही क्या है, मैं भी अवतारविग्रहको धारण करके आवि-र्भूत होनेकी इच्छा करता हूँ" और भी:—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः।
देवीनाञ्च यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा॥
तथा श्रेष्ठा कर्मभूमिर्भूमौ भारतमण्डलम्।

देहाङ्गेषु यथा श्रेष्ठं प्राणिनां मस्तकं तथा
भूभागे पावनो देशः आर्यावर्त इति स्मृतः ॥

अर्थात्—देवताओंमें विष्णु, ह्रदोंमें समुद्र, नदियोंमें गङ्गा, पर्वतोंमें हिमालय, सब वृक्षोंमें पीपल, राजाओंमें इन्द्र, देवियोंमें दुर्गा तथा वर्णोंमें ब्राह्मण जैसा श्रेष्ठ है, वैसाही कर्मभूमिमें भारतवर्ष श्रेष्ठ है। देहाङ्गोंमें जिस प्रकार प्राणियोंका मस्तक श्रेष्ठ है उसीप्रकार भूमियोंमें भारतवर्ष श्रेष्ठ है। सुतरां वर्णाश्रमयुक्त आर्यजाति पूर्ण प्रकृतियुक्त है आर्यावर्त और ब्राह्मण क्षत्रियवर्णोंमेंही भगवत् अवतारका आविर्भाव होना सम्भव है यही इसका तात्पर्य है ॥७१॥

अन्य अवतारके आविर्भावका विषय निर्णय किया जाता है:—

और अवतार सर्वत्र प्रकट होते हैं ॥७२॥

यदि जिज्ञासुओंके चित्तमें शंका हो कि भगवद् अवतारके लिये जैसी पूर्णप्रकृतिकी आवश्यकता है वैसी ही क्या देवताओं और ऋषियोंके अवतारके लिये भी आवश्यकता है यदि वैसीही पूर्ण प्रकृतिकी आवश्यकता हो तो जगत्की सब जाति और सब देशोंमें ज्ञान और कर्मकी सुव्यवस्था कैसे होना सम्भव है? इस श्रेणीकी शङ्काओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इससूत्रका आविर्भाव किया है। वस्तुतः इस सूत्रके विज्ञानद्वारा अवतारवादकी सार्वभौमता और सर्व उपकारिता भली-भाँति प्रतिपन्न

इतरस्य सम्भाव्यः सर्वत्र ॥७२॥

होती है। एकमात्र भगवद् अवतार जगत्में कभी कभी होता है। जब कभी समस्त सृष्टि भरमें कोई एक बड़ा भारी परिवर्तन करके अधर्मके नाश और धर्मकी प्रतिष्ठा करनेकी आवश्यकता होती है, अथवा सृष्टिकी रक्षाकेलिये कोई असाधारण लोकातीत कार्य करनेकी आवश्यकता होती है, तभी भगवद् अवतारका आविर्भाव हुआ करता है। वह अवतार दो प्रकारसे प्रकट होता है एकतो अलौकिक विग्रहके द्वारा जैसे मत्स्य, नृसिंह आदि और दूसरा मातापिताके सम्बन्धसे लौकिकविग्रह द्वारा यथा राम कृष्ण आदि। इन दोनों प्रकारके भगवत् अवतारका प्राकट्य लोकातीत लीला है। सुतरां ऐसी लोकातीत लीलामें असाधारण कार्यकारण सम्बन्ध रहनेसे पूर्वसूत्रोंमें उसका रहस्य प्रतिपादन किया गया है। परन्तु साधारणतः सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षाकेलिये ऋषियोंके अथवा देवताओंके जो अवतार जगत्में प्रकट होते रहते हैं उसकेलिये असाधारण देश या असाधारण जाति या असाधारण कालकी आवश्यकता नहीं होती है। यह पहलेही कहा गया है कि ऋषिभी अनेक श्रेणीके हैं और देवताभी अनेक श्रेणीके हैं। सुतरां ऋषियोंके और देवताओंके अवतार सब देश सब काल और सब जातिमें प्रकट होना असम्भव नहीं है। जब कभी पृथिवीके किसी देश अथवा किसी मनुष्य-जातिमें कोई अभिनव अपूर्व आसुरीज्ञान अथवा दैवीज्ञानके प्रकाशित करनेकी आवश्यकता होती है, तो ऊर्द्ध्वसप्तलोक अथवा अधः सप्तलोकवासी ऋषिगण तत् तत् आवश्यकताके अनुसार यथायोग्य पिण्डमें अपनी कलाको आविर्भूत

करके सृष्टिकी सामञ्जस्य रक्षा करते हैं, उसीप्रकार देवता और असुरगणभी यथा आवश्यक सब देश सब काल और सब मनुष्य-जातिमें सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षाकी आवश्यकता होने पर किसी यथायोग्य पिण्डमें अपनी कलाको प्रकट करके कर्मराज्यके विशेष-रूपसे संचालनकेलिये अवतार धारण करते हैं। दैवीज्ञान, अध्यात्म-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि शब्दवाच्य ज्ञानका अधिकार यद्यपि सबदेश और पात्रमें प्रकाशित नहीं हो सका, परन्तु साधारण दैवीज्ञान और आसुरीज्ञानका अधिकार सब देश और सब मनुष्यजातिमें रहना स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिसे रहित कोई देश, कोई मनुष्यजाति नहीं हो सकती। इसकारण उस देश और उस जातिमें असाधारण अवसर उपस्थित होनेपर उस देश और उस जातिमें यथावत् ऋषि और यथावत् देवताके अवतारका प्राकट्य होना स्वतः सिद्ध है ॥७२॥

प्रसंगसे त्रिविध शक्तियोंका श्रेष्ठत्वक्रम प्रतिपादन कर रहे हैं:—

अधिभूत, अधिदैव अध्यात्मशक्तियाँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥७३॥

अध्यात्म, अधिदैव अधिभूतशक्तिकी पूर्णतासे ही भगवत् शक्तिकी पूर्णता प्रकट होती है। भगवद् अवतारसे उन तीनोंका साक्षात् सम्बन्ध है। दूसरी ओर तीनोंके तीन श्रेणीके सञ्चालक होनेसे ऋषि, देवता और पितरोंके साथभी उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध

अधिभूताधिदैवाध्यात्मशक्तीनामुत्तरोत्तरापरा ॥७३॥

है। इसकारण तीनोंमें प्राधान्यका क्रम अवश्य निर्णीत होना चाहिये, इसीकारण इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। यद्यपि ये तीनों अपने अपने भावके विचारसे तीनों ही समान हैं, जैसा आगेका सूत्र प्रतिपन्न करेगा और इनकी तीनों स्वतन्त्र शक्तियाँभी अपनी अपनी कार्यकारिताके विचारसे स्वतन्त्ररूपसे सब समान ही हैं। परन्तु अभ्युदय और निःश्रेयसके लक्ष्यसे इन तीनों शक्तियोंमेंसे आधिभौतिक शक्तिसे आधिदैविक शक्ति और आधिदैविक शक्तिसे आध्यात्मिक शक्ति प्रबल है, ऐसा मानना पड़ेगा। आधिभौतिक शक्तिका सम्बन्ध केवल स्थूलशरीरके साथ, आधिदैविक शक्तिका सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्मशरीरके साथ और आध्यात्मिक-शक्तिका सम्बन्ध स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर इन तीनों शरीरोंके साथ होनेसे उत्तरोत्तर एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं। आधिभौतिक शक्ति केवल अन्नमयकोषपर आधिपत्य करती है, आधिदैविक शक्ति अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोषोंपर आधिपत्य करती है और आध्यात्मिक शक्ति अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय, इन पाचों कोषों पर आधिपत्य करती है। आधिभौतिक राज्य केवल स्थूलप्रपञ्चमें व्याप्त है, यही कारण है कि पितृगण केवल स्थूलशरीर और स्थूलशरीरसे साक्षात् सम्बन्धयुक्त प्रपञ्चके सञ्चालक हैं। दैवीराज्य स्थूलराज्यका धारक और सञ्चालक है, यही कारण है कि कर्मराज्यके सञ्चालक देवतागण हैं। परन्तु आध्यात्मिक राज्य इन दोनोंसे कुछ विलक्षण और उन्नत है उसके साथ महत्तत्वका साक्षात् सम्बन्ध होनेसे वह बुद्धि-

राज्यका सञ्चालक है और बुद्धि सबसे प्रधान होनेसे आध्यात्मिक शक्ति सबसे श्रेष्ठ है ऐसा मानना पड़ेगा। विशेषतः अविद्याका प्रधान दुर्गरूपी आनन्दमयकोषका भेदन करना बुद्धितत्त्वकी ही शक्ति है, इसीकारण श्रुति कहती है कि "बुद्धेः परःपुरुषः" अर्थात् बुद्धिसे परे ही परमात्मा है, वे बुद्धिसे ही जाने जाते हैं, इसकारण वह प्रबल दुर्ग-भेदन बुद्धिकी सहायतासे ही होता है। इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि कर्मराज्य जगत्‌का संचालक है इस कारण स्थूलजगत्‌से कर्मराज्य शक्तिशाली और श्रेष्ठ है और जब बुद्धिकी सहायतासे विचारद्वारा अविद्या दूर होकर जीव कर्मराज्यसे मुक्त होता है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि ज्ञानराज्य सम्बन्धीय आध्यात्मिक शक्ति, कर्मराज्य सम्बन्धीय आधिदैविक शक्तिसे शक्तिशाली और श्रेष्ठ है। अस्तु, ये तीनों शक्ति उत्तरोत्तर श्रेष्ठ और शक्तिशाली हैं यह प्रतिपन्न हुआ ॥७३॥

प्रसङ्गसे तीनोंका स्वरूपतः महत्त्व वर्णन किया जाता है:—

भावके विचारसे तीनों समान हैं शक्तिके विचारसे तारतम्य है ॥७४॥

परमात्मा सच्चिदानन्दमय हैं। उनकी सत्सत्ता चित्सत्ता और आनन्दसत्ता तीन स्वतन्त्रभावोंको प्रकट करके कैसे सृष्टिका अनुभव कराती हैं, वह इस दर्शनमें भली-भाँति वर्णन किया गया है। उनके चित्भावके अवलम्बनसे प्रकृतिभावका प्राकट्य और

समास्ता भावे शक्तौ त्वसमाः ॥७४॥

उनके आनन्दभावके अवलम्बनसे प्रकृतिपुरुष त्रिगुणात्मक जगत् प्रपंचकी सृष्टि होती है उनके सद्भावके आश्रयसे आध्यात्मिक प्रपञ्च प्रकट होता है। सुतराँ यह स्वत: सिद्ध है कि भावके विचारसे ही तीनों समान हैं। केवल शक्तिके विचारसे इनके अधिकारोंमें तारतम्य है और वह तारतम्य कैसे है, वह पूर्वसूत्रके भाष्यमें भली-भाँति कहा गया है ॥७४॥

प्रसंगसे भाषा विभाग वर्णन किया जाता है:—

भावके हेतु भाषा त्रिविध है ॥७५॥

शब्दद्वारा भाव प्रकाशित होता है, शब्दयोजनासे भाषा बनती है। अन्तर्जगत्में भाव और वहिर्जगत्में भाषा ये दोनों एक ही हैं। इसीकारण अन्तर्जगत्के त्रिभावके साथ वहिर्जगत्की भाषाके तीन विभागोंका कार्यकारण सम्बन्ध बना हुआ है। वेद और वेद-सम्मतशास्त्रोंमें जो समाधिभाषा, लौकिक भाषा और परकीयभाषारूपी त्रिविध भाषाका विन्यास है, वह यथाक्रम अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रयसे सम्बन्ध रखनेवाली है। इन तीनों भाषाओंका विस्तारित वर्णन शास्त्रप्रतिपादन सम्बन्धीय सूत्रके भाष्यमें भली-भाँति किया गया है ॥७५॥

उनकी विशेषता कही जाती है:—

एकमें तीनोंका सम्भव होनेसे तीनों एक ही है ॥७६॥

भावहेतवो भाषास्त्रिविधा ॥७५॥

तास्तिस्त्र एकैवैकस्यां तिसृणां सम्भवात् ॥७६॥

जैसे सच्चिदानन्दमय ब्रह्म एक होनेसे सत् चित् और आनन्द ये तीनों भाव अलग-अलग होने परभी अद्वैत स्वरूपभावमें एकरूप ही हैं, उसी प्रकार समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीया-भाषा इन तीनोंकी विन्यासशैली वेदमें तथा वेदसम्मतशास्त्रोंमें अलग अलग होने परभी तीनोंमेंही एक लक्ष्यका सम्बन्ध बना रहता है, इस कारण विज्ञानदृष्टिसे तीनों एक ही हैं। वस्तुतः तीनों भाषा अद्वितीय ब्रह्मके ही निर्णायक हैं। इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये समझा जा सकता है कि, लिङ्गपुराणकी जो त्रिविध भाषाका उदाहरण पहले दिया गया है, उसमेंसे चिन्मयलिङ्ग जिस पर अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भासमान है, वही जगत्योनि शिवलिङ्गका स्वरूप वर्णन है, वह समाधिभाषा उसी चिन्मय अनादि अनन्तलिङ्गकाही प्रतिपादन करती है। दूसरी ओर भगवान् ब्रह्मा और भगवान् विष्णुके परस्पर वाद प्रतिवादके सम्बन्ध-से जो उस लिङ्गका अनादि अनन्तत्व और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है वह भी उसी चिन्मय शिवलिङ्गको प्रतिपादन करती है। उक्तसूत्रभाष्यके तीसरे स्थलमें जो गाथारूप परकीया भाषाका वर्णन है वह भी उसी एकमात्र चिन्मय लिङ्गका प्रतिपादन करती है।

अतः तीनों भाषा ही जब एकमात्र जगत्योनिरूप चिन्मय लिङ्गका ही प्रतिपादन करके शिवलिङ्ग ज्ञानका प्रकाश करती है तो तीनों भाषा ही विज्ञानदृष्टिसे एक हैं और तीनोंमें ही एक अद्वितीयशक्ति निहित है। यही त्रिविध वर्णनशैली वेदसे लेकर स्मृति पुराण तन्त्रादिक सब शास्त्रोंमें पायी जाती है। इन तीनोंका

यथार्थ स्वरूप ज्ञात होनेसे वेद और शास्त्रोंमें कोई शङ्काका अवसर नहीं रहता है ॥७६॥

प्रसङ्गसे लौकिक भाषाका महत्त्व कहा जाता है :—

भाववैचित्र्य होनेसे लौकिक भाषा श्रेष्ठ है ॥७७॥

समाधिभाषा लौकिकभाषा और परकीयाभाषा इन तीनों भाषाओंका लक्षण और उदाहरण आदि वेद और शास्त्र सम्बन्धीय प्रामाण्यके सूत्रभाष्यमें भलीभाँति वर्णन किया है। भाव ही मुख्य तत्त्व है, इसका भी विस्तारित वर्णन पहले हो चुका है। अन्तर्राज्यका भाव प्रकाशक शब्द ही है। शब्दका सुकौशलपूर्ण विन्याससे ही भाषाकी उत्पत्ति होती है। उस भाषाको तीन भागोंमें पूर्वकथित रूपसे विभक्त किया गया है। सनातनधर्म केवल अध्यात्मलक्ष्य-युक्त है, आर्यजाति भी अध्यात्मलक्ष्य युक्त है, इसकारण अध्यात्मलक्ष्ययुक्त होकर ही पूर्वकथित भाषाके तीन भेद आर्यशास्त्रोंमें किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि जो भाषा अध्यात्मलक्ष्ययुक्त नहीं है, आर्यजाति और सनातन-धर्मके निकट वह भाषा भाषाशब्दवाच्य ही नहीं है। इसी विज्ञानके अनुसार पूज्यपाद महर्षियोंने वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रोंमें तीन प्रकारकी भाषा व्यवहरित होती है, ऐसा निश्चयकर दिया है, उन्हीं तीनों भाषाओंका नाम समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीया भाषा है।

गरीयसी लौकिकी भाषा भाववैचित्र्यात् ॥७७॥

इन तीनोंमेंसे समाधिभाषा तो केवल सीधा अध्यात्मतत्त्व प्रकाशक है और परकीयाभाषा केवल उसका पुष्टिकारक है, परन्तु लौकिकभाषा जिसप्रकार विचित्रतापूर्ण, जिस प्रकार गम्भीर विज्ञानमूलक है उसीप्रकार रुचिकारक और मधुर भी है। और भी विशेषता यह है कि उसके द्वारा सात्त्विक, राजसिक और तामसिक त्रिविध अधिकारी लाभवान् होते हैं। अध्यात्म विज्ञानगुम्फित होनेसे और समाधिगम्य भावव्यञ्जक होनेसे उच्चज्ञानीगण भी उसके द्वारा उपनिषद्का आनन्द प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि भागवतादि पुराणोंको किसी-किसीने उपनिषद् और किसी किसीने परमहंस-संहिता नामसे अभिहित किया है। उत्तम अधिकारीगण उसके द्वारा समाधिका आनन्द, मध्यम अधिकारीगण उसके द्वारा समाधि-गम्य भावका अनुमान और सर्वसाधारणगण उसके द्वारा साक्षात् और परोक्ष सब प्रकारका सुख और साथ ही साथ कल्याण लाभ करते हैं। सुतरां भाववैचित्र्य और माधुर्यके कारण लौकिकभाषा श्रेष्ठ है ॥७७॥

भाव सम्बन्धीय भाषाका वर्णन करके अब भाव सम्बन्धीय भूमिका वर्णन कर रहे हैं :—

भावके हेतु भूमि तीन हैं ॥७८॥

जड़चेतनात्मक, प्रकृतिपुरुषात्मक, स्थावर जंगमात्मक, स्थूल-सूक्ष्मात्मक और अज्ञानज्ञानात्मक, विश्वसृष्टिकी सब भूमियाँ ब्रह्मके सत् आनन्द और चित्भावके अनुसार अधिभूत, अधिदैव और

भावहेतोर्भूमयस्तिस्रः॥७८॥

अध्यात्म, इस प्रकारसे तीन हैं। इस विज्ञानको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सब सृष्टि पञ्चकोषोंमें विभक्त है। जीवपिण्ड तीन प्रकारका होता है। यथा सहजपिण्ड, मानवपिण्ड और देवपिण्ड, इनकी समष्टिका नाम ब्रह्माण्ड है, ये सब पञ्चकोषात्मक हैं। पञ्चकोषोंमेंसे जितना प्रथम अन्नमयकोष है, वे सब आधिभौतिक-भूमिके अन्तर्गत हैं। प्राणमयकोष और मनोमयकोष ये दोनों आधिदैविक भूमिके अन्तर्गत हैं। और विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोष ये दोनों अध्यात्मभूमिके अन्तर्गत हैं। प्राणमय-कोष वस्तुतः उभय व्यापक है अर्थात् वह आधिभौतिकभूमि और आधिदैविकभूमि दोनोंसे सम्बन्ध युक्त है और दोनोंका संयोजक है, ठीक उसी प्रकार विज्ञानमयकोष उभय व्यापक है। वह अधि-दैवभूमि और अध्यात्मभूमि दोनोंमें व्यापक और दोनोंका संयोजक है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि आधिभौतिक भूमिका आधिपत्य स्थूलशरीरपर आधिदैवभूमिका आधिपत्य सूक्ष्मशरीरपर और आध्यात्मिक भूमिका आधिपत्य कारणशरीर पर हुआ करता है। यह तो पहलेही भलीभाँति वर्णन किया गया है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीन प्रकारके प्रपञ्च और तीन प्रकार सृष्टिस्तरके तीन अधिदैव हैं, वही पितृ, देवता और ऋषि कहाते हैं। उन तीनोंका इन तीनों भूमियोंसे यथायोग्य सम्बन्ध है। वेद वेदसम्मतशास्त्र, आचार्य तथा गुरु इन्हीं तीनों भूमिके अनुसार उपदेशावली पायी जाती हैं ॥७८॥

तीनों भूमियोंसे उपराम करनेके लिये तन्मात्राकी गति निर्देशकी जाती है :—

तन्मात्राकी दो गति है धैर्यसे आत्माकी ओर अधैर्यसे अन्य ओर ॥७९॥

अन्तःकरण और इन्द्रियोंके मध्यमें तन्मात्रायें ही हैं जो अन्तःकरणको और जीवात्माको विषयवत् कर देती हैं और फँसा देती हैं। इसीको—तन्मात्राकी गति अन्य ओर अर्थात् विषयकी ओर है ऐसा समझना उचित है। इस प्रकारकी तन्मात्राकी जो गति है सो चञ्चलतासे सम्बन्ध रखती है, योगिराज साधक जब योग-युक्त होकर अपनी धृतिको बढाता है तो उस समय उसकी चित्तकी आसक्ति क्षीण हो जाती है और उसका अन्तःकरण सद्भावकी सहायतासे पवित्रताको धारण करता है, उससमय धैर्ययुक्त होकर तन्मात्रायें भावतत्त्वकी सहायतासे आत्माकी ओर युक्त हो जाती हैं। इस दशामें भाग्यवान् भक्त जो कुछ करता है वह आत्मासे युक्त होकर ही करता है। उस समय उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, खाना, पीना, सब भगवद् भावसे युक्त होनेके कारण वह साधक बन्धनको प्राप्त नहीं होता है। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि मात्राकी वस्तुतः दो प्रकारकी गति है और ये दोनों गतियाँ जीवको अपनी प्रबलताके वेगसे तीनों पूर्वकथितभूमियोंसे उपराम कर सकती हैं। एक गति है, जो अधीरता अर्थात् चंचलतासे उत्पन्न होती है,

---

द्वे गती तन्मात्राणां चिदुन्मुखी धृत्येतरोन्मुखीत्वधृत्या ॥७९॥

आसक्ति द्वारा पोषित होती है और जीवको विषयोंमें फँसाकर बन्धन प्राप्त कराती है। उस समय जीवको उन तीनों भूमियोंका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और विषयवत् हो जाता है। दूसरी श्रेष्ठगति वह है कि जो धैर्य अर्थात् सात्विक धृतिसे उत्पन्न होती है और शुद्ध भावतत्त्व द्वारा पोषित होती है और भाग्यशाली भक्तको परमात्माके चरणोंमें युक्त करके संसार-जालसे मुक्त कर देती है। इस उत्तम दशामें भी युक्तभक्त उन्मज्जन निमज्जन करता हुआ पूर्वकथित तीनों भूमियोंसे उपराम होकर अद्वैत स्थितिको प्राप्त होता है। इस द्विविध गतिको लक्ष्य करके श्रुतिमें जो चमत्कार वर्णन है, वह कहा जाता है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणी हयानाहु र्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टा अश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
यस्त्यविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत् पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ७९ ॥

उक्त दोनों गतिकी स्वभावसिद्ध दशाका विज्ञान वर्णन किया जाता है :—

आत्मगामी प्रवाह चेतन इतरगामी जड़ है ॥८०॥

महामायाके दो स्वरूप शास्त्रकारोंने वर्णन किये हैं। एकका नाम विद्या और एकका नाम अविद्या है। दोनों के लक्षणके विषयमें श्रुतिमें कहा है :—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञात्वा,
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये;

स्मृतिशास्त्रमें भी भगवती स्वयं कहती है :—

ब्रह्मानन्दं निजं नूनमविद्यारूपतः सुराः।
विस्तार्य्य विषयानन्दे तत्र जीवान्निरन्तरम् ॥
आवध्नास्यहमेवालं तान् विद्यारूपतः पुनः।
अज्ञानमूलकं द्वैत-भावोत्पन्नं हि वन्धनम् ॥
विच्छिद्योन्मज्जये चापि ब्रह्मानन्दे निमज्जये।
केवलं ज्ञानयोगेन पाशमज्ञानमूलकम् ॥
जीवः शिवत्वमासाद्योच्छेत्तुं पारयते ध्रुवम्।
विद्यारूपं तु विभ्राणाऽऽनेतुश्च प्रयते सुखम् ॥

प्रवाह आत्मगामी चेतन इतरगामी तु जड़ः ॥८०॥

अर्थात्—जीवात्माको रथीस्वरूपमें जीवाधिष्ठित शरीरको स्वस्व-रूपमें बुद्धिको सारथिरूपमें एवं मनको प्रग्रह अर्थात् लगाम रूपमें जानना चाहिये। मनिषीगण कहते हैं कि श्रोत्रादि इन्द्रियसमूहों को घोड़ेके रूपमें शब्दादि विषयसमूहको घोड़ोंके विचरण स्थान-रूपमें और शरीर इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको भोक्ता या अनुभवितारूपसे जानना चाहिये। परन्तु जो बुद्धिरूप सारथि सर्वदा असंयत मनके साथ सम्बन्ध रखता है, ऐसे सारथिको दुष्ट अश्वके समान उसके इन्द्रियगण उसके वशीभूत नहीं होते हैं, और विपथगामी हो जाते हैं किन्तु जो सारथि सर्वदा संयत मनके साथ युक्त होकर विज्ञानवान् रहते हैं अर्थात् जिनका सदसदविवेक बना रहता है, ऐसे सारथिके श्रेष्ठ अर्थात् शिक्षित अश्वके समान उसके इन्द्रियगण उसके वशीभूत रहते हैं।

जो सारथी पूर्वोक्तरूपी विवेकहीन, असंयत बना और उसके कारण अशुचि अर्थात् अशुद्ध चित्त होते हैं उस सारथिके द्वारा उस रथका स्वामी रथी ब्रह्मपदको प्राप्त नहीं होता और संसार प्रपञ्चको प्राप्त करता है। जो सारथि विज्ञान सम्पन्न बुद्धिसे युक्त सारथिवाला हो, संयतमना हो सर्वदा शुचि रहे अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाला हो, वही रथी उस ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। वह पद ऐसा है कि जिसको प्राप्त करके पुनः जन्म धारण करना नहीं होता है। विवेक सम्पन्न बुद्धि जिसका सारथी हो और मन जिसके इन्द्रियरूप अश्वसंयमन करनेवाला रज्जु-रूप हो ऐसा रथी संसारगतिकी परिसमाप्ति रूप सर्वव्यापी विष्णुके प्रसिद्ध पदको प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं।

स्वाभिमुख्यमहं देवाः अधिकारप्रभेदतः ॥
विभिन्नमार्गतो नूनं स्वभक्तान् ज्ञानयोगिनः।

अर्थात्—हे देवतागण! मैं ही अविद्यारूपसे अपने ब्रह्मानन्दको विषयानन्दमें विस्तार कर उसमें जीवोंको निरन्तर आवद्ध करती हूँ और पुनः विद्यारूपसे मैं ही अज्ञानमूलक द्वैतभावसे उत्पन्न बन्धनको काटकर जीवोंको ब्रह्मानन्दमें उन्मज्जन निमज्जन कराती हूँ। केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही जीव शिवत्व प्राप्त कर अपने अज्ञान-मूलक बन्धनको काटनेमें समर्थ होता है। मैं ही विद्यारूप होकर अधिकारभेदके अनुसार ज्ञानिभक्तोंको विभिन्न मार्गद्वारा सुखपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न करती हूँ।

श्रीभगवान् भी निज मुखसे कहते हैं—

मम शक्ति र्द्विधा भिन्ना विद्याऽविद्याप्रभेदतः।
धर्माधर्मसुसम्बन्धस्ताभ्यां सार्द्धं हि विद्यते ॥
एतस्यानुभवं सम्यग् धर्मज्ञा एव कुर्वते।
सम्वर्द्धयत आसक्ति र्न्नवसद्भावमूलिका ॥
अविद्यायाः सदा विज्ञाः प्रभावो भूरिशो भवेत्।

अर्थात्—मेरी शक्तिकी विद्या और अविद्या नामके दो भेदोंके साथ ही धर्म और अधर्मका सम्बन्ध है। इसका धर्मज्ञ व्यक्ति ही सम्यक् अनुभव करते हैं। हे विज्ञों! संसारमें असद्भाव-मूलक आसक्ति सदा अविद्याके प्रभावको अत्यन्त ही बढ़ाती है किन्तु

मुक्तसे युक्त सद्भावात्मक कर्म निरन्तर जगत्में विद्याके प्रभावको ही वृद्धि करते हैं।

विद्याविलसित आत्मगामी प्रवाह उत्तरोत्तर चेतनभाव वृद्धि करता है और अविद्या उपहित विषयगामी प्रवाह क्रमशः जीवमें अज्ञान और जड़ताको बढ़ाता रहता है। व्यष्टि जीवमें ये दोनों प्रवाह प्रतीत होते हैं। पूर्वकथित अज्ञानभूमि और ज्ञानभूमि और अविद्यासाम्राज्य और विद्यासाम्राज्यका अलौकिक वर्णन इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। जीव मनुष्ययोनिमें पहुँचकर प्रथम अवस्थामें पञ्चम षष्ठ और सप्तम अज्ञानभूमिमें ही रहता है। ये तीनों अविद्या साम्राज्यके अन्तर्गत हैं। उसके अनन्तर मनुष्य विद्या-साम्राज्यमें पहुँचता है और आत्मगामी प्रवाहमें बहता हुआ सातों ज्ञानभूमि प्रवाहमें बहता हुआ सातों ज्ञानभूमिको क्रमशः अतिक्रमण करके मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है। इसीप्रकार समष्टि सृष्टिमें भी दो प्रवाह देखनेमें आते हैं, इसीकारण स्थावरसृष्टि और जंगम-सृष्टिके दो स्तर हैं॥ ८०॥

प्रसंगसे आनन्दकी उभयगति वर्णन की जाती है :—

आनन्दका योग कभी सत् की ओर कभी चित्की ओर ले जाता है॥ ८१॥

विज्ञान दृष्टिसे विचारा जाय तो यही सिद्ध होगा कि चाहे अन्तःकरणमें ब्रह्मानन्दका अनुभव हो, अथवा इन्द्रियोंके द्वारा

कदाचित्सति कदाचिच्चिति गमयति योग आनन्दस्य॥ ८१॥

विषयानन्दका भोग हो, वह आनन्दका आस्वादन सत् और चित् दोनोंके अलग अलग सम्बन्धसे ही हुआ करता है। वस्तुतः ब्रह्मानन्दका ही प्रतिबिम्ब विषयानन्द है, यह पहले ही भली-भाँति प्रतिपन्न हुआ है। इन्द्रियोंकी सहायतासे अन्तःकरण एकाग्र होकर समाधिस्थ होनेपर अन्तःकरणमें जो आनन्द अनुभव होता है वह ब्रह्मानन्दका ही प्रतिबिम्ब है। विषयानन्द ब्रह्मानन्दका ही प्रतिबिम्ब है, इसका विस्तारित प्रमाण रसपादमें दिया गया है। वस्तुतः विषयानन्दके भावशुद्धि पूर्वक भोगके अनन्तर ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो सकती है। यथा शास्त्रोंमें भी इस प्रकारसे कहा है:—

ततो यो विषयानन्दे ब्रह्मानन्दो विवर्त्तितः।
मालिन्यभाग्भवान् पूर्वं स्वस्वरूपमसौ पुनः॥
सम्प्राप्य पितरो नूनं सच्चिद्भावसमन्वितम्।
भावमद्वैतमासाद्य परानन्दपदात्मकम्॥
कैवल्यं लभते नित्यमवस्थेयं हि षोडशी।

अर्थात्—जो ब्रह्मानन्द विषयानन्दमें परिणत होकर मलिनताको प्राप्त हुआ था, वही पुनः अपने स्वस्वरूपमें पहुँचकर सत् और चित्के भावसे युक्त और अद्वितीय भावको प्राप्त करके परमानन्दरूपी कैवल्यको प्राप्त करता है, यही सोलह अवस्था है।

दूसरी ओर विषयानन्दका भी समाधिस्थ अन्तःकरणमें ही अनुभव होता है। भेद इतना ही है कि विषयानन्दका भोग होते समय अज्ञानी जीव उस समाधिदशाका अनुभव नहीं कर सकता है और ब्रह्मानन्दभोगी योगी उभयदशामें ही उस समाधिदशाका अनुभव कर

सकता है। वह आनन्द अनुभव चित् और सत्की सहायतासे ही होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि विषयानन्द भोग होते समय जब विषयभोगी जीव विषयके साथ तदाकार हो जाता है, तब उसकी गति सत्की ओर है और जब वह अपना अस्तित्व अनुभव करता है तब उसके अन्तःकरणकी गति चित्की ओर है, ऐसा समझना चाहिये। समाधिस्थ योगिराज भी इस विषयको अनुभव कर सकते हैं कि स्वस्वरूपकी दशाके अतिरिक्त जब स्वतन्त्र-रूपसे आनन्दभावका अनुभव कोई योगी करना चाहे तो साथ ही साथ चिद्भाव और सद्भाव दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता भी बनी रहती है और उस समय वह ब्रह्मानन्दरसास्वादन करते समय योगीके अन्तःकरण एक क्षणमें सत्की ओर और दूसरे क्षणमें चित्की ओर तरङ्गायित होता रहता है। समाधिकी इसी दशामें शिव-शक्तिके युगलरूपका दर्शन योगिराजको हो सकता है। इसी दशामें ब्रह्मानन्दभोगी भक्तको भगवान्की तुरीया शक्तिका दर्शन होता है ॥ ८१ ॥

प्रसङ्गसे सृष्टिका रहस्य वर्णन किया जाता है—

इसी दशासे कर्मकी सृष्टि होती है ॥८२॥

स्मृतिशास्त्रमें ब्रह्मशक्तिके चार भेद वर्णन किये हैं यथा :—

दशाऽद्वैतानुभूयेत मच्छक्त्यैव तुरीयया।
तस्या एव तुरीयाया मच्छक्तेर्बलतः खलु ॥

सृष्टिरितः कर्मणः ॥८२॥

निर्विकल्पसमाधिस्थैरात्मारामैर्महात्मभिः ।
जीवन्मुक्तैः प्रतीयेऽहमाद्यन्तरहिते विभौ ॥
अद्वैते निर्विकारे हि स्वरूपे चिन्मये सुराः ।
ममैव विबुधा नूनं शक्तिः कारणरूपिणी ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां जननी नात्र संशयः ।
मत्सूक्ष्मशक्तिरेवाहो दैवीं शक्तिं प्रयच्छति ॥
पितृदेवर्षिवृन्देभ्यो नानादेवीस्वरूपिणी ।
जगत्स्थूलप्रपञ्चोऽयं स्थूलशक्तेर्ममैव हि ॥
नानाभेदान् समाश्रित्य नानारूपेषु जायते ।
स्थूलप्रपञ्चरूपं हि जगद्यस्य स्थ रक्षकाः ॥
यूयं देवगणाः सर्वे स्थूलशक्तेर्ममैव च ।
परिणामस्वरूपं तज्जानीत सुरसत्तमाः ॥

अर्थात्—महामाया निज मुखसे कहती हैं कि तुरीयाशक्तिसे ही अद्वैतदशाका अनुभव होता है। हे देवगण! उसी तुरीयाशक्तिके बलसे मैं निर्विकल्प समाधिमें स्थित आत्माराम जीवन्मुक्त महात्माओंकी आदि अन्तरहित विभु निर्विकार अद्वैतचिन्मय रूपमें प्रतीत हूँ। मेरी कारणशक्ति ब्रह्मा विष्णु महेशकी जननी है, इसमें सन्देह नहीं और मेरी सूक्ष्मशक्ति ही नानादेवीरूपधारण करके ऋषि, देवता, पितरोंको दैवी शक्ति प्रदान करती है। जगत्का स्थूलप्रपञ्च मेरा ही स्थूलप्रपञ्च मेरी स्थूलशक्तिके अनन्त भेदोंको आश्रय करके अनन्त रूपमें प्रकट हुआ करता है। यह स्थूलप्रपञ्चमय जगत् जिसके आप सब रक्षक हो, मेरी ही स्थूलशक्तिके

परिणाममात्र है, ऐसा जानो। स्वस्वरूपमें आनन्द करानेवाली सत्ता ही तुरीयाशक्ति कहाती है और द्वैत उत्पन्नकरनेवाली ब्रह्मा-विष्णु-महेश-जननी शक्तिही कारणशक्ति कहाती है। पूर्वसूत्रमें कही हुई तुरीया शक्तिका अनुभव और दूसरी कारणशक्तिके आविर्भावमें कर्मकी उत्पत्ति समाधिस्थ योगिगण अनुभव करते हैं। कर्मके स्वरूप और उत्पत्तिके विषयमें दर्शनशास्त्र और स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है :—

ममैवास्ति स्वरूपं हि कर्म पीयूषपायिनः।
वेदा वदन्ति कर्म्मास्ति ब्रह्मसारूप्यभागिति॥
सर्वद्वैतप्रपञ्चोऽयं कर्माधीनोऽस्त्यसंशयम्।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यजातमथाखिलम्॥
ब्रह्माण्डान्तर्गतं सर्वं वहते कर्मनिघ्नताम्।
अव्यक्ताया दशायाश्च देवाः! व्यक्तदशोद्भवे॥
कर्मैव कारणं वित्त कर्मायत्तमतोऽखिलम्।
अतः कर्माधिकारोऽस्ति सर्वमूर्द्धन्यताश्रितः॥
अहं ममेतिवत्भेदो यथा नास्ति दिवौकसः।
मन्मच्छक्त्योस्तथा कर्म-मच्छक्त्योर्नास्ति भिन्नता॥
देवाः! उद्भावकं सत्त्व-तमसोः कर्म कथ्यते।
धर्मः सत्त्वप्रधानत्वात् त्वधर्मस्तद्विपर्य्ययात्॥
ब्रह्माण्डपिण्डरूपस्य ह्यनाद्यन्तस्य कोविदः।
देवाः सृष्टिप्रवाहस्य कर्मैवोत्पादकं जगुः॥

अर्थात्—भगवती कहती हैं कि, हे देवतागण ! कर्म मेरा ही स्वरूप है। कर्म ब्रह्मस्वरूप है ऐसा वेद कहते हैं। समस्त द्वैत-प्रपञ्च और आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त दृश्यसमूह निःसन्देह कर्मके अधीन है। हे देवगण ! अव्यक्त दशासे व्यक्त होनेमें कर्म ही कारण है, कर्मके ही अधीन सब कुछ है। इसलिये कर्मका अधिकार सर्वोपरि है। हे देवगण ! जैसे मुझमें और मेरी शक्तिमें 'अहं ममेतिवत्', भेद नहीं है, उसी प्रकार मेरी शक्ति और कर्ममें भेद नहीं है, कर्मही सत्त्व और तमका उद्भावक होनेसे सत्त्व प्रधानतासे धर्म और तमः प्रधानतासे अधर्म कहाता है। हे देवगण ! कर्म ही ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहका उत्पादक है, ऐसा सुधीगण कहते हैं ॥ ८२ ॥

निष्कर्ष कहा जाता है :—

यही सृष्टिका रहस्य है ॥ ८३ ॥

मैं और मेरेके समान ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें अभेद होनेपर भी प्रकृति परिणामिनी है। उस ब्रह्मप्रकृतिके चार दशायें हैं, जिनका वर्णन पहले किया गया है। स्वस्वरूपमें वही ब्रह्मानन्दका अनुभव कराकर तुरीया शक्ति कहाती है। उस तुरीया शक्तिके दर्शन करते समय समाधिस्थ योगिगण अनुभव करते हैं। सच्चिदानन्दमय ब्रह्मके सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावोंकी स्वतन्त्रसत्ताका जब तुरीया शक्तिकी कृपासे उससमय

रहस्यमिदं सृष्टेः ॥ ८३ ॥

अनुभव होता है, तब उस समय चित्तसत्तासे पुरुषभाव और सत् सत्तासे प्रकृतिभाव और आनन्दसत्तासे ही प्रकृति-पुरुषात्मक शृङ्गारभावका अलौकिक प्रत्यक्ष योगिजनोंको होता है। ब्रह्म-प्रकृति त्रिगुणामयी है और त्रिगुणामयी होनेसे परिणामिनी है, इस कारण उस स्वभावसिद्ध परिणामसे मूलसृष्टिका प्रकृति-पुरुषात्मक शृङ्गार भी स्वाभाविक है। फलतः सृष्टिक्रिया भी स्वाभाविक है यही सृष्टिका रहस्य है। इस विषयमें स्मृति-शास्त्रमें भी कहा है :—

स्वभावात्प्रकृतिर्मे हि स्पन्दते परिणामिनी।
स एव स्पन्दहिल्लोलः स्वभावोत्पादितो मुहुः॥
सदैवास्ते भवन् देवाः! स्वरूपे प्रतिबिम्बितः।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः॥
अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरङ्गैस्तामसोन्मुखैः।
सत्त्वोन्मुखैश्च तै देवाः! विद्याऽविर्भावमेति च॥
तदाऽविद्याप्रभावेण तरङ्गाणां मुहुर्मुहुः।
आघातप्रतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये॥
अगण्यवीचिसङ्घेषु नैकवैधवबिम्बवत्।
चिज्जड़ग्रन्थिभिर्देवाः स्वतः उत्पद्य भूरिशः॥
जीवप्रवाहपुञ्जोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते।

अर्थात्—ब्रह्मशक्ति महामाया देवताओंसे कहती हैं कि—मेरी प्रकृति स्वभावसे ही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है। हे देवगण! वही स्वभावजनितस्पन्दनका हिल्लोल सदा ही स्वरूपमें

बारम्बार प्रतिफलित होने लगता है, अतः मेरी प्रकृति गुणपरिणामके कारण तमकी ओरके तरङ्गसे अविद्या और सत्वकी ओरके तरङ्गसे विद्या अवश्य प्रकट होती है। उस समय अविद्याके प्रभावसे बारम्बार तरङ्गोंके घात प्रतिघात द्वारा जलपूर्ण जलाशयके अगणित तरङ्गोंमें अनेक चन्द्रबिम्बके प्रकाशके समान, हे देवगण! स्वतः ही अनेक चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीवप्रवाहको विस्तारित करती है ॥ ८३ ॥

पूर्वकथित विज्ञानकी दृढ़ता की जाती है :—

इस कारण वह अनादि अनन्त है ॥८४॥

जब ब्रह्म-प्रकृति महामाया त्रिगुणमयी है, और त्रिगुणका स्वाभाविक धर्म स्पन्दन है और स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति होती है, जो कर्म पिण्ड-ब्रह्माण्डात्मक सृष्टिका कारण है तो प्रवाहरूपसे सृष्टि अनादि अनन्त है। ब्रह्म अनादि अनन्त है तो ब्रह्म-प्रकृति महामाया अनादि अनन्त है। ब्रह्मप्रकृति अनादि अनन्त है तो स्पन्दनका होना भी अनादि अनन्त है। प्राकृतिक स्पन्दन अनादि अनन्त है तो कर्मप्रवाह भी अनादि अनन्त है और कर्मप्रवाह अनादि अनन्त है तो प्रवाहरूपसे सृष्टि भी अनादि अनन्त है। स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे देवताओंसे कहा है :—

तनोषि शृंगारमयीं समन्ताल्लीलाललामान्वितसृष्टिमेताम्।
स्वानन्दसन्दोहभरप्रकाशामनाद्यनन्तां जगदम्बिकेऽलम् ॥

अतोऽनाद्यनन्ता सा ॥८४॥

अर्थात्—हे जगदम्बिके ! आप परमानन्दका प्रकाशक शृंगार-लीलामयी अनाद्यनन्तसृष्टि लीलाका प्रवाह प्रवाहित करती हैं।

इस दर्शनमें पहले भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि अध्यात्म-सृष्टि, अधिदैवसृष्टि, अधिभूत सृष्टिमेंसे अधिभूत सृष्टिरूपी पिण्ड-सृष्टि और अधिदैवसृष्टिरूपी ब्रह्माण्डसृष्टि यद्यपि सादि सान्त हैं परन्तु अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी अध्यात्मसृष्टिरूपी सृष्टिधारा अनादि अनन्त है। अतः इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥८४॥

ऐसे महाप्रबल सृष्टिप्रवाहसे बचानेका प्रधान उपायरूप उपा-सनाका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करते हैं :—

उपासनाका शरीर योग है ॥८५॥

इस दर्शनका प्रधान प्रतिपाद्य उपासनाको साङ्गोपाङ्ग वर्णन करनेके अर्थ और उसका रहस्य समझनेकेलिये पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकार कहते हैं कि उपासनाका शरीर योगसाधन है और उसका प्राणका वर्णन पीछे किया जायगा। जैसे जीव शरीर ही भोग मोक्ष साधनरूप कर्मका प्रधान आश्रय होता है, ठीक उसीप्रकार योग-साधन सब प्रकारकी उपासना प्रणालीका शरीररूप है। योगसाधन करते करते साधक क्रमशः उपासनाराज्यमें अग्रसर होता है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

उपास्तेरस्ति योगो हि स्थूलो देहो न संशयः।

उपासनाशरीरं योगः ॥८५॥

अर्थात्—उपासनाका शरीर योग है। जिस प्रकार बिना शरीरके न कुछ कर्म बनता है न कुछ भोग बनता है, इसीप्रकार बिना योगसाधनकी उपासनाकी कोई क्रिया सुसम्पन्न नहीं हो सकती है। चाहे छोटी सी छोटी श्रेणीकी उपासना हो और चाहे बड़ी से बड़ी श्रेणीकी उपासना हो, अष्टांगयोगकी अथवा मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगकी प्रणालीकी अवश्य सहायता साधकको लेनी पड़ती है ॥८५॥

प्रसंगसे योगसाधन प्रणालीका भेद वर्णन किया जाता है :—

अधिकारभेदसे मन्त्र, हठ, लय, राज, योगके चार भेद हैं ॥८६॥

योगविज्ञान प्रतिपादक योगदर्शन योगसाधनके विषयमें कहता है कि :—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥

अर्थात् चित्तवृत्ति निरोध करनेके जितने साधन हैं, उनको योग कहते हैं। चित्तकी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेसे द्रष्टा अर्थात् पुरुष अपने स्वस्वरूपमें स्थित हो जाता है और तब साधक मुक्तिपदको प्राप्त हो सकता है, यही योगका विज्ञान है। वही योगसाधन-प्रणाली जो उपासनाका शरीररूप है वह चार भागोंमें विभक्त है। जैसे गुण और कर्मके भेदसे वर्णविभाग चार है, जैसे अधिकार

मन्त्र-हठ-लय राजभेदाश्चतुर्धाऽधिकारभेदात् ॥८६॥

भेदसे आश्रम विभाग चार हैं, जैसे विषय वैराग्य, वैराग्यकी गम्भीरताके भेदसे वैराग्य अधिकार चार माने गये हैं, उसीप्रकार अधिकारी भेदसे योगसाधन प्रणालीके पूज्यपाद महर्षियोंने चार श्रेणी निर्णय कर दी है। स्मृतिशास्त्रमें भी इन भेदोंके अनेक प्रमाण हैं।

था-पुज्यपाद योगिराज महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि :—

मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा।
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

तत्त्वदर्शी योगिगण योगके चार भेद किये हैं मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग॥ ८६॥

प्रथम भेदका वर्णन करते हैं—

नाम रूपके आश्रयसे प्रथमका साधन होता है॥ ८७॥

योगके चार साधन प्रणालियोमेंसे प्रथम मन्त्रयोग साधनप्रणाली, नाम और रूपके अवलम्बनसे संसाधित होती है। यह संसार नाम-रूपात्मक है जिसके विषयमें वेदोंमें ऐसा प्रमाण है :—"नामरूपे व्याकरवाणि" "आकाशो हवै नामरूपयोनिर्विहिता" इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते "सर्वाणि भूतानि विचिन्त्य धीरा नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते।"

अर्थात्—नाम और रूप प्रकाशित हुआ। आकार ही नाम और रूपका निर्वाहक है। इन्द्रने मायासे बहुरूप धारण किया। समस्त भूतोंकी चिन्ता करके भगवान्‌ने नामकरण किया।

नामरूपाश्रयः प्रथमः॥ ८७॥

इस संसारमें जो कुछ स्थूल और सूक्ष्म सृजित पदार्थ हैं, सब नाम और रूपात्मक हैं। सुतरां नाम रूपवाले विषयके अवलम्बनसे ही मनुष्य विषयासक्त होकर बद्ध रहता है। इसी कारण नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्ति निरोध करनेका जो उपाय है, उसी उपाय सम्बन्धीय साधनप्रणालीको मन्त्रयोग कहते हैं। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसी भूमिको पकड़कर खड़ा हो सकता है, इसकारण नाम-रूपके अवलम्बनसे फँसा हुआ जीव, नाम रूपके ही अवलम्बनसे ही मुक्त हो सकता है। मन्त्रयोग-साधनके सोलह अङ्ग तथा लक्षणके विषयमें वेद तथा स्मृतिशास्त्र इस प्रकार कहते हैं :—

"मन्त्रयोगे ध्याने उपासना च" "सर्वेषामेव मन्त्राणाम्" प्राणानां संक्लिप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणां संक्लिप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते। "मननात् त्रायते मन्त्रः" मन्त्रोऽयं वाचकः ॥

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत् समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्या ग्रसिता चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिञ्चानुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ॥
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः।

अर्थात्—सृष्टि नामरूपात्मिका है। इसलिये उसीके अवलम्बनसे साधक बन्धनसे मुक्त होकर मुक्तिलाभ कर सकते हैं। जीव जिस भूमिमें पतित होता है, उसी भूमिको आश्रय करके उसको उठना पड़ता है। नाम और रूपसे ही समस्त जीव आवद्ध हैं। उसी प्रकार प्रकृतिके प्रभावसे जीव अविद्यासे ग्रसित है। अतः अपने सूक्ष्म-प्रकृति और प्रवृत्तिका अनुसरण करके नामरूपात्मक शब्द और भावके अवलम्बनसे योगकी जो साधना होती है उसीको मन्त्र-योग कहते हैं।

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोऽशाङ्गा हि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडशशोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनञ्च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राण-क्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
योगोजपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

अर्थात्—चन्द्रमाकी जैसी षोडशकलायें होती हैं, उसीप्रकार मन्त्रयोगके भी षोडश अङ्ग हैं। यथा भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, सदाचारपालन, धारणा, दिव्य देशसेवन, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि, ये ही षोडश अङ्ग है। ॥८७॥

उसके अङ्गोंके विज्ञानको स्पष्टीकरणकेलिये प्रधान अङ्गों-का वर्णन किया जाता है :—

गान, जप, ध्यान, उसके प्रधान अङ्ग है ॥८८॥

मन्त्रयोगके विज्ञानके साथ मन्त्रयोगके सोलह अङ्गोंका वर्णन पहले किया जा चुका है। उन्हीं अङ्गोंके विज्ञानकी दृढ़ता-केलिए पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। मन्त्रयोगके सोलह अङ्गोंको तीन भागोमें विभक्त कर सकते हैं, एक स्थूल, एक सूक्ष्म और एक कारण, आनन्दमयकोषसे सम्बन्ध रखनेवाला कारण, मनोमयकोषसे सम्बन्ध रखनेवाला सूक्ष्म और अन्नमयकोषसे सम्बन्ध रखनेवाला स्थूल समझा जाता है। इस प्रकारसे तीन विभाग करके महर्षि सूत्रकारने तीन अङ्गों की प्रधानता बतलायी है। ध्यानके द्वारा समाधिकी सिद्धि होती है इस कारण उपासनाकी पूर्ण सफलता करानेवाला ध्यान साधन है। मन्त्रयोगका ध्यान कैसा विज्ञानसिद्ध है, उसका वर्णन आगे आवेगा। जपके द्वारा मनका जय होता है, वह त्रिविध है यथा मानस, उपांशु एवं वाचनिक। जपसाधन द्वारा चित्तवृत्ति शान्त होनेमें विशेष सहायता होती है, इस कारण जपसाधन भी प्रधान अङ्ग माना गया है। तीसरी स्तुति जो पञ्चाङ्ग सेवनका मुख्य अङ्ग है, वह प्रत्याहारसिद्धि करके साधकको उपास्यके सान्निध्य प्राप्त करानेमें बहुत ही सहायक है। स्तुतिके द्वारा साधक वहिर्जगत्-को शीघ्र ही भूल जाता है, शब्दसे भाव और भावसे बोधमें उसके अन्तःकरणकी स्वतः ही गति हो जाती है। इस कारण स्तुति मन्त्रयोगके अङ्गोंमें एक प्रधान अङ्ग है, इसमें सन्देह नहीं है। वह

गान-जप-ध्यानानि प्रधानाङ्गानि ॥८८॥

स्तुति यदि गानमयी हो अर्थात् सप्तस्वर और राग रागनियोंकी सहायतासे की जाय तो ऐसी स्तुति अधिकसे अधिक फलोत्पादिनी होगी, इसमें कोई सन्देह ही नहीं कर सकता है। वेदानां सामवेदोस्मि, इस भगवद्वाक्यद्वारा जो सामवेदकी अपार महिमा कही गयी है, उसका कारण यही है कि सामवेद उपासना प्रधान है और स्वरोंकी सहायतासे सामवेद गाया जाता है। इन सब वैज्ञानिक रहस्योंके अनुसार स्तुति, जप, और ध्यान इन तीनों अङ्गोंकी प्रधानता कही जा सकती है ॥८८॥

प्रसङ्गसे शङ्कानिराकरण किया जाता है :—

समाधिसिद्ध होनेसे ध्येयका रूप काल्पनिक नहीं है ॥८९॥

यदि जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी शङ्का हो कि राजयोगका ध्यान ब्रह्मध्यान है, लययोगका ध्यान विन्दुध्यान है, ये दोनों ही ध्यान स्वाभाविक ध्यान है, हठयोगका ध्यान ज्योतिर्ध्यान है और मन्त्र-योगका ध्यान स्थूलध्यान है। स्थूलरूपका ध्यान कल्पनासे करना होता है। इसकारण ऐसे ध्यानके द्वारा समाधिकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? ध्यानसाधन समाधि-प्राप्तिका प्रधान उपाय है, सुतरां कल्पनाकृत उपाय द्वारा समाधिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कहते हैं कि वेद और वेदसम्मतशास्त्रोंमें जिन देवदेवियोंके ध्यानका

न काल्पनिकं ध्येयरूपत्वात् समाधिसिद्धत्वात् ॥८९॥

का वर्णन पाया जाता है वे सब ध्यान समाधिगम्य बुद्धिके परिणाम-से प्रकट किये गये हैं। इस कारण उन ध्यानसमूहोंको कदापि कल्पित नहीं कह सकते हैं और जब समाधिगम्यबुद्धिद्वारा स्थूल-ध्यान आविर्भूत हुये हैं तो वे समाधिमें बाधक नहीं हो सकते, परन्तु साधक ही होंगे। जिस पदार्थका अधिदैवरूप समाधिकी सहायता-से अलौकिक प्रत्यक्ष किया जाता है और जिसका अध्यात्मरूप समाधियुक्त बुद्धि द्वारा निश्चित होता है उसका आधिभौतिक रूप अवश्य ही सत्य होगा। यही कारण है कि भक्तगण जब उन देव-देवियोंका प्रत्यक्ष करना चाहते हैं तो भक्तोंकी योग्यता होने पर ध्यानके अनुसार स्थूलरूपमें ही देव-देवियोंका दर्शन हुआ करता है। वस्तुतः वेद और वेदसम्मत शास्त्रोक्त देवदेवियोंकी मूर्त्ति मिथ्या अथवा केवल कल्पना प्रसूत नहीं है। देवताओंका अधिभूत-रूप वह है कि उपासनाके बलसे जब देवता लौकिक प्रत्यक्ष स्व-दर्शन देकर भक्तकी मनोवाञ्छा पूर्ण करते हैं। उनका अधिदैवरूप शास्त्रोक्त ध्यानमें प्रकट है उसका उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं है और उनका आध्यात्मरूप किस प्रकार वेद और वेद-सम्मत शास्त्रोंमें पाया जाता है उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"पञ्चभूताऽऽत्मकं शङ्खं करे रजसि संस्थितम्।
बालस्वरूपमित्यन्तं मनश्चक्रं निगद्यते॥
आद्या माया भवेच्छार्ङ्गं पद्मं विश्वं करे स्थितम्।
आद्या विद्या गदा वेद्या सर्वदा मे करे स्थिता॥

धर्मार्थकामकेयूरैर्दिव्यैर्दिव्यमपेरिते।
कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यते आद्ययाऽजया,, इति श्रुतिः।

अर्थात्—शंख पञ्चभूतका स्वरूप, मन चक्रका स्वरूप, आद्या माया शार्ङ्ग, विश्व जगत् पद्म आद्या विद्या गदा, धर्म अर्थ और काम केयूर निर्गुणभावकण्ठ और आद्या अजया मालाका स्वरूप है।

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः।
तत्प्रभाव्यापिनी साक्षाच्छ्रीवत्समुरसा विभुः॥
स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् स्वयम्॥
बिभर्ति साङ्ख्यं योगञ्च देवो मकरकुण्डले।
मौलीं पादं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयं करम्॥
अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते॥
ओजः सहोबलयुक्तं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
आद्यां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्॥
न भीतिभं नमस्तत्त्वमसिचर्मतमोमयम्।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयं युधिम्॥

अर्थात्—नारायणने अपनी ज्योतिको कौस्तुभरूपसे धारण किया, उसकी सर्वव्यापिनी जो प्रभा है वही श्रीवत्स है जो कि वक्षःस्थलमें धारण किया है, उनकी जो गुणमयी माया है वही वन-माला है छन्दःसमूह उनका पीतवसन, स्वयं वेद उनका यज्ञोपवीत,

साङ्ख्य और योग मकर कुण्डल, ब्रह्मपद उनका मस्तक, अव्याकृत प्रकृति अनन्त नामक आसन, धर्म ज्ञानादि युक्त जो गुणसत्व है वही कमल है उसीपर भगवान् अधिष्ठित रहते हैं; तेज, साहस, बल और प्राणतत्त्वही उनकी गदा है, जल तत्त्व शंख, तेजस्तत्त्व सुदर्शन-चक्र, आकाशतत्त्व असि और चर्म, काल शार्ङ्ग नामक धनु, और कर्मसमूह तुणीरका स्वरूप है।

श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते।
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे॥
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः।
हितीय प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः॥
नित्यायाः कालरूपायाः अव्यक्तायाः शिवात्मनः।
अमृतत्वाल्ललाटेऽस्याः शशिचिह्नं निरूपितम्॥
शशिसूर्याऽग्निभि र्नित्यैरखिलं कालिका जगत्।
सम्पश्यति यतस्तस्मात् कलितं नयनं त्रयम्॥
ग्रसनात् सर्वसत्त्वानां कालदन्तेन चर्वणात्।
तद्रक्तवासोरूपेण भासितं सकलं जगत्॥
समये समये जीवरक्षणं विपदः शिवे।
प्रेरणं सर्वकार्य्येषु वरश्चाभयमीरितम्॥
रजोजनितविश्वानि विष्टभ्य परितिष्ठति।
अतोहि कथितं भद्रे रक्तपद्मासनस्थिता॥
क्रीडन्तं कालिकं कालं पीत्वा मोहमयीं सुराम्।
पश्यन्ती चिन्मयी देवी सर्वसाक्षिस्वरूपिणी॥

एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च।
कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम् ॥

अर्थात्—कृष्णवर्णमें जैसे श्वेतपीतादिवर्ण विलीन होते हैं उसीप्रकार कालीमें समस्त भूतोंका लय होता है। इसीलिये साधकोंके हितार्थ निर्गुण कामशक्तिका कृष्णवर्ण निश्चय किया गया। नित्या कालरूपिणी अव्यक्ता शिवास्वरूपाके ललाटमें अमृत है इसीलिये उनके तीन नेत्र हैं। सर्वभूतोंको ग्रास करनेसे और कालदन्तके द्वारा चर्वण करनेसे जो रक्त निकलता है वही उनका वस्त्र है। समय समयपर विपत्तियोंसे जीवोंकी रक्षा तथा सकल कार्य प्रेरणाके कारण वर और अभय उनके हस्तमें हैं, रजोगुणसे उत्पन्न विश्वको आवृत्त करके विराजमान रहती हैं इसलिये माता रक्तपद्मासनवस्था करके वर्णित की गई हैं। मोहमयी मदिराको पान करके काल नृत्य करता है और चिन्मयी माता साक्षीरूपसे कालकी लीलाको देखकर हास्य करती हैं यहाँ उनके हास्यमय मुख विकाशका कारण है, इसप्रकारसे साधारण अधिकारीके कल्याणके लिये गुणोंके अनुसार जगज्जननी प्रकृतिकी विविध रूपकी कल्पना की गई है। ऊपर लिखित तीन उदाहरण इस विज्ञानकी पुष्टिमें यथेष्ट हैं। विष्णु भगवान्का अध्यात्म-रूप जो वेदोंमें पाया जाता है और जो पुराणोंमें पाया जाता है उनमें कुछ भेद अवश्य है। इसका कारण केवल भावभेद ही है। इसी प्रकार एक एक रूपमें पुराण और तन्त्रादिमें कई मतभेद भी पाये जाते हैं, उसका भी यही कारण है। फलतः अध्यात्मरूप और आधि दैवरूप सब समाधिगम्य होनेके कारण काल्पनिक पर मिथ्या नहीं

है। वेदशास्त्रोक्त सब देवदेवियोंके रूप समाधिगम्य सत्यपर ही प्रतिष्ठित हैं ॥८९॥

दूसरी शङ्का निवारण की जाती है :—

मन्त्र भी ऐसा ही है ॥९०॥

मन्त्रसमूह अर्थात् प्रणव तथा नाना बीज मन्त्रादिभी समाधि द्वारा आविर्भूत शब्द हैं। और शाखा पल्लव आदिसे युक्त मन्त्रसमूह भी समाधिगम्य भावोंसे युक्त हैं।

इस कारणसे चाहे वैदिक मन्त्र हो, चाहे तान्त्रिक मन्त्र हो, सभी काल्पनिक नहीं हैं और उनके द्वारा सिद्धि भी अवश्यसम्भावी है। प्रणव और मन्त्र विज्ञानके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं—

कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकं
स्पन्दश्चापि जगत्त्रये सुविदितश्शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी
शब्दश्चादिर्भवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दोमहानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवः ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्त एव बहुधाशब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥

मन्त्रोऽप्येवम् ॥९०॥

अर्थात्—जहाँ कुछ कार्य है वहाँ कम्पन अवश्य होगा, जहाँ कम्पन है वहाँ शब्द भी अवश्य होगा, सृष्टिक्रिया भी एक प्रकारका कार्य है। इसलिये सृष्टि कार्यके समय प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वही मङ्गलकारी ओङ्काररूप प्रणव है, सत्त्व, रज, तम तीनोंकी साम्यावस्थासे जब वैषम्यावस्था होना प्रारम्भ हुआ तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुये उस हिल्लोलकी ध्वनि ही ओङ्कार है। जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द, ब्रह्मा, विष्णु शिवात्मक ओङ्कार है उसीप्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नानाशब्द है। वे ही नानाशब्द उपासनाके बीज मन्त्र हैं, जगज्जननी महामाया देवताओंको मन्त्रविज्ञानके विषयमें कहा है :—

अहमेवास्म्यहो देवाः! मन्त्रशक्तिर्न संशयः।
मम शक्तिर्यतो विश्वमश्नुते सचराचरम्॥
अस्म्यहं कारणब्रह्म कार्यब्रह्मास्मि चाप्यहम्।
अहमेवेश्वरी भूत्वा द्वयोः सम्बन्धमादधे॥
निर्गुणस्य स्वरूपस्य प्रणवो वाचकोऽस्ति मे।
महावाक्यसमूहाश्च सन्ति तस्यैव वाचकाः॥
बीजमन्त्रास्तु ये विज्ञा शाखापल्लवितास्तथा।
मन्त्रा नानाविधास्सन्ति निगमागमगोचराः॥
सगुणस्य स्वरूपस्य ते सर्वे वाचका मम।
नात्र सन्देहलेशोऽपि विद्यते विबुधर्षभाः॥

नास्ति भेदो यतो देवाः ! वाच्यवाचकयोरतः ।
सर्वेषां खलु मन्त्राणां नास्ति भेदो मया सह ॥
अस्त्येका मे क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिस्तथाऽपरा ।
आभ्यां द्विधा विभक्तास्ति मच्छक्तिर्वै प्रधानतः ॥

महादेवी बोली—

हे देवतागण ! मन्त्रशक्ति मैं ही हूँ, यह निश्चय है, क्योंकि मेरी शक्ति चराचर विश्वमें व्याप्त है। मैं ही कारण ब्रह्म हूँ और कार्य-ब्रह्म भी मैं ही हूँ और मैं ही ईश्वरी रूपिणी होकर दोनोंका सम्बन्ध स्थापित करती हूँ। प्रणव और महावाक्यसमूह मेरे निर्गुण स्वरूपके वाचक हैं। हे विज्ञों! हे देवश्रेष्ठों ! बीजमन्त्रसमूह मेरे सगुणरूपके वाचक हैं, इसमें कुछ भी सन्देहका लेश नहीं है। हे देवगण ! वाच्य और वाचकमें भेद नहीं होता है। इसलिये मुझमें और इन सब मन्त्रोंमें निश्चय ही भेद नहीं है। मेरी शक्ति प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त है, एक ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति है।

मत्कारणस्वरूपे हि नित्यमेवावतिष्ठते ।
नित्या शुद्धा सदा पूर्णा ज्ञानशक्तिर्न संशयः ॥
द्वितीया या क्रियाशक्तिर्विद्यते मे सुरर्षभाः ! ।
सैव प्रपञ्चरूपैतत्कार्य्यब्रह्मजनन्यहो ॥
ज्ञानशक्तेरतो ह्यस्ति प्रणवो बीजमद्भुतम् ।
बीजमन्त्रास्तथा नाना क्रियाशक्तेर्न संशयः ॥
कार्य्यं यत्र किमप्यास्ते ऽवश्यं स्यात्तत्र कम्पनम् ।
कम्पनञ्चापि यत्रास्ति तत्र शब्दो भवेद् ध्रुवम् ॥

ज्ञानं तथैव यत्रास्ते भावस्तत्रास्त्यसंशयम् ।
यत्र भावो भवेन्नूनं तत्र रूपं न संशयः ॥
अस्त्वेतत्पुनराचक्षे श्रूयतां सुसमाहितैः ।
यथा स्यान्मन्त्रविज्ञानं सम्यग् वो बुद्धिगोचरम् ॥

भावैराध्यात्मिकैर्युक्तैः रूपैर्नानाविधैरहम् ।
विभ्राणा विग्रहान्नानाशब्दैर्नानाविधैस्तथा ॥
अधिदैवत्वसम्प्राप्तैर्नानामन्त्रस्वरूपिणी ।
ददाम्यभ्युदयं शश्वत् तथा निःश्रेयसं ध्रुवम् ॥

प्रणवो निर्गुणांनाम्वै मन्त्राणामादिमोऽस्त्यतः ।
आस्ते प्रणवमाहात्म्यं सर्वमूर्द्धन्यताङ्गतम् ॥
अतो हि सच्चिदानन्दस्वरूपोद्भावको मम ।
प्रणवो मन्त्रराजोऽस्ति मन्त्राणां सेतुरेव च ॥

तथा नानाविधोपास्तेर्वीजमन्त्रा अनेकधा ।
स्वोपासनाधिकारेषु सर्वश्रेष्ठा न संशयः ॥
अतोऽधिदैवशब्दानां वैभवद्योतका मम ।
सगुणेष्वपि मन्त्रेषु वीजमन्त्रा खलूत्तमाः ॥

उत्पद्यन्ते यथावीजाद् वृक्षाः पञ्चाङ्गसंयुताः ।
सम्बन्धो वीजमन्त्राणां मन्त्रैर्ज्ञेयस्तथाऽखिलैः ॥

ज्ञानशक्ति मेरे कारण स्वरूपमें नित्य शुद्ध और सदा पूर्णरूपसे सर्वदैव निःसन्देह अवस्थित है। मेरी क्रियाशक्ति ही, जो दूसरी है, हे देवगण! इस प्रपञ्चमय कार्य्यब्रह्मकी जननी अर्थात् उत्पन्न करने-

वाली है। अतः ज्ञानशक्तिका अद्भुत बीज प्रणव है और नाना बीजमन्त्र क्रियाशक्तिके बीज हैं इसमें सन्देह नहीं। जहाँ कोई कार्य है, वहाँ कम्पन अवश्य है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य है, उसी प्रकार जहाँ ज्ञान है वहाँ निःसन्देह भाव है और जहाँ भाव है वहाँ रूप भी अवश्य है। अस्तु, मैं इसको पुनः कहती हूँ सावधान होकर सुनो। जिससे मन्त्रका विज्ञान आपलोगोंको भली भाँति समझमें आजाय। मैं आध्यात्मिक-भावयुक्त नाना-रूपोंसे नाना विग्रहोंको धारण करती हुई और अधिदैव सम्बन्धयुक्त नाना शब्दोंसे नाना मन्त्ररूपिणी होकर अभ्युदय और निःश्रेयस सर्वदा अवश्य प्रदान किया करती हूँ। प्रणव निर्गुण मन्त्रोंका आदि है, इसलिये प्रणवका माहात्म्य सर्वोपरि है और इसी कारण सच्चिदा-नन्द स्वरूप परिचायक प्रणव, सब मन्त्रोंका राजा तथा सब मन्त्र शक्तियोंका सेतु है। उसी प्रकार नाना उपासनाओंके अनेक बीज-मन्त्र उन उन उपासनाओंके अधिकारमें सर्वश्रेष्ठ हैं यह निःसन्देह है। इस कारण अधिदैवशब्दोंके सामर्थ्य परिचायक बीजमन्त्र सगुण मन्त्रोंमें अति उत्तम हैं। जैसे बीजसे पञ्चाङ्गयुक्त वृक्ष उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अन्य सब मन्त्रोंके साथ बीजमन्त्रोंका सम्बन्ध जानना उचित है।

सत्यं वो वच्म्यहं देवाः! प्रणवस्य गतिः खलु।
उच्चैः सप्तोर्द्ध्वलोकेभ्यस्तथास्ते पञ्चकोषतः॥
गतिश्च बीजमन्त्राणां षष्ठलोकावधि ध्रुवम्।
साङ्गानङ्गप्रभेदाभ्यां द्विविधो मन्त्र ईरितः॥

प्रणवो बीजमन्त्राश्च निरङ्गास्तत्र कीर्त्तिताः।
तेभ्यश्चान्येऽखिला मन्त्राः साङ्गा हि समुदाहृताः॥
निरङ्गा ध्वनिमुख्याः स्युः साङ्गा भावप्रधानकाः।
निरङ्गाश्चित्तमाकर्ष्टुं मन्त्रा राज्येऽन्तरत्यलम्॥
बहिर्विश्वप्रपञ्चात्तु साङ्गा मन्त्रा मनो ध्रुवम्।
अन्तर्जगति विक्रष्टुं क्षमन्तेऽतिशयं सुराः॥
अतो द्वावेव मन्त्रौ स्तस्समानौ शक्तिशालिनौ।

हे देवगण! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि प्रणवकी गति पञ्च-कोष और सप्त ऊर्द्ध्वलोकसे भी परे तक है, परन्तु बीजमन्त्रोंकी गति षष्ठलोक पर्यन्त है। मन्त्रके दो भेद हैं, यथा निरवयवमन्त्र और सावयव मन्त्र। प्रणव और बीज मन्त्र निरवयव मन्त्र हैं और सावयव मन्त्र भाव प्रधान होते हैं। हे देवतागण! निरवयव मन्त्र अन्तःकरणको अन्तर् राज्यमें आकर्षण करनेमें अधिक समर्थ हैं इस कारण दोनों मन्त्रही समान रूपसे शक्तिशाली हैं।

पूर्वकथित विज्ञान और शास्त्रोक्त प्रमाणोंसे यह भली भाँति सिद्ध हुआ कि वेद शास्त्रोक्त मन्त्र समूह भी वेद और शास्त्रोक्त ध्यानके अनुरूप सत्य और समाधिगम्य हैं, कल्पित नहीं हैं॥९०॥

क्रमशः हठयोगका वर्णन किया जाता है:—

स्थूलशरीरके साधनसे सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य लाभ करके हठयोगका साधन किया जाता है॥९१॥

स्थूलतः सूक्ष्माधिपत्यं द्वितीयः॥९१॥

योगके साधन प्रणालीमेंसे द्वितीय हठयोगकी साधनप्रणालीके विषयमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि स्थूलशरीरके साधनसे सूक्ष्म-शरीर पर आधिपत्य लाभ करनेसे हठयोगका साधन हुआ करता है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही परिणाममात्र है, अतः जिस स्थूलशरीरके साधन विशेषसे सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य होता है उसे हठ योग कहते हैं, हठयोगके लक्षण तथा उसके अङ्गके विषयमें श्रुतिस्मृतिमें :—

"हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः"
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः।
कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम्॥
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्तितः॥
प्राणापाननादविन्दुः जीवात्मपरमात्मनाम्।
मेलनाद् घटते यस्मात् तस्माद्वै घट उच्यते॥
आमकुम्भमिवाम्भस्थं जीर्य्यमाणं सदा घटम्।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्॥
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम्।
द्रढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद्योगयुजं पुनः॥
षट् कर्मासनमुद्रा प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानं-समाधिः सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥
शोधनं दढ़ता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षमपि निर्लिप्तं हठस्य सप्तसाधनम्॥

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः॥

अर्थात्—प्राण, अपान, नाद, विन्दु, जीवात्मा और परमात्मा के मिलनेसे होता है, इसलिये उसको घट कहते हैं। जल मध्य-स्थित अपक्व घटकी तरह नष्ट होनेवाला यह शरीर अल्प घट है। अतः योगाग्नि द्वारा दहन करके घटकी शुद्धि करनी चाहिये। जीर्ण इस शरीरको हठयोगके द्वारा दृढ़ करके फिर सूक्ष्मशरीरको योगयुक्त करना चाहिये। स्थूल देहके साधनके साथ साथ मनका योगसाधन होता है इसलिये इसको हठयोग कहते हैं। षट्कर्म, आसन, मुद्रा प्रत्याहार, प्राणसंयम, ध्यान और समाधि हठयोगके वे ही सप्त अङ्ग हैं। शोधन, दृढ़ता स्थैर्य, धैर्य, लघुत्व, प्रत्यक्षत्व निर्लिप्तता वे ही हठयोगके साधन हैं। षट्कर्मके द्वारा शोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्रासे स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायामसे-लघुता, ध्यानसे आत्मसाक्षात्कार और समाधिसे निर्लिप्तता अर्थात् मुक्तिलाभ होता है। वेद और शास्त्रोंमें जिन क्रियाओंके द्वारा स्थूलशरीर पर आधिपत्यकरके सूक्ष्मशरीर पर आधिपत्य करते हुये चित्तवृत्ति निरोध और समाधि प्राप्त करनेकी व्यवस्था है, वे सब साधनसमूह हठ-योग साधन प्रणालीके अन्तर्गत समझे जायँगे॥९१॥

हठयोग विज्ञानकी दृढ़ता की जाती है:—

मन वायु और वीर्यके परस्पर सम्बन्धयुक्त होनेसे एकके वशीभूत होनेपर और हो जाते हैं ॥९२॥

पञ्चकोषोंमेंसे अन्नमयकोषके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयकोषसे सूक्ष्मशरीरका और आनन्दमयकोषसे कारणशरीरका सम्बन्ध होनेपरभी जिस प्रकारसे पाँचों कोष परस्पर गुथे हुये हैं, उसी प्रकार ये तीनों शरीर भी परस्पर गुथे हैं। स्थूलशरीरपर आधिपत्य करनेसे सूक्ष्म-शरीरपर आधिपत्य होकर अज्ञानमय कारणशरीर तकका किस प्रकार नाश हो सकता है, इस विज्ञानको सिद्ध करनेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है।

यद्यपि मन, वायु और वीर्य ये तीनों अलग अलग पदार्थ हैं, परन्तु कार्यतः ये तीनों एक जातीय होनेसे तीनों एकही हैं और इन तीनोंसे परस्परमें इस प्रकारका सम्बन्ध है कि एक पर आधि-पत्य होनेसे अन्य दोनोंपर स्वतः आधिपत्य हो जाता है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी प्रमाण मिलता है यथाः—

चित्ताऽऽयत्तं नृणां शुक्रं शुक्राऽऽयत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥
प्रधानशक्तयः प्राणास्ते वै संसाररक्षकाः।
वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेव हि॥

मनोवायुवीर्याणां मिथः सम्बन्धादेकमायत्तश्चेदन्यदप्येवम् ॥९२॥

अर्थात्—मनुष्योंका शुक्र चित्तके आधीन है और शुक्रके आधीन प्राण है इसलिये शुक्रकी रक्षा करनी चाहिये। प्राण-प्रधान शक्ति और संसारका रक्षक है अतः प्राणकी रक्षासे सबकी रक्षा हुआ करती है। स्थूलशरीरके बनानेवाले सात धातुओंमें से वीर्य प्रधान धातु है, सुतरां वीर्य प्रधान धातु होनेसे अन्यसब धातु उसके अधीन रहते हैं यही कारण है कि वीर्यकी पुष्टि होनेसे अन्य सब धातुओंकी पुष्टि हुआ करती है। सृष्टि विज्ञानपर विचार करने से भी यही प्रतिपन्न होगा कि एकमात्र वीर्यही सृष्टिका प्रधान कारण हुआ करता है। मन वायु और वीर्यका पूर्वोक्त घनिष्ठ सम्बन्धसे पिताके संस्कार और पिताके शारीरिक और मानसिक धर्म पुत्रमें पहुँच जाना सम्भव है। वायु और प्राण ये दोनों कार्यकारणसे युक्त हैं प्राण कारण और वायु कार्य है इसी कारण प्राणमय आदि द्वारा वायुपर आधिपत्य रहनेसे प्राणपर आधिपत्य हो जाता है। और मन तो सब इन्द्रियोंका राजा ही है, इसकारण वह सूक्ष्म-शरीरका चालक है। प्राणमयकोष वस्तुतः अन्नमयकोष और मनोमयकोषको और यहाँ तककी सूक्ष्मशरीरको मिलाये रखता है। यही कारण है कि प्राणमयकोष शक्तिहीन होनेसे स्थूलशरीरकी मृत्यु होती है और सूक्ष्मशरीर लोकान्तरमें चला जाता है। इन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि यदि वीर्यपर आधिपत्य हो तो भी वायु और मनपर आधिपत्य हो जाता है। यदि वायुपर आधिपत्य हो तो वीर्य और मन पर हो जायगा। और यदि मन पर आधिपत्य हो तो भी वायु और वीर्यपर आधिपत्य

स्वतः ही हो जायगा। श्रुति कहती है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"।

इस विज्ञानका तात्पर्य यह है कि यदि मन साधकके वशीभूत हो गया तो उसकी चित्तकी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। चित्तवृत्ति जितनी शान्त होती जाती है उतनी ही साधकका विज्ञानमयकोषपर आधिपत्य बढ़ता जाता है। विज्ञानमयकोषपर साधकका पूर्ण आधिपत्य हो जानेसे साधकमें ऋतम्भराका उदय हो जाता है। ऋतम्भराके उदय होनेसे यथार्थ ज्ञानका उदय हो जाता है। यथार्थ ज्ञानही स्वरूप ज्ञान है, उसके उदय होतेही कारणशरीरका नाश हो जाता है, इसीका नाम मुक्तिपद है। हठयोगविज्ञानके अनुसार इन तीनोंमेंसे किसीपर भी आधिपत्य करनेसे सब पर आधिपत्य होना सम्भव है। यही कारण है कि स्थूलके आधिपत्यसे सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्यकरके मुक्तिपद होना भी सम्भव है॥९२॥

क्रमोद्गत लययोगका वर्णन किया जाता है:—

शक्तिको लयकी ओर अग्रसर करनेके साधनोंको लययोग कहते हैं॥९३॥

योगकी साधन-प्रणालियोंमेंसे लययोगकी साधन प्रणालीके विषयमें महर्षिसूत्रकार कहते हैं कि व्यष्टि और समष्टि-दृष्टिसे कुण्डलिनीशक्तिको लयोन्मुख करनेके ऐसे साधनोंको लययोग

व्यष्टि-समष्टि दृष्ट्या कुण्डलिन्या लयोन्मुखीकरणं तृतीयः॥ ९३॥

कहते हैं, जो क्रमशः चित्तवृत्ति निरोध करके मुक्तिपदमें पहुँचा सके। ब्रह्मसे ब्रह्मशक्ति बहिर्मुखीन होकर अपने त्रिगुण विकारसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति लय करती है और महाप्रलयमें ब्रह्ममें लय हो जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक पिण्डमें वही शक्ति कुण्डलिनी नाम धारण करके आधार पदमें बर्हिमुखीन होकर सोती हुई सृष्टि क्रियाको स्थायी रखती है। योगी जब इस महाशक्तिका समष्टि व्यष्टिरूप समझकर अपने शरीरमें उनको जागृत करके अपनेही शरीरमें जो परम पुरुषका स्थान है वहाँ उसको लेजाकर जय कर सकते हैं तभी आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं, इस शक्तिको जागृत करने, लेजाने और लय करनेकी जो सब क्रियायें हैं वे योगके अन्तर्गत मानी गयी हैं।

लययोगके लक्षण और उसके अङ्गोंके विषयमें वेद और स्मृति-शास्त्रोंमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं—

"तस्मिन्नेव लयं यान्ति" "ते लयं यान्ति तत्रवै"
ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते ॥
ऋषिदेवौ पितरो नित्यं प्रकृतिपुरुषौ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः॥
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम्।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्त्य यथायथम्॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः॥

आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते॥
प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां वाह्यसृष्टिः प्रजायते।
योगाङ्गैस्तां प्रबोध्यैव यदा तस्मिन्विलोपयेत्॥
कृतकृत्यो भवत्येव तदा योगपरो नरः।
पुराविदो वदन्तीमं लययोगं सुखावहम्॥

अर्थात्—प्रकृतिपुरुषात्मकशृङ्गारसे उत्पन्न ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक हैं। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक सम्बन्ध युक्त है। इसलिये ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान ब्रह्माण्ड और पिण्डमें समानरूपसे है। पिण्डके ज्ञानसे ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है। गुरूपदेश द्वारा सर्वशक्ति सहित पिण्डज्ञान लाभ करके सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेको लययोग कहते हैं। पुरुष सहस्रारमें स्थित है और कुण्डलिनी नामक शक्ति आधार पद्ममें प्रसुप्ता है। उसीके सो रहनेसे बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उनको जागृत करके पुरुषमें लेजाकर लय कर देनेसे योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम लययोग है। लययोगविज्ञानके साथ कुण्डलिनी शक्तिरूपिणी परमेश्वरीका किस प्रकार सम्बन्ध है इसके विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

योगमार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥

प्रवुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचीवद्‌गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया॥
उद्‌घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकयाहठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

लययोगके अङ्गोंके विषयमें—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद् ध्यानं विन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता कुलकुण्डलिनी॥
प्रवुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥

लययोगके नव अङ्ग महर्षियोंने वर्णन किये हैं। यथा यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया, और समाधि, ये नव योगके अङ्ग हैं। स्थूलशरीरप्रधान स्थूल-क्रिया और वायुप्रधान क्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। यह लय-योगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अतिसूक्ष्म सर्वोक्ति-

क्रिया जो केवल जीवन्मुक्त योगीसे प्राप्त की जाती है ऐसी उन्नत क्रियाको लयक्रिया कहते हैं। लयक्रियाके साधनद्वारा प्रसुप्ता महाशक्ति जागृत होकर ब्रह्ममें लयको प्राप्त होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है ॥९३॥

लययोग साधन सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये प्रधान विघ्न निर्देश किया जाता है :—

मात्रास्पर्श बन्धनका कारण है ॥९४॥

जिस प्रकार मन्त्रयोग साधनविज्ञानमें ध्यान और मन्त्रविज्ञानकी विशेषता है, जिसप्रकार हठयोग साधनविज्ञानमें मन, वायु, वीर्यकी समशक्ति सम्पन्न होनेकी विशेषता है, उसीप्रकार लययोग साधन विज्ञानमेंसे विशेष विज्ञानका वर्णन महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। इस सूत्रमें बन्धनका हेतु सिद्धकर अगले सूत्रमें मुक्त कराने योग्य विज्ञान कहेंगे।

जीव मात्रास्पर्शरूपी विषययुक्त तन्मात्रासे ही बन्धनको प्राप्त होता है। पञ्च तन्मात्रायें वहिर्मुखीन होकर अपने-अपने अधिकार उपयोगी विषयोंमें फँसाकर अन्तःकरणको बन्धनदशा कराती हैं। मन तन्मात्राद्वारा खींचकर इन्द्रियोंकी सहायतासे वहिर्विषयोंमें फँस जाता है, तब अन्तःकरण विषयवत् हो जाता है, यही जीवकी बन्धन दशा है। आत्मा इसी दशाको प्राप्त होकर अपने

मात्रास्पर्शो हेतुर्बन्धनस्य ॥९४॥

स्वरूपको भूल आवागमनचक्रमें भ्रमण करता रहता है। श्रुतिमें भी कहा है—

परांचिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः—
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
पराचः कामाननुनयन्ति बालाः,
ते मृत्योर्यन्ति विततस्यपाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा।
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

अर्थात्-स्वयम्भू भगवान्ने इन्द्रियगणको वाह्यपदार्थ दर्शी करके निर्माण किया है। इस कारण जीव वाह्यपदार्थ दर्शन करता है। कोई कोई धीर व्यक्ति मुक्तिलाभकी इच्छा कर इन्द्रियगणको वाह्य विषयोंसे खींचकर परमात्माके दर्शन करनेमें समर्थ होता है। वालकगण अर्थात् ज्ञानमार्गमें वालक अविवेकी गण ही वाह्य-शब्दादि विषयोंका अनुसरण किया करते हैं। वे अतिमहत् अविद्या वासनादिरूप मृत्युपाश अर्थात् जन्म मृत्यु आदिक्लेशको प्राप्त होते रहते हैं इसकारण धीर व्यक्तिगण यथार्थ सत्यरूप मुक्तिके स्वरूपको जानकर इस मिथ्या जगत्के किसी पदार्थमें इच्छा नहीं रखते हैं॥६४॥

विघ्नको दूर कर साधनपथमें अग्रसर करनेका उपाय कहा जाता है :—

इसलिये एकसे दूसरेमें परिवर्तन करनेसे बन्धन शिथिल हो जाता है ॥९५॥

पूर्वकथित विघ्न जो बन्धनका हेतु है, उसको दूर करनेकेलिये साधारण उपाय पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार वर्णन कर रहे हैं। जब एक तन्मात्रा जीवको अन्तःकरणके साथ खींचकर अपने विषयके साथ फँसाकर विषयवत् कर देती है, उस समय यदि मनको दूसरी तन्मात्राओंके साथ भी योग किया जाय तो उस बन्धन दशाका शैथिल्य हो जाता है। उदाहरण स्थलपर समझाया जा रहा है कि एक पुष्पसे सम्बन्धयुक्त रूपतन्मात्रा अथवा एक सुन्दरी स्त्रीसे सम्बन्धयुक्त रूपतन्मात्रा जब किसी दर्शक व्यक्तिको फँसा रही है, उस समय उस पुष्पका दर्शक व्यक्ति उस पुष्पके सुगन्धको लेने लगे अथवा उस वेश्या दर्शक व्यक्ति उस वेश्याके गीतकी ओर मन सन्निवेश करे तो उक्त दोनों दर्शकोंके रूपतन्मात्राके आकर्षण-शक्तिमें शैथिल्य हो जायगा। इस प्रकारसे यदि लययोगी अपनी प्रवलमात्रा स्पर्शोंको दूसरेके साथ योग करके शिथिल करता जावे तो कालान्तरमें वह मात्रास्पर्शके बन्धनसे बच सकेगा। लययोगका यह विज्ञान इतना स्पष्ट और सहज है कि इसको दृढ़ करनेकेलिये न तो कोई वेद और शास्त्रोंके प्रमाण देनेकी आवश्यकता है, न विचारको बढ़ाकर अधिक विस्तार पूर्वक समझानेकी आवश्यकता है। प्रत्येक विचारशील जिज्ञासु यदि अपने अन्तःकरणसे संश्लिष्ट

एकस्मात्तस्मादन्यस्मिन् सम्बन्ध-शैथिल्यमस्य ॥९५॥

किसी प्रबलमात्रास्पर्शकी परीक्षा कर उस तन्मात्राके कार्यकारी दशामें किसी दूसरी तन्मात्राकी पूर्वकथितरूपसे सहायता लेवे तो अतिसुगमतासे इस विज्ञानकी पुष्टि हो सकेगी ॥ ९५ ॥

अब और उन्नत उपाय वर्णन किया जाता है :—

कारण विचारद्वारा विशेषशैथिल्य हो जाता है ॥९६॥

यदि लययोगी एक मात्रास्पर्शके साथ दूसरे मात्रास्पर्शका योग करके क्रमशः अपने अन्तःकरणकी बन्धनदशाको शिथिलकर लेता है, उसके अनन्तर यदि वह कारणविचारका अभ्यास करे तो मात्रास्पर्शकी बन्धनशक्तिमें विशेष शिथिलता हो जाती है। इस प्रकारसे रूप रस आदि प्रत्येक तन्मात्राका उत्तरोत्तर कारणविचार करनेसे तन्मात्राकी बन्धनशक्तिसे साधक मुक्त हो सकता है। इस विषयमें श्रुतिभी आज्ञा करती है :—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥

अर्थात् यह जो ज्ञानस्वरूप परमात्माके रूप, रस, गन्ध, शब्द, परस्पर संयोगजन्य सुखानुभव तथा स्पर्शको जानते हैं उनकेलिये आत्मस्वरूप मोक्षपदकी प्राप्ति क्या बाकी रह सकती है ? तात्पर्य यह है कि मात्रास्पर्शोंका पूर्वापर कारणविचार करनेसे अन्तमें बुद्धिशक्ति परमात्मा तक पहुँच जायगी इस प्रकार कारणविचार करनेपर मात्रास्पर्शकी बन्धनप्राप्त करानेवाली आकर्षणशक्ति

विशिष्टशैथिल्यं कारणविचारे ॥९६॥

बहुत ही शिथिल हो जायगी। जो भाग्यवान् योगी रूप-रसगन्धादि तन्मात्राओंमें अपने अन्तःकरणको फँसते देख इसी प्रकार कारण-विचारकी नाना गुरुमुख प्रसृत क्रियाओंका अवलम्बन करता है वह बन्धनको प्राप्त नहीं होता है। ९६॥

इस विज्ञानकी विशेष पुष्टि की जा रही है :—

मात्रा-स्पर्शकी लयोन्मुखिनी गति समाधि उत्पन्न करती है ॥९७॥

वेद शिरोभाग उपनिषदोंमें इस सूत्रोक्त विज्ञानकी पुष्टिके विषयमें अनेक वचन कहे गये हैं। जिनका उदाहरण दिया जाता है :—

कुण्डलीं चालयन् प्राणान् भेदयन् शशिमण्डलम्।
साधयन् वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत्॥
सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा।
ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छाकिन्यान्यामृतवर्षिणी।
षट्चक्रमण्डोद्गारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत्॥
सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत्।
आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम्॥

योगशास्त्रमें लिखा है कि :—

लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

समाधिमुपजनयति लयोन्मुखिनी गतिरस्य ॥९७॥

अर्थात्—लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य होता है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि प्राण और मनकी सहायतासे तन्मात्राओंकी प्रबलशक्तिका निरोध करके चित्तवृत्तिपर आधिपत्य जमाकर बहिर्मुखिनी कुलकुण्डलिनी शक्तिको अन्तर्मुख करते हुये उसको लयोन्मुख गति उत्पन्न करनेसे साधक स्वतः ही योगके सर्वोन्नत सोपानरूपी समाधिको प्राप्त कर लेता है। लययोगके साधन सिद्धान्तोंमें सबसे प्रधान साधन यह है कि शरीरका प्रथमचक्र मूलाधारमें सोयी हुयी भुजङ्गाकारा कुलकुण्डलिनी शक्तिको प्राण और मनकी क्रियासे जगाकर उसको अन्तर्मुख करके सप्तम अर्थात् अन्तिमचक्ररूपी सहस्रदलमें स्थित परमपुरुषमें मिला देनेसे मुक्तिपदका उदय होता है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि कुल कुण्डलिनी शक्तिके प्रसुप्त रहनेसे स्वभावसे ही जीव अपने मन और प्राणके द्वारा आकृष्ट होकर विषयवत् हो फँसा रहता है। पूर्वोक्त साधनके द्वारा यदि तन्मात्राओंके बन्धन करनेवाली शक्तिको शिथिलकर दी जाय तो प्राण और मन दोनोंके ऊर्ध्व होनेसे कुण्डलिनीशक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वको चलने लगती है ॥९७॥

इस साधनका अन्तिम फल कहा जाता है :—

आत्मामें योग करदेनेसे उसका हानहोता है ॥९८॥

तद्धानमात्मविनियोगे ॥ ९८ ॥

मात्रास्पर्शोंका यदि विनियोग परमात्माके चरणोंमें किया जाय तो स्वतः ही मात्रास्पर्शोंकी दुर्दमनीय गतिका ह्रास हो जायगा। भर्जितबीज जिस प्रकार अङ्कुरित होकर सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, उसीप्रकार आत्मामें विनियोगकी गयी तन्मात्रायें भाग्यवान् साधकको साधन नहीं करा सकती। श्रुतिभी इस विषयमें आज्ञा करती है—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

जीव स्वप्नके समयमें जो दृश्य देखता और जाग्रतके समयमें जो दृश्य देखता है, इन दोनों प्रकारकी दृश्यवस्तु जिनके द्वारा दर्शन किये जाते हैं, ज्ञानवान् व्यक्ति उस महान् विभु आत्माको मनन करनेसे पुनः वह त्रितापको प्राप्त नहीं होता है।

तात्पर्य्य यह है, कि चाहे स्वप्नावस्था हो चाहे जाग्रत अवस्थामें हो सब मात्रास्पर्श सम्बन्धीय विषय जो कुछ अनुभूत होते हैं, उनका अस्तित्व आत्माके अस्तित्वके साथ ही है, ऐसा यदि योगीके अनुभवमें आजाय तो स्वतः ही वह भाग्यवान् योगी सब तन्मात्राओंको आत्माके विनियोग करनेमें समर्थ हो जायगा तो उसके मात्रा स्पर्श उसको बन्धन नहीं प्राप्त करा सकेंगे।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतोपनिषद्‌में कहा है कि:—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच॥

आपूर्यमाणमचलं प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! तुम सब इन्द्रिय धर्मोंको त्याग करके मेरी शरणमें आवो, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त कर दूँगा। इसलिये शोच मत करो। जिस प्रकार सम्पूर्ण पृथिवीका जल नदीरूपसे समुद्रमें प्रवेश करने पर भी समुद्र अचल रहता है मर्य्यादाको नहीं छोड़ता उसी प्रकार सब कामनायें अर्थात् इन्द्रिय आदिके विषयसमूह आत्मामें प्रवेश करनेसे साधक शान्तिको प्राप्त करता है और आत्माको छोड़कर कामना चाहनेवाला शान्ति प्राप्त नहीं करता है।

तात्पर्य यह है कि मात्रास्पर्श विषयोंके साथ युक्त रहनेसे मनुष्यको बन्धनमें डाले रहते हैं परन्तु सुकौशलपूर्ण क्रियाकी सहायतासे यदि उन मात्रास्पर्शोंको अन्तर्मुखकरके यदि उनका विनियोग आत्मामें किया जाय तो उनको नाशकर साधक मुक्तिपदको प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं ॥९८॥

क्रमानुसार राजयोगका वर्णन किया जाता है :—

सृष्टिका कारण अन्तःकरणके विवेककी सहायतासे जिसका साधन हो उसे राजयोग कहते हैं ॥९९॥

राजयोग अन्य तीनों योगोंका शिरोमणि है, इसकारण इसको राजयोग कहते हैं। विशेषतः राजयोगके साथ मुक्तिपदका साक्षात्

सर्गादिहेत्वन्तःकरणविवेकजश्चतुर्थः ॥९९॥

सम्बन्ध है। चाहे मन्त्रयोगी हो, चाहे हठयोगी हो, और चाहे लययोगी हो, निर्विकल्पसमाधि प्राप्त करके मुक्तिपदमें पहुँचनेके लिये सबकोही राजयोगका अवश्य आश्रय लेना पड़ता है। अन्तःकरणही जीवके बन्धनकाभी कारण है, जीवकी मुक्तिका भी कारण है। अज्ञानयुक्त अन्तःकरण बन्धन प्राप्त कराता है। सृष्टि, स्थिति, लयका कारण अन्तःकरण ही है।

अन्तःकरणकी सहायतासे विवेक प्रधान जो योगसाधन हैं उन्हीं योगक्रिया शैलियोंको राजयोग कहते हैं। शास्त्रोंमें राजयोगके लक्षण और उसके साधन सम्बन्धीय अङ्गोंके विषय वर्णन पाये जाते हैं :—

सृष्टि-स्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात् साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनोबुद्धिरहंकृतिः।
चित्तञ्चेतिर्विनिसृष्टा चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणे दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्य्यं कारणत्वं सनातनम्॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात् सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमात्रं विदुर्बुधाः।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने।
ब्रह्मध्यानं हि तद् ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः॥
तेनोपलब्धसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते।
वृत्तिं जीत्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्॥

अर्थात् - सृष्टि, स्थिति, लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है वह राजयोग है। अन्तः-करणके मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्काररूपसे चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी कारण दृश्यसे जगत्‌रूपी कार्यदृश्यका कार्यकारण सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध होनेसे सृष्टि होती है। चित्तका चाञ्चल्यही इसका कारण है। चित्तवृत्ति जयपूर्वक स्वस्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहाता है। राजयोगसाधनमें विचार बुद्धिकी प्रधानता रहती है। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधिको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। राजयोगमें सिद्धिप्राप्त महात्मा जीवन्मुक्त कहाते हैं।

इस विषयमें और भी श्रुति-स्मृति कहती है :—

नास्त्रैर्न शस्त्रैर्नानिलेन वह्निना,
छेत्तुं न शक्यः नच कर्म कोटिभिः।
विवेकविज्ञानमहासिना विना
धातुप्रसादेन शितेन मञ्जुना॥ इति स्मृतिः।
"यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"
"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिः।

अर्थात् --अस्त्रसे शस्त्रसे वायुसे वह्निसे और कोटि कोटि कर्मोंसे इसको छेदन नहीं कर सकते केवल विधाताकी कृपासे विवेक और विज्ञानरूप महास्त्रके द्वाराही इसको छेदन कर सकते हैं। सूक्ष्मदर्शीगण सूक्ष्मबुद्धि द्वाराही उनको जान सकते हैं। बिना ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है। मनके द्वाराही उनको लाभ कर सकते हैं। यहाँ दूसरा कोई पदार्थ नहीं है।

राजयोगके अङ्गोंके विषयमें इस प्रकार वर्णित है :—

कला षोडशकोपेतं राजयोगस्य साधने।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधयन् राजयोगस्याङ्गानि षोडश॥
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नरः।

अर्थात्—षोडश कलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अङ्ग हैं। सप्त ज्ञानभूमियोंके अनुसार सात अङ्ग हैं, वे विचार प्रधान हैं। धारणाके दो अङ्ग हैं, यथा प्रकृतिधारणा और ब्रह्मधारणा। ध्यानके तीन अङ्ग हैं—यथा विराड् ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्म-

ध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है। समाधिके चार अङ्ग हैं दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अङ्गोंके साधन द्वारा साधक कृतकृत्य होता है ॥ ९९ ॥

राजयोगका फल कहा जाता है—

विवेक प्राधान्यके कारण राजयोगसे ही पराभक्तिकी प्राप्ति होती है ॥१००॥

योगिराज साधकको राजयोगके द्वारा ही सर्वोत्कृष्ट पराभक्तिकी प्राप्ति होती है। जो भक्ति भगवत्कृपा साध्य, उसकी सर्वोत्तम अवस्था राजयोगके द्वारा ही जब प्राप्ति होती है तो उसको सर्वयोग-शिरोमणि अवश्य ही कहेंगे। यह पहले ही प्रमाणित हो चुका है कि जब उन्नत भक्त भक्तिकी पराकाष्ठाकी स्थिति प्राप्त करता है, उस समय ब्रह्मसद्भावके द्वारा वह भाग्यवान् भक्त सर्वत्र और सब अवस्थामें ब्रह्मभावका ही अनुभव करता है। उसकी उस ब्रह्मस्थितिमें ब्रह्मके सिवाय और द्वैतप्रपञ्चका भान रहता ही नहीं। राजयोगकी समाधिरूपी निर्विकल्प समाधिद्वारा इसी अद्वैत ब्रह्मस्थितिका भाव उदय होता है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि राजयोगका अन्तिम फल पराभक्तिकी प्राप्ति ही है। श्रुति भी कहती है—

> न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
> नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
> ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्व-
> स्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः॥

इतः परा विवेकप्राधान्यात् ॥१००॥

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
वेदान्तवेद्यं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१००॥

प्रसङ्गसे वेदके तीन काण्डोंका लक्ष्य समन्वय कर रहे हैं—

निर्विकल्प समाधि, कर्मयोग, जीवन्मुक्ति और ब्रह्म सद्भाव ये पराभक्तिके पर्याय बाचक शब्द हैं ॥१०१॥

तीन काण्डोंमें विभक्त वेद एक ही लक्ष्यके साधनके अर्थ पुरुषार्थ कहते हैं। इस कारण यदि जिज्ञासुके हृदयमें संदेह हो कि वेदके तीनों काण्ड जब मुक्तिको प्रतिपादन करते हैं तो इन तीनों काण्डोंके लक्ष्यका समन्वय कैसे हो सकता है? इस प्रकारकी शङ्काके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। निर्विकल्प समाधि कर्मयोग जीवन्मुक्ति

ब्रह्मसद्भावाः परपर्यायाः ॥१०१॥

कर्मकाण्ड आधिभौतिकशुद्धि प्रधानतासे उन्नति सम्पादन द्वारा मुमुक्षुको मुक्तिपदमें अग्रसर करता है; उपासनाकाण्ड अधिदैव-शुद्धिप्रधानताके साधनकी सहायतासे मुक्तिपदमें अग्रसर करता है और ज्ञानकाण्ड अध्यात्मशुद्धिका प्रधानतामय साधन द्वारा मुक्ति-मार्गमें अग्रसर करता है। कर्मकाण्डके साधनोंका अन्तिम फल कर्मयोगकी प्राप्ति है। कर्मयोगका ज्वलन्त रहस्य गीतोपनिषद्में विवृत है। उपासनाकाण्डके दो प्रधान भेद हैं। एक भक्तिप्रधान, दूसरा योगप्रधान। क्योंकि उपासनाकाण्डका प्राणभक्ति है और शरीर योग है। भक्तिमार्गकी पराभक्ति और योगमार्गकी निर्विकल्प समाधि इन दोनोंके यथाक्रम अन्तिम फलस्वरूप है। ज्ञानकाण्डका अन्तिम फल ब्रह्मसद्भाव है और जो ब्रह्मसद्भावको प्राप्त करता है वह महापुरुष जीवन्मुक्त कहाता है। इसकारण यह स्वतः मानना पड़ेगा कि कर्मयोग, पराभक्ति, निर्विकल्पसमाधि, ब्रह्मसद्भाव और जीवन्मुक्ति ये सब शब्द एक ही दशाको भिन्न भिन्न प्रकारसे वर्णन करनेवाले होनेसे पर्य्यायवाचक शब्द हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

परं ज्ञानं परं सांख्यं परं कर्मविरागता।
पराभक्तिः समाधिश्च योगपर्यायवाचकाः॥

अर्थात् परज्ञान, परसांख्य, परकर्मविरागता अर्थात् पराभक्ति समाधि—ये सब योगशास्त्रके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥१०१॥

शङ्काका समाधान कर रहे हैं :—

भेदकी प्रतीति प्रकृति तारतम्यसे होती है ॥१०२॥

यदि जिज्ञासुओंके हृदयमें इस प्रकारकी शंका हो कि पराभक्ति कर्मयोग, ब्रह्मसद्भावादि सब पर्य्याय वाचक हैं और ये सब एक ही स्थितिके बोधक हैं तो इनके अलग अलग नामकरणकी क्या आवश्यकता है और इनमें भेद प्रतीति क्यों होती है ? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। मनुष्यकी प्रकृति विभिन्न प्रकारकी होती है। किसीकी प्रकृति आधिभौतिक भावप्रधान, किसीकी आधिदैविक भावप्रधान, किसीकी आध्यात्मिकभाव प्रधान होती है। किसीकी प्रकृतिमें कर्म करना अच्छा लगता है, किसीकी प्रकृतिमें उपासना करना अच्छा लगता है और किसीकी प्रकृतिमें ज्ञानचर्चा करना अधिक अच्छा लगता है। अस्तु, प्रथम-श्रेणीके साधक कर्मकाण्डके पक्षपाती दूसरी श्रेणीके साधक उपासनाकाण्डके पक्षपाती और तीसरी श्रेणीके साधक ज्ञान-काण्डके पक्षपाती स्वतः ही बन जाते हैं। प्रथम श्रेणीको कर्मयोग, दूसरी श्रेणीके साधकको योग और भक्ति और तीसरी श्रेणीके साधकको नित्यानित्य विचाररूपी ज्ञानचर्चा स्वतः प्रिय होता है। रहस्य इतना ही है कि जैसे शरीरकी पुष्टिके लिये मुखयन्त्र, पाकस्थलीयन्त्र और हृदययन्त्र तीनोंही समान रूपसे उपयोगी है, क्योंकि अन्न मुखमें जाता है, वहाँसे पाक-स्थलीमें पकता है और वहाँसे रसरूपमें होकर हृदययंत्रमें

भेदप्रतीतिः प्रकृतितारतम्यात् ॥१०२॥

पहुँचकर रक्तमें परिणत होता है। दूसरी ओर अन्न जब मुखमें जायगा तो पाकस्थलीमें भी जायगा और रूपान्तर होकर हृदय-यन्त्रमें भी अवश्य जायगा, ठीक इसी प्रकार कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्डको समझना उचित है। फलतः साधककी प्रकृति स्वतन्त्र स्वतन्त्र होनेसे इन तीनों काण्डोंके अधिकार भी स्वतंत्र स्वतंत्र रूपसे होते हैं, तीनोंकी स्वतंत्र स्वतंत्र प्रधानतासे साधनोंमें स्वतंत्रभेद रहता है, साधनमें स्वतंत्र स्वतंत्र लक्षण होनेसे साधकके वहिर्लक्षणमें भी स्वतंत्रता रहती है और इसी कारण भेद प्रतीति होती है। यही कारण है कि ईशकोटिके जीवन्मुक्त दशामें भी कर्मप्रधानदशा भक्तिप्रधानदशा और ज्ञान-प्रधानदशा स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे देखनेमें आती है ॥१०२॥

प्रसङ्गसे योगलक्षण वर्णन कर रहे हैं—

सुकौशलपूर्ण कर्मको योग कहते हैं ॥१०३॥

पूर्व कथित विज्ञानकी दृढ़ताकेलिये कर्मकाण्ड सम्बन्धीय योग-विज्ञानका लक्षण वर्णन कर रहे हैं। कर्मकाण्डके अनुसार सुकौशलपूर्ण क्रियाको योग कहते हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी ऐसी आज्ञा है कि—

यदेतल्लक्षणं गीतं योगः कर्मसु कौशलम्।
तन्नूनं कर्मकाण्डीय-योगलक्षणमीरितम् ॥

सुकौशलपूर्ण कर्मको योग कहते हैं, यह कर्मकाण्डका लक्षण है। कर्ममीमांसादर्शन तथा कर्मविज्ञानका सर्वोत्तम सिद्धान्तग्रंथ

कर्मसु कौशलं योगः ।१०३।

श्रीभगवद्गीता इसी लक्षणको प्रतिपादन करते हैं। कर्मही जीवको बन्धन प्राप्त कराता है, कर्म ही जीवको मुक्त करता है। जिस प्रकार सुकौशलरहित हस्तक्रिया द्वारा रस्सी उलझ जाती है और पुनः सुकौशलपूर्ण हस्तक्रिया द्वारा मनुष्य सुलझाकर खोल सकता है, ठीक उसी प्रकार सुकौशलरहित कर्म द्वारा मनुष्य आवागमनचक्रमें फसा रहता है और सुकौशलपूर्ण कर्मद्वारा साधक आवागमनचक्रसे मुक्त हो जाता है, उसी सुकौशल-पूर्ण कर्मको योग कहते हैं ॥१०३॥

प्रसङ्गसे दूसरा लक्षण कर रहे हैं—

चित्तवृत्तिनिरोधको योग कहते हैं ॥१०४॥

कर्मकाण्ड सम्बंधी योगलक्षण पूर्वसूत्रमें वर्णन करके अब इस सूत्रद्वारा उपासनाकाण्डीय योगलक्षण वर्णन कर रहे हैं। स्मृतिशास्त्रोंमें भी ऐसा कहा है कि,

चित्तवृत्तिनिरोधो वै योग एतद्धि लक्षणम्।
विज्ञेयं सर्वथोपास्ति काण्डयोगस्य निर्जराः॥

महामाया देवताओंसे कहती हैं कि चित्तवृत्ति निरोध करनेको योग कहते हैं, यह उपासनाकाण्डका लक्षण है। योगविज्ञानका दर्शनशास्त्र योगदर्शन भी योगका यही लक्षण कहता है। भक्ति-मार्ग तथा योगमार्गकी सहायतासे साधक चित्तवृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होता है, और चित्तकी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेसे सर्वव्यापक परमात्माका विकाश अन्तःकरणमें स्वतः ही हो जाता

चित्तवृत्तिनिरोधो योगः ॥१०४॥

है। उपासनाकाण्डके जितने प्रकारके साधन कौशल हैं, वे सब इसी विज्ञानकी भित्तिपर स्थित हैं। कर्मकाण्डकथित सुकौशल पूर्ण कर्म्मयोगके द्वारा जिस प्रकार कर्मबन्धन नष्ट होकर मुक्तिकी प्राप्त होती है, उपासनाकाण्डके चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगद्वाराभी उसी प्रकार द्रष्टारूपी परमात्माका स्वरूप प्रकाशित होकर भगवत्-साक्षात् द्वारा साधक भवबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥१०४॥

प्रसङ्गसे तीसरा लक्षण कहा जाता है :—

उपाधिको निःशेष हटाकर जीवात्मा और परमात्माके एकीकरण करनेको योग कहते हैं ॥१०५॥

निजसमन्वय विज्ञानकी पुष्टिके निमित्त अब महर्षि सूत्रकार ज्ञानकाण्ड सम्बन्धीय योगविज्ञानका वर्णन कर रहे हैं। ज्ञानकाण्ड विचारप्रधान है इसकारण अज्ञान उपाधिको हटाकर ज्ञानकी सहायतासे जीवात्मा और परमात्माका जो एकीकरण है, उसीको ज्ञानकाण्डके अनुसार योग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमेंभी ऐसाही कहा है। यथा—

अज्ञानजनितोपाधिं निःशेषमपनोद्य हि।
एकत्वप्रतिपत्तिर्या योगः स्याच्छिवजीवयोः॥

अज्ञानजनित उपाधिको निःशेष हटाकर जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं। जैसे मनुष्य और उसकी बोलनेकी शक्ति जब अलग अलग प्रतीत होती है, तभी दो

उपाधिनिराकरणेन जीवात्मपरमात्मनोरेकीकरणं योगः ॥१०५॥

पदार्थ दिखायी देते हैं और जब वह शक्तिमान् वक्तामें लीन रहती है, तब द्वैतभाव नहीं होता है। इसी उदाहरणके अनुसार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायाके अलग अलग होनेसे शक्तिकी व्यक्तावस्थामें भेदप्रतीति होकर द्वैतप्रपञ्चका अनुभव होता है। पराभक्तिके उदय होनेसे वह द्वैतभाव जब नष्ट हो जाता है अर्थात् मायाके ब्रह्ममें लय हो जानेपर शक्तिमान्में शक्तिके लय होनेके सदृश द्वैतप्रपञ्चका भी नाश हो जाता है। उस समय पराभक्तिके द्वारा अद्वैतभावका उदय होनेसे घटके दूर जानेसे घटाकाश और महाकाशमें अद्वैतभावके स्थापनके सदृश जीव और शिवकी एकता स्थापित हो जाती है, यही ज्ञानकाण्डके योगका रहस्य है। पराभक्तिके द्वाराही इस अद्वैतदशाकी प्राप्ति होती है। आत्मज्ञानही इसका साक्षात् कारण है, इस अवस्थाका चरमफल मुक्ति है ॥१०५॥

अब पराभक्तिका परम सहायभूत धर्म कह रहे हैं :—

जिसके द्वारा यह विश्वधारण किया जाता है उसे धर्म कहते हैं ॥१०६॥

सृष्टिक्रियाको जिस अलौकिकशक्तिने धारण कर रखा है उसे धर्म कहते हैं।

स्मृतिशास्त्रमें लिखा है कि —

या बिभर्त्ति जगत् सर्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः॥

येनैतद्धार्य्यते स धर्मः ॥१०६॥

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

तात्पर्य यह है कि जो ईश्वरकी अलौकिकी इच्छा जगत्‌को धारण करती है, वही धर्म है इसमें सन्देह नहीं। धर्मके द्वारा ही निखिल जीवोंकी उन्नति सम्पादित होती और अन्तमें चरमपदको प्राप्त करते हैं।

धर्मके इस प्रकारके लक्षणसे यह सिद्ध हुआ कि धर्म साधकको आध्यात्मिक जगत्‌में अग्रसर होनेकी शक्ति प्रदान करता है। और अन्तमें ऐसे स्थानमें पहुँचा देता है कि जहाँ मुक्ति सुलभ है। मुक्तिका कारण पराभक्ति है सुतरां धर्म पराभक्तिका साक्षात् सहायक है। प्रथम दशामें धर्म इहलौकिक अभ्युदय प्राप्त कराता है। दूसरी दशामें धर्म पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त कराता है और तीसरी अवस्थामें अर्थात् अन्तिम अवस्थामें धर्म पराभक्ति प्राप्त कराकर साधकको निःश्रेयसपदमें पहुँचा देता है। धर्मके विश्वधारक स्वरूपके विषयमें स्मृतियोंमें लिखा है :—

धर्माधारा स्थिता सृष्टिः स एवास्या नियामकः।
केवलं धर्ममेवैकमाश्रित्य जीवजातयः ॥
अग्रेसरा भवन्तीमा मां प्रत्येव न संशयः
ममानुशासनं धर्म्म इति तत्त्वविदो विदुः ॥
जगन्नियामिका शक्तिर्धर्मरूपाऽस्ति या मम।
तथा ह्यनन्त-ब्रह्माण्डान्यनन्ता लोकराशयः ॥

ऋषयः पितरो यूयं स्वस्वस्थाने स्थिताः सदा।
रक्षन्ति सृष्टिमखिलामिति जानीत सत्तमाः॥
धर्मे धारणरूपा या शक्तिरस्मि दिवौकसः।
तयैव स्वस्वकक्षायामिमे सर्वे स्थिताः सदा॥
ग्रहनक्षत्रप्रमुखा लोका ब्रह्माण्डकानि च।
तथैव पितरो यूयमृषयश्च तथाऽसुराः॥
रक्षन्तः पदमर्य्यादां स्वीयां लोका नयन्त्यलम्।
यदा स्वधर्माच्च्यवथ विघ्नं वो जायते तदा॥
अत्यन्तं येन लोकेषु नित्यं सीदन्ति प्राणिनः।
अनन्तकोटिब्रह्माण्डयुक्त— सृष्टिप्रवाहकः॥
आस्थितः केवलं धर्म्ममेवैकमवलम्ब्य हि।
वर्त्तते धर्म एवातो विश्वधारक ईरितः॥
अनन्ता ये ग्रहाः सर्वे तथोपग्रहराशयः।
ब्रह्माण्डशब्द - निर्वाच्यास्तथैवामरपुङ्गवाः॥
नानावैचित्र्यसंयुक्ता उद्भिज्ज स्वेदजाण्डजाः।
जरायुजा इमे नूनं भूतसङ्घाः समीरिताः॥
सर्वाण्येतानि विनिर्दिष्टे नियमे परिचालयन्।
एक एवास्ति धर्मोऽतो जगतां स नियामकः॥

श्रीभगवान् निजमुखसे आज्ञा करते हैं कि सृष्टि धर्मके आधार पर स्थित है, सृष्टिका नियामक धर्म ही है और एकमात्र धर्मकोही अवलम्बन करके ये जीवगण मेरी ओरही अग्रसर होते हैं इसमें संदेह नहीं। मेरा अनुशासन धर्म है ऐसा तत्त्वज्ञ समझते हैं। मेरी

जगन्नियामिका शक्तिरूपधर्मसे अनन्त ब्रह्माण्डसमूह अनंतलोकसमूह और ऋषि, देवता, पितृगण अपने अपने स्थानपर सदा स्थित रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रक्षा करते हैं, हे श्रेष्ठ देवगण मेरे धर्मकी धारिकाशक्ति द्वाराही सब ब्रह्माण्ड और सब ग्रह नक्षत्र आदि लोकसमूह अपनी अपनी कक्षामें सदा स्थित रहते हैं और उसीके द्वारा ऋषि, पितृ आप लोग और असुरगणभी अपनी अपनी पदमर्य्यादाकी रक्षा करते हुये संसारकी रक्षामें भलीभाँति प्रवृत्त रहते हैं। आप लोग जब स्वधर्मसे च्युत होते हो तभी जगत्‌में विप्लव उपस्थित होता है। जिससे लोकोंमें प्राणिमात्र अत्यंत क्लेश पाते हैं मुझमें स्थित अनन्तकोटि ब्रह्माण्डयुक्त सृष्टिप्रवाह एकमात्र धर्मको अवलम्बन करके ही स्थित है। इसी कारण धर्म विश्वधारक कहा गया है। हे देव श्रेष्ठगण ! अनन्त उपग्रहमय ब्रह्माण्ड और अनंत विचित्रता पूर्ण उद्भिज्ज स्वेदज अण्डज और जरायुरूपी चतुर्विध भूतसंघ, इन सबको निर्दिष्ट नियमपर चलानेवाला एकमात्र धर्म है इस कारण धर्मको जगन्नियंता कहते हैं ॥१०६॥

ज्ञानकी दृढ़ता कर रहे हैं :—

वह सत्त्वप्रधान होनेसे मुक्तिकी ओर अग्रसर करता है ॥१०७॥

स्थूल जगत्‌में आकर्षण और विकर्षणशक्ति और अन्तर्जगत्‌में राग और द्वेष ये यथाक्रम रज और तमोगुण मूलक हैं। इन

मुक्त्युन्मुखताकरः सत्त्वप्राधान्यात् ॥१०७॥

दोनोंका जहाँ समन्वय होता है वहाँ ही सत्त्वगुणका उदय होता है। स्थूलजगत्में आकर्षण और विकर्षणकी समता रहती है वहीं स्थितिका उदय होता है। परमाणु और परमाणुओंमें तथा ग्रह उपग्रहसे लेकर सूर्य्य पर्यन्तमें आकर्षण और विकर्षणके समन्वयसे ही ब्रह्माण्डकी स्थिति बनी है, वह स्थिति सत्त्वगुणमूलक है। उसी प्रकार अन्तर्जगत्में राग और द्वेषके समन्वय होनेसे ही साधु हृदयमें चित्तवृत्ति निरोध होकर द्रष्टा आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है, वह भी सत्त्वगुणमूलक अवस्था है। धर्मद्वारा वह उन्नत अवस्था भक्तके हृदयमें क्रमशः विकशित होती जाती है। स्मृतिशास्त्रमें भी सत्त्वगुणवर्द्धक धर्मका लक्षण ऐसा कहा है :—

सत्त्ववृद्धिकरो यश्च पुरुषार्थोऽस्ति केवलम्।
धर्मशीले तमेवाहुर्धर्मं केचिन्महर्षयः॥

अर्थात्—सत्त्वगुणवर्द्धक जो पुरुषार्थ है उसीको कोई कोई महर्षि धर्म कहते हैं।

साधक अपने हृदयमें रज और तमोगुणको घटाता हुआ जितना जितना सत्त्वगुणको बढ़ाता जाता है, उतना उतनाही वह अधिकसे अधिक धर्मात्मा होता हुआ मुक्तिपदमें अग्रसर होता जाता है। पूर्ण सत्त्वगुणके उदय होनेपर वह धार्मिक चूड़ामणि साधक अपने शान्त और समाधिस्थ अन्तःकरणमें भगवत्साक्षात्कार द्वारा पराभक्तिको प्राप्त करके कैवल्यको प्राप्त कर लेता है। सुतरां धर्मशक्ति सत्त्वगुण वर्द्धक होकर साधकको अध्यात्मराज्यमें अग्रसर करती हुई मुक्तिपदमें पहुँचा देती है। १०७।

यथा स्मृतिशास्त्रमें लिखा है :—

प्रकाशकत्वात् सत्त्वस्य ज्ञानहेतुत्वमीर्य्यते ।
लघुत्वादूर्ध्वनेतृत्वं सत्त्वान् धर्मो हि निर्वभौ ॥
धर्म्माचरतः सत्त्वं वर्द्धयन् परमोन्नतिम् ।
ऐहिकीमामुष्मिकीं च प्राप्य मोक्षं ततोऽश्नुते ॥

अर्थात्—सत्त्वगुण प्रकाशक होनेसे ज्ञानका कारण है और सूक्ष्म होनेसे सत्त्वके ही कारण वह उन्नति विधायक है। धर्म्माचरणमें रत मनुष्य सत्त्वगुणको बढ़ाता हुआ ऐहिक और पारलौकिक परमोन्नतिको प्राप्त कर मोक्ष पाता है ॥१०७॥

धर्म सम्बन्धसे भक्तिका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैंः—

धर्मके सब अङ्ग भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं ॥१०८॥

धर्म विश्वधारक तथा मुक्ति सहायक होने पर भी उसके सम्बन्धसे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन कर रहे हैं। सर्व महत्त्वसे पूर्ण धर्मके सब अङ्गसमूह भी भगवद्भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं। धर्मके अङ्ग प्रतिपादन करनेके अर्थ ब्रह्मशक्ति महामायाके वचन स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे हैं यथाः—

अहमेवास्मि भो देवाः! धर्मकल्पद्रुमस्य च ।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः ॥
स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्मो वै विश्वधारकः ।
मुख्यं शाखात्रयञ्चास्य यज्ञ दानं तपस्तथा ॥

भक्त्यपेक्षाण्येतदङ्गानि ॥ १०८ ॥

ब्रह्मार्थाऽभयदानानि देवाः ! त्रैगुण्यभेदतः ।
दानस्य प्रतिशाखा स्युर्नवधा नात्र संशयः ॥
तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम् ।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते ॥
प्रतिशाखा अनेका स्युर्यज्ञशखासमुद्भवाः ।
कास्याध्यात्माधिदैवाधिभूत नैमित्तनित्यकाः ॥
कर्म यज्ञप्रशाखाया भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
त एवाष्टादशास्या हि प्रतिशाखा मनोहराः ॥
पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च ।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च ॥
ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्तेः पञ्च भक्तितः ।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम् ॥
अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते ।
एते भेदा नवैवाहो देवाः ! त्रैगुण्ययोगतः ॥
उपास्तेः प्रतिशाखाः स्युः संख्यया सप्तविंशतिः ।
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ॥
त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते ॥
द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः ।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्म्मकल्पद्रुमात्मना ॥
विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्ज्जराः ! नात्र संशयः ।
धर्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्यात्मकान्यहो ॥

उपाङ्गानि न संख्यातुमर्हाणि कैरपि क्वचित् ।
विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः ॥
पक्षिणौ द्वौ सदा तत्र जगतां मोहकारिणौ ।
मनोज्ञे वृक्षराजे स्ता वसन्तौ शाश्वतीः समाः ॥
स्वादतेऽभ्युदयस्यैको ह्यपक्वे द्वे फले तयोः ।
अपरश्चतुरः पक्षी सुपक्वं त्वमृतं फलम् ॥
सुस्वाद्वास्वाद्य गीर्वाणः नूनं निःश्रेयसं पदम् ।
ब्रह्मानन्दसमुल्लास-सार्थकत्वं प्रकाशयेत् ॥

अर्थात्—हे देवगण ! मैं ही धर्मकल्पद्रुमका बीज भी हूँ, मूल भी हूँ, आधार भी हूँ, इसमें सन्देह नहीं । उस वृक्षका स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है । उसकी प्रधान तीन शाखायें हैं, यथा यज्ञ, तप और दान । अर्थदान, ब्रह्मदान और अभयदानके त्रिगुणात्मक होनेसे दानकी नव प्रतिशाखायें हैं । हे देवतागण ! इसमें सन्देह नहीं है । शारीरिक-तप वाचनिकतप और मानसिक तपके त्रिगुणात्मक होनेसे तपोधर्म की नव प्रतिशाखायें हैं । यज्ञशाखासे उत्पन्न प्रतिशाखायें अनेक हैं । नित्य, नैमित्तिक, काम्य, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये कर्मयज्ञरूपी प्रशाखाओंके भेद हैं, इनके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्मयज्ञकी मनोहर अठारह प्रतिशाखायें हैं । उपासनायज्ञकी आसुरी उपासना, ऋषि देवता और पितरोंकी उपासना, अवतारोंकी उपासना, पञ्चसगुण ब्रह्मरूपोंकी उपासना और निर्गुणोपासना ये पाँचभक्तिसम्बन्धी भेद है । और योगके अनुसार उपासनाके मन्त्र, हठ, लय, राज, ये चार भेद हैं, इस प्रकारसे इन्हीं नव भेदोंके त्रिगुणा-

त्मक होनेसे हे देवगण! उपासनाकी सत्ताईस प्रतिशाखायें हैं। ज्ञानयज्ञके श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन भेद त्रिगुण सम्बन्धसे नवधा विभक्त होकर नव प्रतिशाखायें होती हैं। हे देवगण! इस प्रकारसे मैं ही बहत्तरशाखा और प्रतिशाखाओंमें धर्मकल्पद्रुम-रूपसे अपने ज्ञानीके हृद्देशमें निःसन्देह विराजमान हूँ। उस धर्मकल्पद्रुमके पत्रपुष्परूपी उपाङ्गोंकी तो संख्या ही किसीसे कभी नहीं हो सकती, वे अतिमनोहर और विचित्र हैं।

उस रम्य वृक्षराजपर जगन्मुग्धकारी दो पक्षी सदा अनन्त-कालसे निवास करते हैं। उनमेंसे एक पक्षी अभ्युदयके दो कच्चे फलोंका स्वाद ग्रहण करता है और दूसरा चतुरपक्षी निःश्रेयस-पदरूपी सुपक्क और सुस्वादु अमृतफलका आस्वादन करके देवतागण! ब्रह्मानन्द समुल्लासकी चरितार्थताको निश्चय ही प्रकाशित करता है।

ऊपरके स्मृतिवचनोंसे धर्मका विस्तार भलीभाँति प्रकट होता है। धर्मके अङ्गोंमेंसे मूल अङ्ग दानयज्ञ, तपोयज्ञ, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ इन्हीं पाचोंसे बहत्तर शाखायुक्त धर्म बना है। सूक्ष्मविचार करनेसे यह सिद्ध होगा कि जैसे विना जलके मिले मिट्टी बीजवपनके लायक कदापि नहीं बन सकती और न उससे अन्य कार्य निकल सकता है जैसे वर्तन ईंट बनाना आदि, ठीक उसी प्रकार विना भक्तिकी सहायतासे ऊपर कथित कोई धर्माङ्ग न सरस होता है और न पूर्ण सफलताको प्राप्त होता है। मिट्टी

जलरूपी संयोगसे पूर्ण कार्यकारिणी होती है। धर्म्माङ्गसमूहभी भक्तिरूपी रसके संयोगसे पूर्ण कार्यकारी होते हैं।

विश्वास श्रद्धा और भगवद्भक्तिके विना दाता सात्विकदानका अधिकारी नहीं बन सकता है। विना अन्तर्जगत्पर विश्वास, विना शास्त्रपर श्रद्धा और विना कर्मनियन्ता श्रीभगवान्पर भक्ति स्थापन किये तपोयज्ञ और कर्म्मयज्ञ सफलही नहीं हो सकते। उपासनायज्ञका तो भक्ति प्राणरूप है, यह पहलेही सिद्ध हो चुका है। उसके सब अङ्गोंमें भक्तिकी ही प्रधानता है। और भगवद्भक्तिहीन ज्ञानयज्ञका साधक तो अहङ्कार ग्रसित होकर पतित हो जाता है भक्तिकी महिमा सर्वोपरि है ॥१०८॥

अन्य सब सम्बन्धसे भी भक्तिका माहात्म्य वर्णन किया जाता है—

भक्ति निखिलसाधनरूपी यज्ञोंका आधारभूता है॥१०९॥

धर्म्मप्राप्तिके जितने साधन हैं सब यज्ञशब्दवाच्य हैं। यथा श्रीगीतोपनिषद्में कहा है :—

"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे" इत्यादि।

इससे पहले जितने धर्म्मके अङ्ग दिखाये गये हैं वे सब यज्ञशब्दवाच्य हैं। महापसूत्रकारका तात्पर्य यह है कि चाहे कोई यज्ञ हो भक्ति सबकी सहायिका है। विना श्रद्धाके आस्तिकता असम्भव है, मनुष्य आस्तिक होतेही उसके अन्तःकरणमें भक्तिका

सा निखिलसाधनयज्ञाधिकरणम् ॥१०९॥

अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है। सुतरां भक्तिहीन मनुष्यमें कदापि धर्मकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। धर्मसाधनरूपी यज्ञके जितने अङ्ग उपाङ्ग हैं आस्तिकता मूलक भक्ति सबका प्राणस्वरूपा है। जैसे प्राणके विना शरीर जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार श्रद्धाभक्ति विना कोई धर्मसाधन यथार्थरूपसे हो ही नहीं सकता है। दूसरी ओर भक्तिरहित दाता दाम्भिक और प्रमादी हो जायगा। भक्तिरहित तपस्वी अहङ्कारी और क्रोधी हो जायगा। भक्तिरहित कर्मकाण्डी दम्भ, दर्प और अभिमानके द्वारा विवेकहीन हो जायगा। भक्तिहीन उपासकका तो कहीं भी स्थान नहीं है और भक्तिहीन योगीका योग नटवत् विफल होगा। और भक्तिहीन ज्ञानीके अहंकारी बन जानेसे उसके ज्ञानोन्नतिके द्वार रुद्ध हो जायगा। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि भक्ति होनेसे ही भक्तिकी सहायतासे साधक धर्म्मोन्नति कर सकता है ॥१०९॥

समष्टि व्यष्टिसम्बन्धसे साधनके भेद वर्णन कर रहे हैं—

व्यष्टिसम्बन्धसे यज्ञ और समष्टिसम्बन्धसे महायज्ञ कहते हैं ॥११०॥

जो साधन व्यष्टिगतरूपसे व्यष्टि-सम्बन्धयुक्त होता है वह यज्ञ कहाता है और जो साधन संसारके कल्याणार्थ समष्टि सम्बन्धयुक्त होकर किया जाता है वह महायज्ञ कहाता है।

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात् ॥११०॥

इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे कहा है :—

इत्यन्वशासु धर्मस्य मुख्यान् भेदानशेषतः।
चतुर्विंशतिसंख्याकान् मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥
एषामपि धर्म्माङ्गभेदानां गुणभेदतः।
भेदा द्विसप्ततिर्भूयो भवन्तीति विभाव्यताम्॥
एषु जीवहितायैकमप्यङ्गं यदनुष्ठितम्।
व्यष्टिबुद्ध्या नरैस्स यज्ञ इत्युच्यते तदा॥
समष्ट्या सर्वजीवानां हिताय यदनुष्ठितम्।
एकञ्चापि तदा तच्च महायज्ञ इतीर्य्यते॥

अर्थात् तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस प्रकारसे धर्म्मके सम्पूर्ण भेदोंमें से मुख्य २४ भेद बताये हैं। धर्माङ्गोंके इन २४ भेदोंके सात्त्विकादि गुणानुसार ७२ भेद होते हैं। यदि मनुष्य जीवके हितकेलिये व्यष्टिबुद्धि अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिके कल्याणके विचारसे इनमेंसे एकभी अङ्गका अनुष्ठान करे तो उसे यज्ञ कहते हैं। और समष्टिबुद्धिसे सब जीवोंके हितकेलिये यदि मनुष्य इनमेंसे एकका अनुष्ठान करे तो उसे महायज्ञ कहते हैं।

तथा औरभी—

तथा कलिप्रधानस्य दानस्य स्वार्थत्यागिता।
पितृपूजोपासनायाः क्षात्रं कर्म कर्मणः॥
समष्टिरूपेणैतानि देशजात्यर्थकानि चेत्।
महायज्ञोपाङ्गभावं भजन्तीति विभाव्यताम्॥

अर्थात् कलिकालके विचारसे प्रधान धर्म्माङ्ग दानका उपाङ्ग स्वार्थ त्याग है। उपासनायज्ञका उपाङ्ग पितृपूजा है कर्म्मयज्ञका उपाङ्ग छात्र धर्म है। समष्टिरूपसे देश और जातिके लिये किए जाते हों, तो ये ही उपाङ्ग महायज्ञके भावको प्राप्त होते हैं। अतः सब धर्मही व्यक्तिगत सम्बन्धसे यज्ञ और समष्टिगत सम्बन्धसे महायज्ञ कहाते हैं ॥११०॥

उभयका भक्तिसम्बन्ध दिखाया जाता है :—

यज्ञ गौणीभक्तिदायक और महायज्ञ पराभक्ति-दायक है ॥१११॥

भक्ति धर्मके सब साधनोंका सहायक होनेके कारण यज्ञ और महायज्ञके साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार है इसको प्रतिपादनके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यज्ञ व्यक्तिगतसम्बन्धसे युक्त है इस कारण हरेक मनुष्य इसका अधिकारी हो सकता है। परन्तु निष्काम कर्मयोगी ही यथार्थरूपमें महायज्ञ साधनका अधिकारी है। यद्यपि पञ्चमहायज्ञादिका साधन प्रत्येक गृहस्थकेलिये विहित है परन्तु वह विधि केवल निष्काम कर्म्मयोगकी शिक्षा देनेवाली है। उस शिक्षाके द्वारा मनुष्य क्रमशः उन्नत होकर निष्काम कर्मयोगी बन जाता है। फलतः यज्ञमें स्वार्थ सम्बन्ध रहनेसे यज्ञके साथ गौणी भक्ति और महायज्ञके साथ परार्थ-परताका सम्बन्ध रहनेसे उसके साथ पराभक्तिका सम्बन्ध माना गया है। स्वार्थके चार भेद हैं। यथा स्मृतिशास्त्रमें कहा है :—

गौणीभक्तिदो यज्ञः पराभक्तिदो महायज्ञः ॥१११॥

स्वार्थश्च परार्थश्च परोपकार इत्यपि।
चतुर्विधाऽस्ति परमोपकार इति वासना॥
ऐहिकोऽभ्युदयस्तत्र स्वार्थो विद्वद्भिरुच्यते।
स्वीयामुष्मिककल्याणं परमार्थः प्रकीर्तितः॥
अपरैहिककल्याणं परोपकार उच्यते।
अपराऽऽमुष्मिकशिवं सकलान्तस्य लक्षणम्॥

अर्थात् वासनाके चार भेद हैं, यथा स्वार्थ, परमार्थ, उपकार और परमोपकार; जिससे ऐहिक अभ्युदय हो उसे स्वार्थ कहते हैं। अपने पारलौकिक कल्याणका नाम परमार्थ है। दूसरोंके ऐहिक अभ्युदयको परोपकार और दूसरोंके पारत्रिक कल्याणको परमोपकार कहते हैं।

स्वार्थ और परमार्थके साथ यज्ञका उपकार और परमोपकारके साथ महायज्ञका सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। और जब गौणी भक्तिमें केवल आत्मसम्बन्धसे ही भक्तिका साधन होता है तो यज्ञके साथ गौणीभक्तिके साधन-समूहोंका साक्षात् सम्बन्ध है इसमें सन्देह ही नहीं। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीनों भक्त ही त्रिगुणात्मक हैं और सकाम है इसमें सन्देह ही नहीं। इस कारण इन तीनोंके साथ गौणी भक्तिका ही सम्बन्ध है। परन्तु ज्ञानी भक्त ही पराभक्तिका अधिकारी होनेके कारण निष्काम और समदर्शी होकर महायज्ञका यथार्थ अधिकारी बन सकता है॥१११॥

उनका अन्य फलवर्णन किया जाता है :—

उनके द्वारा दैवी क्रियाकी निष्पत्ति होती है ॥११२॥

यज्ञ और महायज्ञ द्वारा ऋषि देवता और पितृगण तीनों ही सम्बर्द्धित होते हैं। कैसे सम्बर्द्धित होते हैं और किसके द्वारा कौन सम्बर्द्धित होते हैं इसका विस्तारित वर्णन पूर्वमें आ चुका है। जिन क्रियाओंके द्वारा दैवराज्यके अधीश्वर सम्बर्द्धित होते हैं वही क्रियासमूह दैवी क्रिया निष्पत्तिके मूल है ऐसा मानना ही पड़ेगा। इस विषयमें श्रुतिस्मृति इस प्रकारसे आज्ञा करती है—

अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यात्माको प्राप्त होती है आदित्यसे वृष्टि होती है उससे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति हुआ करती है।

धर्म और यज्ञ पर्य्यायवाचक शब्द है। धर्म्म ही व्यष्टि सम्बन्धसे यज्ञ और समष्टि सम्बन्धसे महायज्ञ कहाता है। चाहे व्यष्टि सम्बन्ध हो अथवा समष्टि सम्बन्धयुक्त हो, ब्रह्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ द्वारा ऋषिगण देवयज्ञादि द्वारा देवतागण और पितृयज्ञादि द्वारा पितृगण सम्बर्द्धित होते हैं। यह सब विज्ञान पहले भलीभाँति सिद्ध हो चुका, सुतरां व्यष्टि सम्बन्धयुक्त यज्ञ और समष्टि सम्बन्धयुक्त महायज्ञ दैवराज्यकी पुष्टिके प्रधान कारण हैं। फलतः जिन कार्य्योंके द्वारा त्रिविध अधिदैवगण सम्बर्द्धित होते हैं और जिनके

ततो दैवक्रियानिष्पत्तिश्च ॥११२॥

द्वारा दैवराज्य पुष्ट होता है वे दैवी क्रिया निष्पत्तिके कारण हैं यह स्वतः सिद्ध है ॥ ११२ ॥

उनका और भी फल वर्णन किया जाता है :—

उनसे उपासकोंकी उपासनामें अधिकार प्राप्त होता है ॥११३॥

यज्ञ और महायज्ञरूपी धर्मसाधनोंके अधिकारोंमें उपासक जितना अग्रसर होता जाता है उतना ही उस भाग्यवान् धार्म्मिकको भक्तिमार्गका उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अधिकार मिलता जाता है। धर्म्मकी पहली दशामें इहलौकिक अभ्युदय और दूसरी दशामें पारलौकिक अभ्युदय तथा अन्तिम दशामें निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। धर्म्मरूपी यज्ञ और महायज्ञके द्वारा साधकमें क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि होती जाती है, क्योंकि धर्म्म सत्त्वगुणमय है यह पहले भली-भाँति सिद्ध हो चुका है। दूसरी ओर यह स्वतः सिद्ध है कि साधकमें जितना जितना रजतमका नाश होकर सत्त्वगुणकी वृद्धि होती जायगी उतना ही भक्त भक्तिमार्गमें उन्नति करता जाता है। तामसिक आर्तभक्तसे राजसिक जिज्ञासु भक्त श्रेष्ठ है और रजोगुण प्रधान जिज्ञासुभक्तसे सत्त्वगुण प्रधान अर्थार्थी भक्त श्रेष्ठ है। और इन तीनोंसे शुद्ध सत्त्वमय ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इस विज्ञानके अनुसार भी भक्तिमार्गमें सत्त्वगुणकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही परमसहाय मानी जायगी। सुतरां जब धर्मरूपी यज्ञ महायज्ञ क्रमशः सत्त्वगुण बढ़ाते हैं और भक्तिमार्गमें सत्त्वगुणकी क्रमशः अभि-

---

तत उपास्तावधिकार उपासकानाम् ॥११३॥

वृद्धि ही वाञ्छनीय है तो यह सिद्ध हुआ कि यज्ञ महायज्ञ द्वारा उपासकोंको भक्तिमय उपासनामार्गमें उन्नतसे उन्नत अधिकार प्राप्त होता रहता है ॥११३॥

प्रसङ्गसे साधारणतः उपासनाके भेद कहे जाते हैं :—

वह सावलम्बना और निरवलम्बना भेदसे द्विविध है ॥११४॥

अपने उपास्यके सान्निध्य प्राप्ति करनेके अर्थ जितने प्रकारके उपाय हो सकते हैं, वे सब उपासना शब्दवाच्य हैं। उन सब क्रियाओंको जब अवलम्बनके विचारसे विभाग किया जाय तो दो भागमें विभक्त कर सकते हैं। जब कोई विज्ञान सिद्ध अवलम्बनके साथ उन क्रियाओंका साधन किया जाय तभी उसको सावलम्बन उपासना कहेंगे। और जब विज्ञानसिद्ध अवलम्बन न रहे तब उसको निरावलम्बन साधन कहेंगे। अवलम्बन भावमूलक होता है और अवलम्बनमें ध्येयकी प्रधानता रहती है। क्योंकि बिना ध्येयको मनके सन्मुख रक्खे ध्यानकी सिद्धि आकाशकुसुमवत् मिथ्या होगी। यही कारण है कि वेदमूलक और वेदसम्मत शास्त्र-मूलक और प्रकारान्तरसे योगचतुष्टय विज्ञानमूलक जो उपासना-प्रणाली है वही सावलम्बनाके अन्तर्गत कही जा सकती है। और दूसरी ओर वेद और शास्त्रप्रमाणरहित योगविज्ञानके विरुद्ध केवल मनोकल्पित ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटी विवर्जित जो अवैदिक

सा द्विविधा निरवलम्बना सावलम्बना च ॥११४॥

प्रणालियाँ अनेक धर्ममतोंमें प्रचलित हैं, वे सब निरावलम्बना प्रणालीके अन्तर्गत समझने योग्य हैं।

वैदिकविज्ञानसे युक्त निराकार ब्रह्मोपासना भी अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतभावसे युक्त ब्रह्म ईश विराड्रूपसे युक्त है। उसी प्रकार ब्रह्मरूपका ध्यान भी सच्चिदानन्दमय है। वैदिक विज्ञानका सगुण पञ्चोपासना, लीलाविग्रहोपासना आदि तो मूर्तियुक्त ध्यान सम्बलित है। इस कारण वैदिक उपासना प्रणाली सावलम्बन है इसमें किसी जिज्ञासुको सन्देह ही नहीं हो सकता है। दूसरी ओरसे यदि विचार किया जाय तो स्थूल ध्यानमय मन्त्रयोग—प्रणाली, ज्योतिर्ध्यानमय हठयोगप्रणाली, विन्दुध्यानमय हठयोग, लययोगप्रणाली और ब्रह्मध्यानमय राजयोग प्रणाली, चारों ही सावलम्बन हैं इसको भी मानना ही पड़ेगा। अस्तु, वैदिक सब उपासना प्रणालियाँ सावलम्बन है ऐसा मानना ही पड़ेगा। परन्तु जगत्के अवैदिक धर्ममार्गोंमें जो उपासना प्रणालियाँ है वे यदि भावविज्ञानके अनुसार अपने-अपने ढंगपर अभ्युदयप्रद हैं तथापि ध्येयका स्वरूप निश्चित न होनेसे तथा ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीके अभावसे योगविज्ञान विरुद्ध होनेसे तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तरहित होनेसे वे सब उपासना-प्रणालियाँ निरावलम्बना है यह भी मानना ही पड़ेगा ॥११४॥

साधारणतः उपासनाके भेद कहकर अब वैदिक विशेष भेद कहे जा रहे हैं :—

वह प्रणवके आश्रयसे की जाती है ॥११५॥

प्रणवकी सहायतासे जो ब्रह्मोपासना की जाय वह एक प्रकारकी वैदिक उपासना है।

योगदर्शने "तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावनम्" यह कहकर जिस साधन प्रणालीका विज्ञान वर्णन किया है वह यही साधन प्रणाली है। प्रणवका विस्तारित विवरण इस दर्शनके स्थानान्तरमें आया है। प्रणव ब्रह्मप्रकृतिका साक्षात् शब्द होनेसे वह साक्षात्‌रूपसे ब्रह्मका वाचक है और ब्रह्मके साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध होनेसे उसका अवलम्बन सर्वश्रेष्ठ है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदावलम्बनम्परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

अर्थात्—परमात्माकी उपासनामें प्रणव श्रेष्ठ अवलम्बन है, परम अवलम्बन है। अवलम्बनस्वरूप ओंकारको जानकर साधक ब्रह्मलोकमें पूज्य हो सकता है।

"एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेवै कतरमन्वेति" "तमोङ्कारेणैवायतने नान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति"

प्रणववाच्य वाचक सम्बन्धके कारण पर अपर उभयविध ब्रह्म ही है इसलिये प्रणवशान्त, अजर, अमृत, अभयपदकी प्राप्ति ओंकारके द्वारा ही होती है।

प्रणवाश्रयतः ॥११५॥

प्रणवकी सहायतासे उपासनाके तीन भेद हैं। एक ओंकारका त्रिविध जप अथवा यान्त्रिक नादकी सहायतासे किया जाता है। दूसरा भेद वह कहाता है कि जो अन्तःकरणकी सहायतासे किया जाता है। उसमें भगवत् स्वरूपके साथ प्रणवकी ध्वनिके अक्षरमय स्वरूपके साथ योजना करके किया जाता है। तदर्थ भावनाशब्द-द्वारा महर्षि पतञ्जलिजीने इसी साधन प्रणालीको लक्ष्य कराया है। और तीसरी साधनप्रणाली वह जो प्राणायाम सिद्धिके अनन्तर ओङ्कार आदि लययोगक्रियाकी सहायतासे ध्वन्यात्मक प्रणव जिसको श्रुतिने—

"तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्"

आदि शब्दोंसे प्रतिपादन किया है उसको अन्तर्जगतमें सुनते हुये योगिराज अपने अन्तःकरणको भगवत्पदारविन्दमें लय करनेमें समर्थ होता है। प्रणव आश्रयकी उपासनाप्रणालीके यही तीन मुख्य भेद हैं जो गुरु उपदेशगम्य है ॥११५॥

अब दूसरा वैदिकभेद कहा जाता है :—

वह उद्गीथके आश्रयसे होता है ॥११६॥

उद्गीथकी सहायतासे उपासनामार्गमें अग्रसर होनेकी एक स्वतन्त्रशैली वेदमें विहित है। पूर्णज्ञानमय वेदके मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग, इन भागत्रयोंमें उपासनाकाण्डमें सम्पूर्ण रहस्य और उसकी सम्पूर्ण साधन-प्रणाली इङ्गितरूपसे विवृत्त है। साधन प्रणालियाँ अनेक हैं। उनमेंसे जो-जो प्रधान

उद्गीथाश्रयश्च ॥११६॥

हैं उनके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रणाली समझने योग्य है। यही सूत्रकारका तात्पर्य है। यथा श्रुतिमें लिखा है :—

"एषां भूतानां पृथिवीरसः पृथिव्या आपोरसोऽयमोषधयो रस ओषधीनां पुरुषोरसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथो रसः" "सम्वर्द्धयिता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते"

अर्थात्—सकल भूतोंमें पृथिवी श्रेष्ठ है, पृथिवीमें जल श्रेष्ठ वस्तु है, जलमें रसपुष्ट ओषधि श्रेष्ठ वस्तु है, ओषधियोंमें ओषधिद्वारा उत्पन्न वीर्य्यसे पुष्ट पुरुष श्रेष्ठ है। पुरुषमें वाक् श्रेष्ठ है, वाक्योंमें वेदवाक्य श्रेष्ठ है और सामवेदमें उद्गीथ श्रेष्ठ है, इस प्रकारसे अष्टम-कोटिमें प्रतिष्ठित उद्गीथ रसोंमें रसतम और परम श्रेष्ठतायुक्त है। जो विद्वान् इस उद्गीथकी उपासना करता है उसकी सकल कामना पूर्ण होती है। उद्गीथ उपासना अवलम्बनमें अष्टकोटिमेंसे सर्वोत्तमकोटि प्रविष्ट है। जिस प्रकार ब्रह्मप्रकृति महामायाकी अष्ट-प्रकृतिमेंसे उत्तरोत्तर सम्बन्धसे बुद्धि श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उपासनाके अष्ट अवलम्बनोंमें उद्गीथ अष्टमकोटि प्रविष्ट और श्रेष्ठ है। उपा-सनामें पार्थिव अवलम्बन प्रथम है क्योंकि पृथिवीतत्त्वके साथ मृत्युलोकका साक्षात् और घनिष्ठ सम्बन्ध है। यावत् स्थूल अवलम्बनसे उपासना जो कुछ की जाती है वह इसी कोटिकी समझनी उचित है। जलका अवलम्बन द्वितीय है, इसी कारण गायत्री उपासना सन्ध्योपासना आदिमें जलका सम्बन्ध सर्वोपरि माना गया है। विशेषतः पवित्रकारियोंमें जल सबसे श्रेष्ठ है।

शरीरको उपासनायुक्त बनानेमें ओषधियाँ सर्वप्रधान हैं, क्योंकि अन्न और प्राणका वहन वे ही करती हैं। प्राण अन्नसे सुरक्षित रहता है और ओषधियाँ ही शरीररक्षक अन्नके प्राप्त करानेमें प्रधान हैं। इसी कारण ओषधियाँ भी साधारणतः अन्न कहाती है। श्रुतिमें अन्नब्रह्म ऐसा कहा है। ओषधिसे अन्न और अन्नसे वीर्य्य बनता है। वीर्य ही स्थूलशरीरका उत्पादक है, जो स्थूलशरीर उपासनामें प्रधान सहायक है। वीर्य्य यद्यपि स्त्रियोंमें भी होता है क्योंकि स्त्रियोंमें आठधातु और पुरुषोंमें सातधातु कहा गया है। परन्तु पुरुषमें वीर्य्यकी प्रधानता और स्त्रियोंमें रजकी प्रधानता रहनेसे और पुरुष वीर्यदाता होनेसे उपासना सम्बन्धसे अन्यकी अपेक्षा पुरुषकी कोटिकी विशेषता विशेष मानी जायगी। ओषधि-प्रधान अन्न जब सात्त्विक होता है तभी उससे उपासना उपयोगी सात्त्विक मन बनता है सात्त्विक मनयुक्त पुरुष ही उपासनाधिकारको प्राप्त होता है। पुरुषसे वाक्‌की विशेषता है। शब्दोच्चारण जो वीर्य और प्राणसे सम्बन्ध रखता है उस शक्तिकी पूर्णता पुरुषमें ही हो सकती है। शब्दोत्पत्तिका विज्ञान जो व्याकरणशास्त्रसे सिद्ध है और स्वरोत्पत्तिका विज्ञान जो संगीतशास्त्रसे सिद्ध है, दोनोंके द्वारा पुरुषका उपासना सहायक वाक्याधिकार होनेमें सर्ववादी सम्मत है पुरुषमें वाक्याधिकार तथा शब्दाधिकार यथेष्ट है। यही कारण है कि वेदका अधिकार केवल पुरुषको-ही है और संगीतोक्त-त्रिसप्तकका अधिकार केवल पुरुषमें ही पाया जाता है। फलतः पुरुषमें ही श्रेष्ठ वाक्यका अधिकार होना सम्भव है। वाक्यमें वेद-

वाक्यकी ही श्रेष्ठता सर्वतन्त्र सिद्धान्त सिद्ध है। वेदके महत्त्वके सम्बन्धमें पूर्व ही बहुत कुछ कहा गया है। वाच्य-वाचक सम्बन्धसे ही उपासक उपास्यका सान्निध्य प्राप्त होता है। यही कारण है कि भावमयरूपको शब्दमय मन्त्र प्राप्त करा देते हैं। प्रणवविज्ञान इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। सुतरां उपासनामें शब्दमयवाक्यकी उपयोगिता सिद्ध हुई। और वेदकी उपासनामें प्रधान सहायक होना तो सर्ववादीसम्मत है। क्योंकि वेदशब्द ब्रह्मरूपी भगवत् वाक्य ही है। भगवद्वाक्योंके अवलम्बनसे भगवान्की प्राप्ति होना अवश्य सम्भावी है। वेदमें सामवेद श्रेष्ठ है श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है, 'वेदानां सामवेदोस्मि' कारण यह है कि उपासनाकाण्डके अधिकार प्राप्त करानेमें सामवेद सर्वप्रधान है, इसी कारण सामवेदका विस्तार भी सबसे अधिक है। सामवेदमें उपासना अवलम्बनके विचारसे उद्गीथ परमसहायक और परमश्रेष्ठ है। सुतरां उद्गीथ उपासनाकोटिमें अष्टम स्थान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्थानमें अधिकार किये हुये हैं। गायनशैली दो भागमें विभक्त है। एकको देशी और दूसरेको मार्गी विद्या कहते हैं। आर्य्यसंगीतकी जितनी शैलियाँ जगत्में प्रसिद्ध हैं वे सब देशी विद्याके अन्तर्गत हैं। मार्गी विद्याके द्वारा उद्गीथका साधन किया जाता है। जीवात्मा देही पञ्चकोषसे आवृत्त है। पञ्चकोष अतीत परमात्माका अनुभव है। परमात्माकी सान्निध्य प्राप्तिके सब प्रकारके साधनोंको उपासना कहते हैं। संगीतशास्त्रके सप्तस्वर प्राणकी सहायतासे अन्नमयकोषसे उत्पन्न होकर आनन्दमयकोषमें लयको प्राप्त होते हुये ब्रह्मशक्ति महामाया-

में लय होकर ब्रह्ममें लय हो जाता है। उद्गीथके अवलम्बन द्वारा प्रथम उपासकका अन्तःकरण शब्दब्रह्मरूपी वेदवाक्यमें आश्रय प्राप्त होता है और उसके अनन्तर शब्द विज्ञानमय उद्गीथ स्वर-विन्यासकी सहायतासे एकवार ही आनन्दमयकोषमें पहुँच जाता है और विना अष्टांगयोगकी सहायता प्राप्त किये ही समाधिस्थ हो जाता है। गुरुकृपासे इस आश्रयशैलीके दृढ़ होनेपर साधकको उपासनाके उच्चतर अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। केवल उद्गीथका यथानियम और यथाक्रम अभ्यास और श्रद्धापूर्वक उसमें मनःसंयोग तथा लक्ष्य स्थान निर्णयकी ही आवश्यकता रहती है ॥११६॥

अब तीसरा वैदिकभेद कहा जाता है :—

वह सामके उपासना द्वारा होती है ॥११७॥

प्रथम प्रणवकी सहायतासे उपासनाका वर्णन करके उसके अनन्तर उद्गीथकी सहायतासे उपासनाप्रणालीका विज्ञान कहा गया है। और उसके अनन्तर अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार सामगायन शैलीकी सहायतासे उपासनाका सम्बन्ध प्रतिपन्न कर रहे हैं। षडज ऋषभ आदि सप्तस्वर ओंकारके ही विभाग हैं। जैसे एक प्रकृतिसे सप्तविध सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक अद्वितीय ओंकारसे संगीतके सप्तस्वर प्रकट होते हैं। उद्गीथमें सप्तस्वरकी प्रधानता है। क्योंकि उद्गीथ मार्गीनामक संगीतविद्याके अवलम्बनसे गाया जाता है। इसी कारण प्रणव उपासनाके अनन्तर प्रणवका

सामोपासनतः ॥११७॥

विस्तार उद्गीथ होनेसे प्रणव उपासनाके अनन्तर उद्गीथ उपासना-का वर्णन किया गया है। उद्गीथका विस्तार सामोपासनामें है। क्योंकि प्रणवमें एक अवलम्बन, उद्गीथमें सप्तस्वरोंका अवलम्बन है और सामोपासनामें अनेक स्वरविन्यास तथा शब्दमयभावका अव-लम्बन पूर्णरीत्या रहती है। प्रणवसे उद्गीथमें विस्तार है और उद्गीथसे साममें अधिक विस्तार है। उपासनाविज्ञानके अनुसार तीनोंही उपयोगी होने परभी अवलम्बनके तारतम्यसे वर्णनमें पूर्वापर विचार किया गया है। सामके रहस्यके विषयमें वेदोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। उनमेंसे कुछ कहा जाता है यथा :—

ॐ सामस्तस्य खलु साम्ना उपासनाꣳ साधु यत्खलु साधु तत्स-मेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति। तदुताप्याहुः साम्नैनमुपगादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः॥ अथोताप्याहुः सामनोवतेति यत्साधु भवति साधु वदेत्येव तदाहुरसामनो वतेति यदसाधुभवत्यसाधुवदे-त्येव तदाहुः॥ स एतदेवं विद्वान् साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो धर्मा आचगच्छेयुरुपचनमेयुः॥

इसका तात्पर्य यह है कि सामके द्वारा उपासना ही श्रेष्ठ है और सामविहीन उपासना असाधु है। साधुसामके द्वारा ही परमात्मा प्राप्त होते हैं। असाम अर्थात् सामहीन उपासनाके द्वारा नहीं प्राप्त होते। साम ही साधु है असाम असाधु है। जो विद्वान् सामकी इस प्रकार महिमा जानकर उपासना करते हैं उनको साधुधर्मकी प्राप्ति होती है तथा साधुधर्मके द्वारा उनका सत्कार होता है।

वेदमें इस सामकी उपासना नानाप्रकारसे बतलाई गयी है--यथा

"वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत् पुरोवातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः उद्गृह्णाति तन्निधानम्"

"सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत् मेघो यत् सम्प्लवते सहिङ्कारो यो वर्षति स प्रस्तावो याः प्रच्यः स्पन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्"

"ऋतुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत् वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मप्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधानम्"

वृष्टिमें पाँच प्रकारकी सामोपासना होती है जिसमें पूर्वका वायु हिङ्कार है, मेघ प्रस्ताव है वृष्टि होना उद्गीथ है और विजली प्रकाश और गर्म प्रतिहार है तथा उस वृष्टिके वाष्पके द्वारा पुनःपुनः ऊपर जाना निधन है। सकल प्रकारके जलमें पाँच प्रकारकी सामोपासना होती है उसमें मेघ हिङ्कार है जो वर्षता है वह प्रस्ताव है पूर्वपवन उद्गीथ है, पश्चिमपवन प्रतिहार है और समुद्र निधन है। इसी प्रकार ऋतुमें भी पाँच प्रकारकी सामोपासना होती है। उसमें वसन्त हिङ्कार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है। इसी प्रकारसे पशुओंमें, प्राणोंमें, वाक्यमें, आदित्यमें, गायत्री आदिमें सामोपासना करनेकी विधि वेदमें बतायी गई है। इस प्रकारके अनेक उदाहरण वेदोंमें है क्योंकि वेदोंमें वर्णनशैलीका अद्भुत वैचित्र्य है। अनुलोम प्रतिलोम उभयरूपसे सामकी समतादृष्टि संपन्न करनेके उदाहरणमें एक श्रुति दी जाती है।

लोकेषु पञ्चविधᳩ सामोपासीत् पृथिवी हिंकारः। अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमिध्वेंषु।

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम्।

अर्थात्—पृथिवी आदिमें पाँच प्रकारसे सामोपासना होती है उसमें पृथिवी हिङ्कार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है, स्वर्ग निधन है। जैसे प्रत्येक वस्तुका त्रिभावात्मकस्वरूप होना वेदविहित सिद्ध है उसी प्रकार स्वर्गका प्रत्येक वैभवका भी सामविज्ञानके अनुसार पञ्चधा या सप्तधा होकर सामके दृष्टिसे प्रतिष्ठित होना वेदानुकूल है। वर्णनवाहुल्यके कारण अधिक श्रुति नहीं दी गई।

सामवेदकी सामशिक्षाके अनुसार सप्तस्वरके अवलम्बनसे शब्दमयस्वरूपमें प्रकट करके उपासना करनेकी जो शैली पूज्यपाद महर्षियोंने प्रकट की है, उसमें प्रधानतः पाँच विभाग और कहीं कहीं सात उच्चारण विभाग माने गये हैं। ये गायनशैलीके त्रिभाग गभीर विज्ञानयुक्त हैं। सात विभाग यथा—हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ प्रतिहार, उपद्रव और निधन। सामकी उपासनाविधिमें शेषोक्त पाँच प्रकारकी अधिकारशैलीको ही ग्रहण किया गया है क्योंकि पाँचभौतिक सृष्टिमें पञ्चभेदात्मक अधिकार ही सुविधाजनक है। इसी कारण सामोपासनामें जो उपासनाकी धारणामें बाँधी गयी हैं वे प्रायः पञ्चभेदात्मक ही बाँधी गयी हैं जैसा कि ऊपरके मन्त्रोंसे प्रकट है। जैसे दृश्य प्रपञ्चमय यह संसार ब्रह्मसे उत्पन्न होता है

और पुनः ब्रह्ममें ही लय होता है। यद्यपि अध्यात्म सृष्टि अनादि अनन्त है परन्तु ब्रह्माण्डमयी अधिदैवसृष्टि और पिण्डमयी अधिभूतसृष्टि सादिसान्त होनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि यह संसार एक अद्वितीय ब्रह्ममें जलमें जब बुद्बुद्के समान उत्पन्न होता है और पुनः उसीमें लय होता है। जिस प्रकार मनुष्यपिण्ड प्रकृति पुरुषात्मक सम्बन्धसे उत्पन्न होकर बाल्य, यौवन और जराकी दशाओंमें होता हुआ अन्तमें प्रकृतिपुरुषात्मक सृष्टिचक्रमें अदृश्य हो जाता है, उसीप्रकार उपासना उपयोगी सामसृष्टि हिङ्कार, प्रस्ताव उद्गीथ, प्रतिहार और निधन, इन पञ्चविध अवस्थाओंको प्राप्त होकर उपासकको स्वस्वरूपकी प्राप्ति कराता है। हिङ्कारमें स्वरोत्पत्ति होकर प्रस्तावमें विस्तारको प्राप्त होता हुआ उद्गीथमें पूर्णस्वरूपकी प्राप्ति करके प्रतिहारमें भावावेश उत्पन्न करके निधन दशामें अन्तःकरणकी लयावस्था उत्पन्न करता है। अन्तःकरणकी विलयदशामें समाधि उत्पन्न करके भगवत्साक्षात्कारका कारण बनता है। प्रणव उपासनामें केवल एक तत्त्वकी साक्षात् सहायता, उद्गीथ उपासनामें स्वरकी सहायतासे एकतत्त्वकी सहायता प्राप्ति और सामोपासनामें स्वर और भावकी सहायतासे एकतत्त्वकी सहायता प्राप्ति हुआ करती है यही इस विज्ञानका रहस्य है। अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत भावोंका विस्तारित वर्णन पूर्वमें आ चुका है। उन्हीं तीनों भावोंमेंसे जब अध्यात्म लक्ष्यमें अनन्यता होती है तभी एकतत्त्वकी प्राप्ति द्वारा अन्तःकरणमें समाधिभूमिकी जागृति हो जाती है। और यही श्रेष्ठतम अवस्था भगवत्साक्षात्कार और

मुक्तिका कारण है। अध्यात्मलक्ष्य प्रधान होनेसे संन्यास-आश्रम सब आश्रमोंका गुरु और मुक्तिप्रद है और अध्यात्मलक्ष्य प्रधान होनेसे त्रिविध शुद्धियुक्त ब्राह्मण त्रिलोकपूज्य माना गया है। जिस साधनशैली द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्रतिष्ठा हो सके वह साधन उपासनामार्गका परमसहायक है इसमें सन्देह नहीं। इस सूत्रोक्त साम उपासनाद्वारा उपासक अपने हृदयमें एकतत्त्वयुक्त अध्यात्म-लक्ष्यकी प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ हो जाता है। सामगानमें जो हिङ्कार आदि गानशैलियाँ पूज्यपाद महर्षियोंने आविष्कार किया है, वे सब स्वस्वभाव-प्राप्ति मूलक हैं। दूसरी ओर सामवेदमें जो उपासनाके लिये मन्त्र हैं, वे सब अध्यात्मभावसे पूर्ण हैं। सामवेदका विस्तार सबवेदोंसे अधिक है इस कारण वर्णनप्राचुर्य भी यथेष्ट है। सहस्रशाखासे युक्त सामवेद अनेक प्रकारसे भगवद् उपासनामें तत्पर है। इसी विचारसे उक्त अनेक वर्णनशैली तथा सामगान वैचित्र्यको एक अध्यात्मभावमें परिणत करके भगवद् उपासनाका मार्ग सरल किया गया है, उसीका विज्ञान यह सूत्र प्रकाशित करता है। ब्रह्मका स्वभाव ही अध्यात्म कहाता है उसी प्रकार सर्गके प्रत्येक विभागका जो स्वभाव है वह भी अध्यात्म कहाता है। सर्गके प्रत्येक विभागमें भावशुद्धि द्वारा उसी अध्यात्मतत्त्वके अनुसरण करनेसे ही स्वभाव-की प्राप्ति होती है और स्वभावके अनुसरणसे ही भगवत् साक्षात्-कार हुआ करता है। हिङ्कारसे उत्पन्न होकर विचित्र स्वरूपमय सामगान निधन आश्रयद्वारा स्वस्वरूपमें लय होता है। उसीका ठीक-ठीक अनुसरण करनेसे स्वभावकी प्राप्ति होती है। दूसरी

और सर्गके प्रत्येक विभागमें जिस भावके अवलम्बन द्वारा सामोपासना की जाय उन अवलम्बनोंमें अध्यात्मभावाश्रयद्वारा स्वभावकी प्राप्ति करना ही सामोपासनाका सर्वोत्तम विज्ञान है। उदाहरणकी सहायतासे इस विज्ञानको समझानेके लिये अनुलोम और विलोम दोनों प्रकारसे सामकी इस उपासनाशैलीके अलौकिक रहस्यका दिग्दर्शन कराया जाता है। पृथिवी, अग्नि, अन्तरीक्ष, आदित्य और स्वर्गके अनुलोमसे और स्वर्ग आदित्य अन्तरीक्ष अग्नि और पृथिवीके विलोम रीतिसे हिङ्कार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधनरूपसे भावशुद्धिद्वारा अध्यात्मतत्त्वमूलक स्वभावको लक्ष्य कराने योग्य है। पृथिवी कर्मभूमि, अग्निसे कर्म, अन्तरीक्षमें स्थिति, आदित्यतेजसे ऊर्द्ध्व आकर्षण और स्वर्गसे क्रमोन्नतिकी लोकप्राप्ति समझने योग्य है। दूसरी ओर स्वर्गसे आदित्यरश्मिकी सहायतासे पुनरावृत्ति, अन्तरीक्षके आश्रयसे आगमन पुनः कर्मका आश्रय और तदनन्तर कर्मभूमि पृथिवीमें पुनः कर्मकरके उन्नत होनेका अवसर मिलना, यही आवागमनचक्रद्वारा स्वभावसिद्ध क्रमोन्नति है यही लोक गमनागमनका स्वभाव है। सर्गके प्रत्येक पदार्थमें जब इस प्रकार स्वभावसिद्ध भाव भक्त देखनेमें समर्थ होता है तब उसकी आध्यात्मिक दृष्टि दृढ़ हो जाती है। वेदमें सर्गके वैभवों तथा नानाशक्तियोंके अवलम्बनद्वारा जो नानावैचित्र्यमय उपासनाप्रणाली और वर्णनशैली अवलम्बन की गई है, उसको देखकर अविज्ञगण विमोहित होते हैं और कोई-कोई सन्देह करते हैं कि वेदोंमें ऐसी छोटी बातोंका समावेश है। परन्तु जब सामो-

पासनाका यह गम्भीर रहस्य, समताका यह अलौकिक विज्ञान स्व-स्वभावका सब समय उपलब्धि करके मुक्तिका पथ सरल करनेका सरल मार्ग और एकतत्त्व तथा समाधि-प्राप्तिका सहज उपाय जब देखनेमें आता है तब किसीको शंका करनेका अवसर ही नहीं रहता है। सब स्थलोंमें अध्यात्मभावको स्थायी रखनेके लिये जो समदृष्टि है वही साम है। यही सामदृष्टिसे वेदपूर्ण है। प्रत्येक श्रुति त्रिभावात्मक होनेपर भी त्रिविध अधिकारीकेलिये वेद नियुक्त होने पर भी यही समदृष्टि उत्पन्न करना ही वेदकी आज्ञा है। यही उपासना का सुगम मार्ग है, यही सामोपासना है। प्रत्येक यज्ञकर्ममें ऐसे ही अध्यात्म दृष्टिसे स्वस्वभावकी प्राप्ति होती है और ऐसी दृष्टिके द्वारा एकतत्त्वकी सहायतासे भगवत्साक्षात्कारका मार्ग सरल हो जाता है। और इसी प्रकारसे सर्गके सब वैभवोंमें अनुलोम प्रतिलोमरूपसे स्वभावदृष्टिही साम है और अन्यप्रकारकी अस्वाभाविक दृष्टि असाम है। साम भगवत्साक्षात् कराता है और असाम भगवत्-सान्निध्यसे च्युत कराता है। ११७

अब चौथा वैदिक उपासनाका विज्ञान कहा जाता है :—

वह पुरुषकी धारणा द्वारा होता है ॥ ११८

योगशास्त्र-कथित संयमकेद्वारा विषयका यथार्थ स्वरूप निर्णय और एक तत्त्व अभ्यासद्वारा परमात्माके स्वरूपकी उपलब्धि

पुरुषधारणातः । ११८

होना विज्ञानसिद्ध है। धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनोंका एक साथ एक विषयमें उपयोग करनेसे संयमका उदय होकर उस अतिन्द्रिय विषयका बोध हो जाता है। परन्तु चाहे किसी प्रकारसे हो एक तत्त्वका उदय अन्तःकरणमें होनेसे अवश्यही परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। पुरुषधारणा इसीका सहायक है।

छान्दोग्योपनिषद्में इसप्रकार धारणाके द्वारा उपासनाके विषयमें प्रमाण मिलता है।

"स एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि स एवाहमस्मि इति"

अर्थात् आदित्यमें जो पुरुष देखते हैं वह ब्रह्मही है। चन्द्रमामें जो पुरुष दिखते हैं वह ब्रह्मही है और विद्युतमें जो पुरुष देखते हैं, वह ब्रह्मही है। इस प्रकारसे आकाशपुरुषमें, वायुपुरुषमें, अग्नि-पुरुषमें, जलपुरुषमें, आदर्शपुरुषमें, दिग्पुरुषमें तथा छायापुरुष आदिमें भी धारणा करनेकी विधि वृहदारण्यकोपनिषद्में पायी जाती है।

इस प्रकारसे वेदमें केवल अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस साधन-का रहस्य यह है कि केवल प्रतिचिन्तामें उपासक यदि एक अद्वितीय परमपुरुषकी धारणा रख सकें और उसकी सहायतासे अपने अन्तः करणको परमात्माकी ओर एकतत्त्वसे युक्तकर सके तो इस साधनकी सिद्धिमें सब समय और सब ओर एकतत्त्वयुक्त परमात्माकी धारणासे भगवत् सान्निध्य प्राप्तकरके उपासनाका चरमफल लाभ कर सकता है,

ये सब राजयोग प्रणालीकी ही उपासना है। राजयोगप्रणालीका विस्तारित वर्णन पहलेही आ चुका है। श्रुति कहती है—

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो देवः तस्मै सर्वात्मने नमः॥

अतः परमपुरुष परमात्मा सबके आदि अन्त और मध्यमें विराजमान हैं ही इस अद्वैतज्ञानमूलक ऐशी पराभक्तिका उदय जब उपासकमें हो जाता है तो वह भाग्यवान् उपासक अपने एकतत्त्वमय पुरुषधारणा द्वारा सब विषयमें अपने प्रियतम इष्टदेवके दर्शन करनेमें सदा समर्थ हो सकेगा, इसमें सन्देहही क्या है। प्रथम वाक्यद्वारा, तदनन्तर मनद्वारा और तदनन्तर बुद्धिद्वारा क्रमशः इस धारणाकी द्धि की जाती है। अवश्यही सर्वोत्तम साधनभी गुरुलक्ष्य गम्य है।११८

अब पञ्चम वैदिक उपासनाका वर्णन करते हैं—

वह ब्रह्मधारण द्वारा होता है॥११९॥

वेदमें मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग चारो योग शैलीकी उपासनाओंका वर्णन पाया जाता है। परन्तु उपनिषदोंमें प्रायः जो उपासनाके रहस्य वर्णित हैं, वे लय और राजयोग या उभय मिश्रित अथवा राजयोगशैलीके अनुरूप देखनेमें आते हैं। उन्हींमें से कुछ प्रधान प्रधान शैलीका रहस्य उद्‌घाटन करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इन सूत्रोंका आविर्भाव किया है। प्रथम

सा ब्रह्मधारणातः॥११६॥

तीन शैली लययोग और राजयोग मिश्रित साधनके हैं। इस सूत्रसे पहलेकी शैली तथा यह शैली राजयोगविज्ञान सम्मत है। कार्य-ब्रह्मके अवलम्बनसे कारणब्रह्मका स्वरूप प्राप्त करना इस शैलीका रहस्य है।

इस विषयमें छान्दोग्योपनिषद्‌में प्रमाण हैं—

"मनोब्रह्मे त्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो - ब्रह्मे त्युभय-मादिष्टं भवत्यध्यात्मञ्चाधिदैवतञ्च" तदेतच्चतुष्टयाद्‌ब्रह्मवाक्याद् प्राण-पादश्चक्षुपादः श्रोत्रं पाद इत्याध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यःपादो दिशः पाद इत्युभयमेवानिर्दिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च।" वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च "प्राण एव ब्रह्म ब्रह्म चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च" "चक्षुर्ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च" श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भि-र्ज्योतिषा भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद"

अर्थात्—मनमें ब्रह्मकी धारणा करके उपासना करनी चाहिये। मनही ब्रह्म है यह अध्यात्म धारणा है, आकाश ब्रह्म है, यह अधिदैव धारणाका आदेश किया है। मनरूप अध्यात्म ब्रह्मके चार पाद हैं यथा अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें। इस प्रकारसे अध्यात्म, अधिदैव उभयविध ब्रह्मका चतुष्पाद निर्देश किया गया है। वाक् ब्रह्मका चतुर्थ पाद है। वह अग्नि और ज्योतिके द्वारा दीप्तिमान् होता है। उसमें भी ब्रह्मधारणा की जाती है। प्राण ब्रह्मका चतुर्थपाद

है वह वायु और ज्योतिके द्वारा प्रकाशित होता है। उसमें भी ब्रह्म-धारणा की जाती है। चक्षुःब्रह्मका चतुर्थपाद है वह आदित्य और ज्योतिके द्वारा उज्ज्वल होता है उसमेंभी ब्रह्मधारणा की जाती है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदिमें इसप्रकार धारणाके रहस्यको जो जानते हैं, उनको ब्रह्मतेज तथा निर्मल यशकी प्राप्ति होती है।

कारणब्रह्मस्व स्वरूपके आश्रयसे ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक कार्यब्रह्म प्रकट है। समष्टि-व्यष्टिरूपसे वह कार्यब्रह्मकी सृष्टि चतुर्विंशति तत्त्वात्मक है। यदि चतुर्विंशतितत्त्वके हिसाबसे देखा जाय तो मनही सब इन्द्रियोंका राजा है। अहंतत्त्व महत्तत्त्व, और मूल-प्रकृतिका अनुभव समाधिस्थ योगीही कर सकते हैं, साधारण रीति-पर मनकाही अनुभव सब समय रहता है। अतः जो तत्त्व सदा सन्मुख रहता है उसीके अवलम्बनसे उपासना करना सुविधा-जनक है। दूसरी ओर मनही जीवके बन्धन और मुक्तिका कारण होनेसे और मन सृष्टिधारक इन्द्रियोंके राजा होनेसे सर्गमें मन अध्यात्म है और ब्रह्मकी व्यापक धारणाके लिये आकाशही प्रधान अवलम्बन होनेसे तथा दूसरी ओर आकाशमेंही स्थूल-प्रपञ्चकी स्थिति होनेसे आकाश अधिदैव है। सुतरां इस विज्ञानको अवलम्बन करके कभी मनमें ब्रह्मधारणा और कभी आकाशमें ब्रह्म-धारणा करते रहनेपरभी साधक तत्त्वातीत और पञ्चकोशातीत अद्वि-तीय ब्रह्मतक अपने अन्तःकरणको लेजाकर स्वस्वरूपका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकता है। परन्तु ऐसा अभ्यास निरन्तर होना

चाहिये। स्थूल सृष्टिके साथ अन्तःकरणका सम्बन्ध स्थापन करनेके लिये प्रधानतः प्राण, वाक्, चक्षु और श्रोत्र ये ही चार विशेष सहायक हैं। इसी कारण मनके यही चार पाद हैं। इन पादोंके अवलम्बनसेही मनमें ब्रह्मधारणा स्थापन करनेकी बहुतही सुविधा हो सकती है। हर समय मनमें ब्रह्म-धारणा सम्भव नहीं है, क्योंकि मन विषयाकार हो जानेसे साधकके साधनलक्ष्यको भूला दे सकता है। ऐसी दशामें इन पादोंके अवलम्बनसे उपासककी साधना स्थिर रह सकती है। जब मन विह्वल हो तो प्राणक्रिया, वाक्, प्रकृतिके यावत् दृश्यके अवलम्बनसे साधक अपनी धारणाशक्तिको बढ़ाता हुआ मन-ब्रह्मके अवलम्बनसे अपने अन्तःकरणको ऊर्द्ध्व रखता हुआ भगवत्पदारविन्दमें पहुँच सकता है।

उसी प्रकार आकाश-ब्रह्ममें जब ब्रह्मधारणा की जाय और उस समय यदि उस धारणामें बाधा हो तो पूर्वकथित आकाशके चार पादोंके अवलम्बनसे साधक अपने अन्तःकरणको ऊर्द्ध्व रखकर सर्वव्यापक आकाशमें ब्रह्मधारणा करता हुआ अपने अन्तःकरणको भगवत्पदारविन्दमें पहुँचा सकता है। कीटभृङ्गन्यायके अनुसार साधकका ब्रह्मधारणायुक्त ऊर्द्ध्वगामी अन्तःकरण कालान्तरमें ब्रह्म-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है। आकाशके स्वरूप अनुभव करनेमें आकाशव्यापी अग्नि अर्थात् व्यापक तडित्शक्ति, आकाशमें सहज रीतिसे अनुभव होने योग्य वायु, सूर्य्यदेव और दिशायें, ये चारों परम सहायक हैं। इस विषयमें इन चारोंकी शक्तियों अति-सुगम रीतिसे ही अनुमेय हैं। इसी प्रकारसे वेदोंमें इन पादोंके

सम्बन्धसे जो और तत्त्वोंका वर्णन किया गया है, वे भी इसी प्रकारसे ब्रह्मधारणामें सहायक हैं। स्मृतिमें कहा गया है कि:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

अर्थात् मनको आत्मविचाररूप बुद्धिद्वारा उद्धार करे और मनको कदापि नीचे गिरने न दें। इसी विज्ञानके अनुसार जहाँ जहाँ मन जाय वहाँसे मनमें ब्रह्मधारणा करके मनको ब्रह्मपदकी ओर खैंचना ही इस साधनका रहस्य है और इस साधनमें मन और आकाश ये ही दोनों प्रधान अवलम्बन उपासनाके कारण माने गये हैं। ११९॥

अब षष्ठ वैदिक उपासना वर्णन करते हैं :—

वह व्याहृतिके सम्बन्धसे होती है ॥१२०॥

वेदमें अनेक प्रकारकी धारणाओंके अवलम्बनसे ब्रह्मोपासना करनेकी विधि है।

उनमेंसे प्रधान प्रधान विधि अवलम्बन करके उनके विज्ञानका रहस्य उद्घाटन करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इन सूत्रोंका आविर्भाव किया है। ये सब साधन विज्ञान राजयोग मूलकही हैं। राजयोगनिष्णात गुरुदेव ही इन सब साधनोंकी क्रिया एवं सिद्धान्त ठीक ठीक बता सकते हैं। व्याहृतिके अवलम्बनसे साधनके विषयमें ऐसा प्रमाण मिलता है :—

"भूर्भुवः स्वरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतय." "भूरिति वा अयं-

व्याहृतिसम्बन्धतः ॥१२०॥

लोकः भुव इत्यन्तरिक्षं स्वरित्यसौ लोकः" "तथावेद स वेदब्रह्म। सर्वस्मै देवा बलिमावहन्ति" भूर्भुवः स्व, ये तीन व्याहृतियाँ हैं। जिसमें हम रहते हैं, वह भूलोक है। अन्तरिक्ष भुवर्लोक है और उसके बाद तृतीय स्वर्लोक है। इन तीन व्याहृतियोंको जो जानते हैं वह ब्रह्मको जानते हैं। देवतागण भी उस श्रेष्ठ पुरुषकेलिए बलि आहरण करते हैं। सप्त व्याहृतिके अवलम्बनसे प्राणायाम करनेकी विधि सन्ध्याके साधन-प्रयोगमें इस प्रकारसे पाया जाता है कि गायत्री उपासनामें प्रणवके योगसे ओंभूः, ओंभुवः, और स्वः, इन तीन व्याहृतियोंका सम्बन्ध रखकर उपासनाकी विधि वेदोंमें पायी जाती है।

सन्ध्या प्रयोगमें ये सब साधारण विधि है। इस कारण विशेष प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। नित्य सन्ध्योपासनमें इन दोनों तरहके प्रयोग सदा आते हैं। ऊर्द्ध्वसप्तलोकोंका वर्णन पहले ही आ चुका है। भूलोकके चार विभागोंका एक विभाग यह मृत्यु लोक है। इसी भूलोकमें इस भूलोकका ऊर्द्ध्वलोक पितृलोक भी है। प्रथम तीन लोक भूः, भुवः, स्वः साधारण ऊर्द्ध्व लोक हैं। इन्हींसे प्रायः ऊर्द्ध्वगामी जीवोंका सम्बन्ध अधिक रहता है। बाकी चार विशेष ऊर्द्ध्वलोक हैं। अन्तिम सप्तमलोक मुक्तिप्रद है, वही ब्रह्मस्थान माना जाता है। इन्हीं सातो लोकोंसे सम्बन्ध रखकर इन सातों व्याहृति मन्त्रोंकी सृष्टि हुई है। प्रणवसेतु रूपसे इन व्याहृति मन्त्रों के साथ युक्त है। गायत्री उपासना वस्तुतः ब्रह्मोपासना ही है और गायत्री उपासनाका महत्त्व सर्वोपरि है। अतः गायत्रीमन्त्रके

साथ तीन व्याहृतियों और गायत्री सम्बन्धसे प्राणायाम साधनके साथ सात व्याहृतियोंका योग पाया जाता है तो इस विज्ञानके महत्त्वमें और कोई सन्देह ही नहीं है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि अन्तः-करणकी ऊर्द्ध्वगति जिस साधनके द्वारा नियमित स्वस्वरूपकी ओर बनी रहती है, वही साधन सर्वोत्तम है। सप्त ऊर्द्ध्वलोक विज्ञानयुक्त सप्तव्याहृतियोंकी धारणा अन्तःकरणमें रखकर ब्रह्मोपासना करते रहनेपर साधकका अन्तःकरण क्रमशः सर्वव्यापक ब्रह्म तेजसे आकृष्ट होकर विष्णुके परमपदमें पहुँच जाता है। तीन व्याहृति और सात व्याहृतिका रहस्य यह है कि तीनसे भी ब्रह्म तेजकी सहायता मिल सकती है और सातसे भी मिल सकती है। तीनमें सुगमता है और फल प्रायः समान ही है।

इस कारण तीनका सम्बन्ध गायत्रीमन्त्र तथा संन्यासमन्त्र आदि अनेक स्थलोंमें पाया जाता है। प्रणवमन्त्र जिस प्रकार मन्त्रोंका सेतु है, अर्थात् सेतु जिस प्रकार मार्गकी नदी आदिके स्थानोंमें सरल कर देता है, उसी प्रकार प्रणव अन्यमन्त्रोंके नाना विघ्नोंको दूर करके उसके अधिदैवगतिको सरल कर देता है, उसी प्रकार व्याहृति मन्त्रसमूह अन्तःकरणकी गति और अन्य मन्त्रोंकी स्थितिको स्वस्वरूपकी ओर ऊर्द्ध्वगामी करते हैं। १२०॥

अब सप्तमवैदिक उपासनाका वर्णन करते हैं :—

वह पञ्चकोषके अवलम्बनसे होती है ॥१२१॥

सा पञ्चकोषावलम्बनतः ॥१२१॥

पञ्चकोष समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है। दूसरी ओर सहजपिण्ड, मानवपिण्ड और दैवपिण्डरूपी इन तीनों श्रेणीके पिण्डोंमें ही पञ्चकोष विद्यमान है। एक हस्तीमेंभी पञ्चकोष है परन्तु सब कोष विकसित नहीं है। मनुष्यके पञ्चकोष और देवताओंके कोषोंमें भेद इतनाही है कि मनुष्यके कोषोंसे देवताओंके कोषोंमें दैवीशक्ति अधिक विद्यमान है। वस्तुत: कोष सब स्थानोंमें एकही प्रकारके हैं साधक यदि इन कोषोंपर आधिपत्य कर सके तो सब दैवीशक्तियोंको प्राप्त कर सकता है, अपने अन्तःकरणको ऊर्द्ध-लोकोंमें पहुँचा भी सकता है, अधिकन्तु विष्णुपरमपदमें भी पहुँच सकता है। इस कारण पञ्चकोषावलम्बनसे ब्रह्मधारणा मुक्तिप्रद है। पञ्चकोषके अवलम्बनसे धारणाके विषयमें उपनिषदोंमें लिखा है :—

"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" अन्नादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। "अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" "प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" "प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणे प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" "मनोब्रह्मेति व्यजानात्" मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" मनसा जातानि जीवन्ति" मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" "विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्" विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" "विज्ञानेन जातानि जीवन्ति"विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। "आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति" "आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति"

अर्थात्—अन्न ही ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये। अन्नसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है, अन्नके द्वारा ही स्थिति होती है और अन्नमें ही लय होता है। इसी प्रकार प्राण ही ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये। प्राणसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है और प्राणकेद्वारा स्थिति होती है और प्राणमें लय होता है। मन ही ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये। मनसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है और मनमें ही लय होता है। विज्ञान ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये विज्ञानसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है, विज्ञानसे ही स्थिति होती है और विज्ञानमें ही लय होता है। आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये। आनन्दसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आनन्दके द्वारा भूतोंकी स्थिति होती है, आनन्दमें ही लय होता है।

एक पिण्डमें प्रत्येक कोषोंके साथ उस पिण्डके आत्माका जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वही घनिष्ठ सम्बन्ध उक्त पिण्डके कोषोंसे उस पिण्डके आत्माको आवृत्त करनेमें सहायक होता है। अतः प्रत्येक पिण्डपर अभ्यासजनित पञ्चकोषोंमेंसे प्रत्येक कोषका जो प्रभाव है, योगयुक्त बुद्धिद्वारा उस प्रभावको साधक जितना कम कर सकेगा उतना ही वह साधक एक पिण्डसे दूसरे पिण्डमें अथवा एक लोकसे लोकान्तरमें अपने अन्तःकरणको पहुँचा सकेगा। यही कारण है कि उपासनामें तत्पर भक्तकी, मनोवृत्ति तुरन्त ही देवलोकके देवताओंको विदित हो जाती है। ऋषिभक्त, देवभक्त अथवा पितृभक्त साधक अपने मनोमयकोषमें उन अधिदैव शक्तियोंमेंसे किसीकी धारणा करते ही भक्तके मनोमयकोषकी छाया उक्त-

देवताओंके मनोमयकोषमें पहुँचकर साधकको अपने उपास्यका सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि साधक यदि योगी हो तो अपने योगयुक्त पञ्चकोषोंके अवलम्बनसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म देवलोकमें अन्तःकरणसे पहुँचकर यथायोग्य कर्म कर सकता है। जब पञ्चकोषोंके संकोच और विकाशके भेद जाननेसे पञ्चकोषोंपर आधिपत्य करनेकी योगशक्ति पैदा करनेसे और उनकी सहायतासे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊर्द्ध्वलोकोंमें पहुँचकर योगी ऐसे कार्य कर सकता है तब पञ्चकोषोंमें यथाक्रम ब्रह्मधारणा करते हुये उनके स्वरूपको जानकर उनपर यथाक्रम आधिपत्य करके पञ्चकोषातीत परमपदमें योगिराज योगीका पहुँचना सम्भव ही है ऐसा विज्ञान सिद्ध है। पञ्चकोषरूपी कार्य्यब्रह्ममें ब्रह्मधारणा करके विराट् ध्यानकी सहायतासे कार्यकारणकी एकता करते हुये योगिराज स्वस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है ॥१२१॥

अब अष्टम वैदिक उपासनाका वर्णन किया जाता है :—

वह कारणप्रतिष्ठा योगसे भी होता है ॥१२२

योगके आठ अङ्ग है। यम नियम आदि चार बहिरङ्ग और प्रत्याहार धारणादि चार अन्तरंग हैं। ये सब उपासनाके शरीररूप हैं यह पहलेही कहा गया है। अन्तरङ्गोंमें प्रत्याहारभूमि केवल साधकको बहिर्जगत्से हटाकर ब्रह्मसाक्षात्कारकेलिये अन्तर्मुख करता है उसके अनन्तर धारणाभूमिसे ब्रह्मसान्निध्य प्राप्तिका साधन प्रारम्भ होता है।

कारणप्रतिष्ठासम्बन्धतश्च ॥१२२॥

ध्यानमें साक्षात्कार होता है और समाधिभूमिमें उपास्य और उपासककी एकता हो जाती है। इस विज्ञानके अनुसार ब्रह्मधारणाका आश्रय लेकर साधकका मन जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ यदि अन्तः-करणकी प्रतिष्ठा कारणमें की जाय तो एकबारही चित्तवृत्ति निरोध होनेमें सहायता प्राप्त हुआ करती है।

इस विषयमें उपनिषद्में कहा है:—

"क्षेम इति वाचि" योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोगः, जातिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्व-मित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत् प्रतिष्ठावान् भवति।"

अर्थात्—वाक्में क्षेमकी प्रतिष्ठा है। प्राणायाममें योगक्षेमकी प्रतिष्ठा है। हस्तोंमें कर्मकी प्रतिष्ठा है। पादेन्द्रियमें गमनकी प्रतिष्ठा है। वायु इन्द्रियमें विमुक्तिकी प्रतिष्ठा है। वृष्टिमें तृप्तिकी प्रतिष्ठा है। विद्युत्में बलकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकारसे कारणप्रतिष्ठा योगसे उपासना करनी चाहिये। इसके फलसे साधक प्रतिष्ठावान् होते हैं। वेदोक्त इस अष्टम ब्रह्मधारणा साधनका रहस्य जैसा सुगम है वैसाही व्यापक है और वैसाही सदा साधन होनेसे इसको पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने सबसे पीछे वर्णन किया है। कारणप्रतिष्ठा शब्दसे यही तात्पर्य है कि प्रत्येकवृत्ति अथवा प्रत्येकवृत्ति सम्बन्धयुक्त दृश्य जिस प्रकारसे साधकको बन्धन प्राप्त कराता है उसी बन्धनके सम्बन्ध का कारण अनुसन्धान किया जाय। जैसे आकाश व्यापक है

इस कारण आकाशमें सब कुछ रह सकता है, उपस्थ इन्द्रिय आनन्द तथा सृष्टिसे मुग्ध करता है। वाक्‌द्वारा मनुष्य बहुत कुछ करता है। सर्वकल्याण बुद्धिही महत्त्वप्रद है इस उदाहरणके अनुसार सब वृत्ति और सब विषयोंमें समझकर ब्रह्मबुद्धिसे कारण-प्रतिष्ठा साधन करने योग्य है। योगदर्शनविज्ञानके अनुसार पुण्यात्मामें प्रीति, सुखीको देखकर आनन्द, पापीमें उपेक्षा और दुःखीको देखकर करुणावृत्तिओं के चित्तमें उदय करनेसे जैसे समाधिका उदय होकर आत्मसाक्षात्कार करनेमें सुगमता होती है उसी प्रकार प्रत्येक दृश्यके कारणमें अन्तःकरणको ले जानेसे क्रमशः साधकका अन्तः-करण समाधिभूमिलाभ करता है और समाधिभूमिका उदय होनेसे स्वतः आत्मसाक्षात्कार करके साधक कृतकृत्य हो जाता है। योग-दर्शनमें कहा है कि "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य-विषयाणां भावनात चित्तप्रसादनम्" ।

समाधि प्राप्त करनेका यह एक साधन विशेष है। क्योंकि सुखीको देखकर ईर्ष्या आदि क्लिष्टवृत्तियोंका उदय होता है, दुःखीको देखकर यदि करुणावृत्ति न लायी जाय तो निष्ठुरता, निर्दयता आदि क्लिष्ट वृत्तियोंका उदय होता है, पुण्यात्माके पुण्यभोगको देखकर यदि आनन्दित न हुआ जाय तो ईर्षा, द्वेष, निन्दापरायणता आदि अनेक घृणित वृत्तियोंका उदय होता है, और यदि पापीमें उपेक्षा न की जाय तो घृणा द्वेष आदि अनेक क्लिष्ट वृत्तियोंका उदय होकर साधकको अपने प्रियतम श्रीभगवान्‌से विमुख करती है। सुतरां यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारों वृत्तियोंका

यथा अवसर अभ्यास करनेसे साधकका चित्त प्रशान्त होकर समाधि-भूमिको प्राप्त करता है। इन चारों वृत्तियोंका साधन हर समय नहीं होता है। परन्तु कारण प्रतिष्ठाके साधनका अवसर साधकको सब समय मिल सकता है। ज्ञानवान् व्यक्ति शास्त्र और गुरूपदेशके अनुसार ऊपर कथित वैदिक आज्ञाका अनुसरण करते हुये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, सुख-दुःख, राग, द्वेष आदि वृत्तियोंके उदय होते समय अथवा उनके सम्बन्धसे दृश्योंके सामने आनेपर यदि प्रत्येकका कारण अनुसन्धान द्वारा ब्रह्मधारणासे, कारणमें अन्तःकरणकी प्रतिष्ठा करे तो उक्त भाग्यवान् ज्ञानी भक्तका अन्तःकरण क्रमशः समाधिभूमिमें प्रतिष्ठित हो जायगा और समाधिके उदयसे भगवत् साक्षात्कारमें वह समर्थ होगा इसमें सन्देह नहीं ॥१२२॥

वेदके अनन्तत्वके साथ साधनका बहुत्व प्रतिपादन कर रहे हैं—

धारणाभेदसे वह बहुप्रकार है ॥१२३॥

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार वेदोक्त ब्रह्मधारणा सम्बन्धीय कुछ-कुछ साधनोंका वर्णन करके अब इस सूत्रद्वारा अनन्त स्वरूपमय वेदोंके महत्त्वके अनुसार साधनका बहुत्व वर्णन कर रहे हैं। वेद स्वयं कहते हैं "अनन्ता वै वेदाः" अर्थात् वेद अनन्त हैं और त्रिगुणात्मक सृष्टि भी अनन्त रूपधारी है। इस कारण अधिकारियोंके बहुत्व हेतु वैदिक साधन भी बहुप्रकारके होंगे इसमें सन्देह ही क्या है। केवल वैदिक उपासनाकाण्डकी मीमांसाके हेतु प्रधान प्रधान कुछ साधनोंका वर्णन करके सूत्रकारने साधनका दिग्दर्शन कराया है ॥१२४॥

धारणाभेदाद् बहुविधाऽसौ ॥१२३॥

साधनका सार्वभौमके लक्ष्य करानेकेलिये विभाग किया जा रहा है :—

अगर्भ सगर्भभेदसे द्विधा है ।।१२४।।

यदि जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी शङ्का हो कि इस संसारमें जो मनुष्यश्रेणी वेदके महत्त्वको हृदयङ्गम नहीं कर सकती है, अथवा जो साधनसमूह अवैदिक है, क्या वे साधनशब्दवाच्य नहीं हो सकते ? इत्यादि शङ्काओंके सर्वजीवहितकारी उपासना प्रणालीके प्रतिपादन करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। साधारणतः सब प्रकारकी ब्रह्मधारणा दो श्रेणीकी होती है। यथा एक अगर्भ दूसरा सगर्भ। शास्त्रोंमें प्राणायाम तथा पीठादि साधनोंके विषयमें ऐसे ही दो विभाग किये हैं यथा—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्च निगर्भकः ।
सगर्भबीजसहितो निगर्भो बीजवर्जितः ।।

अर्थात् सहित प्राणायाम दो प्रकारके हैं यथा अगर्भ और सगर्भ। जो प्राणायाम बीजमन्त्रके साथ किया जाय उसको सगर्भ और बीजमन्त्ररहित है उसे निगर्भ प्राणायाम कहते हैं।

ध्यानसाधन और समाधिसाधन ये दोनों ही बड़े उच्चश्रेणीके साधन हैं, और ये दोनों ही विना वैदिक ज्ञान प्राप्त किये कदापि ठीक ठीक नहीं हो सकते हैं। योगके इन सप्तम और अष्टम दोनों अङ्गोंका यथार्थ साधन वेद और वेदसम्मतशास्त्रोंके अनुसार ही हो सकता है, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता है। इस कारण इन दोनों

अगर्भसगर्भभेदतो द्विविधा ।।१२४।।

साधनोंमें सगर्भ और अगर्भ भेद होना असम्भव है। केवल प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और मन्त्रयोगके पीठसाधनादि स्थूल-साधनके अगर्भ और सगर्भ रूपी दो भेद हो सकते हैं।

श्रीभगवान्के वेदोक्त अथवा वेदसम्मत शास्त्रोक्तरूपोंमेंसे कोई रूपके अवलम्बन द्वारा जो धारणा हो वह सगर्भ और जिसमें किसी प्रकारका भी ध्यानका सम्बन्ध न रहे, केवल एक प्रकारके भावका सम्बन्ध रहे, उसीको अगर्भ धारणा कहते हैं। पृथ्वी भरमें जो अनेक अवैदिक धर्म्ममत प्रचलित थे, प्रचलित हैं और प्रचलित होंगे उनमें सगुण निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपोंका विज्ञान कुछ भी प्रकट नहीं है। अतः उनमें ध्यानका अधिकार ही नहीं है। वे नामके लिए ब्रह्म अथवा ईश्वरकी धारणा केवल एक लौकिक भावमात्रके अवलम्बनसे करते हैं। यथार्थ रूपसे उनके स्वरूपका कुछ भी विज्ञान उनको विदित नहीं हो सकता है। अतः ऐसे उपासकोंके जो-जो धारणा साधन होंगे, वे ध्यान विज्ञान-रहित होनेसे अगर्भ कहावेंगे। सुतरां इस संसारमें जितने प्रकारके धारणासाधन प्रचलित हैं अथवा होंगे, वे इस सूत्रकथित दो भागमें विभक्त होंगे ॥१२४॥

शङ्काका समाधान कर रहे हैं :—

अगर्भ अवैदिक होनेपर भी उससे विफलता नहीं होती है ॥१२५॥

अब यह शङ्का हो सकती है कि जो धर्ममत अवैदिक हैं, उनका

अवैदिकत्वेऽपि न वैफल्यमगर्भायाः ॥१२५॥

भगवद्धारणा साधन क्या निष्फल होता है ? जो धर्ममत ईश्वरके ब्रह्म, ईश, विराट् स्वरूपत्रयको नहीं जानते, जो धर्ममत ईश्वरके सगुण निर्गुण भेदोंके होनेका रहस्य कुछ भी नहीं समझ सकते, अथवा जो उपासकसम्प्रदाय केवल धर्मराजके सदृश ईश्वरको समझकर उपासना करते हैं, उनकी बालकवत् ब्रह्मधारणा निष्फल होगी ?

जब साधारण उपासक केवल धारणाभूमि तक पहुँच सकता है, अथ च अगर्भधारणा अवैदिक होनेसे वह पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकता तो क्या ऐसे साधकोंका साधन निष्फल होगा ? इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानकेलिये महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यद्यपि अगर्भधारणा साधनमें ब्रह्मतत्त्व, ईश्वर-तत्त्व, सगुणतत्त्व, निर्गुणतत्त्व आदिका कुछ भी ज्ञानसाधकको नहीं रहता है, तौभी साधकमें भक्ति-भावका उदय भक्तिद्वारा बना रहता है। भावका अलौकिक रहस्य पहले ही भली-भाँति कहा गया है। अतः सद्भावकी सहायतासे वह अवैदिक साधक कुछ न कुछ अभ्युदयको अवश्य प्राप्त होता है। सर्वान्तर्यामी भगवान् उस साधकके हृदयको जानकर उसके साधनको विफल नहीं करते हैं। राजाको कोई पहिचाने या न पहिचाने, राजाके सन्मुख जाकर कोई स्तुति करे या न करे, परन्तु कर्तव्यपरायण होनेसे राजा वैसी प्रजाको भी पुरस्कृत करता है। वैसे ही समदर्शी श्रीभगवान् अवैदिक धारणा साधकको भी भक्ति मार्गके द्वारा कल्याण मार्गमें अग्रसर करते हैं।१२५।

सगर्भकी विशेषता की जाती है :—

वैदिक होनेसे सगर्भ अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद है ॥१२६॥

अगर्भसे सगर्भका महत्त्व वर्णन करनेके लिये कहा जाता है कि अगर्भ केवल अभ्युदयप्रद हो सकता है, परन्तु सगर्भधारणा साधन अभ्युदयप्रद और निःश्रेयसप्रद दोनों है।

सगर्भधारणा साधन करनेवाला साधकका लक्ष्य स्थिर होनेसे और उसमें ध्यान करनेकी योग्यता बनी रहनेसे और ब्रह्मका स्वरूप गुरु, वेद और शास्त्रद्वारा उसको विदित रहनेसे वह भाग्यवान् साधक धारणाभूमिसे क्रमशः ध्यानभूमि और ध्यानभूमिसे क्रमशः समाधि-भूमिमें पहुँचकर अन्तमें निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करता हुआ निःश्रेयसको प्राप्त कर लेता है ॥१२६॥

लक्ष्यको स्थिर करनेके लिये कहा जाता है :—

स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली ब्रह्मोपासना प्रथम है ॥१२७॥

धारणाके अनन्तर ध्यानभूमिमें पहुँचकर सगर्भधारणासे सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है, निःश्रेयसप्रद सगर्भधारणामें किस प्रकारके लक्ष्यके अवलम्बनद्वारा साधक साधनभूमिमें अग्रसर होता है, और आगेकी ध्यानभूमिमें किस प्रकार साधन किया जाता है इत्यादि विज्ञानका निर्णय महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। उक्त लक्ष्योंमें-से आदि लक्ष्यका वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मोपासना ही प्रथम है।

सगर्भाभ्युदय निःश्रेयसहेतु वैदिकत्वात् ।१२६।

स्वरूपप्रकाशिका ब्रह्मोपासनाऽऽद्या ॥१२७॥

अन्य उपासनाओंका वर्णन आगे सूत्रोंमें आवेगा। ब्रह्मके लक्षण और ब्रह्मोपासनाके विषयमें श्रुति स्मृतियोंमें निम्नलिखित अनेक प्रमाण मिलते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्।
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्॥
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमःक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥

न तत्र सूर्य्योभाति न चन्द्रतारकम्,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोमनोयद्,
वाचोह वाचं सउप्राणस्य प्राणः।

चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
"आत्मात्येवोपासीतस्तदात्मानमेववित्"

अर्थात्—वह विज्ञानवान् आत्मा कहींसे उत्पन्न नहीं हुये हैं, उनका जन्म और मृत्युभी नहीं है, वह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है शरीरके नाश होनेसे उनका नाश नहीं होता है। वह अणुसे भी अणु है, महत्‌सेभी महत् है, वह आत्मा जीवके हृदयरूप गुहामें स्थित है, परमात्माकी उस महिमाको भगवान्‌की कृपासे शोकरहित होकर जान सकते हैं। जो कि अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस और सर्वदा गन्धहीन है, जो कि अनादि, अनन्त और महत्‌से परे है, उनको जानकर मृत्युसे मुक्तिलाभ कर सकते हैं। वहाँ सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंकाभी प्रकाश नहीं है, विजलीका भी वहाँ प्रकाश नहीं है अग्निकी बात तो दूर रही। उन्हींके प्रकाशित होनेसे सब प्रकाशित होते हैं। जो कि श्रोत्रकेभी श्रोत्र है, मनकेभी मन है, वाक्यकेभी वाक्य है, प्राणकेभी प्राण है और चक्षुकेभी चक्षु है, धीर व्यक्ति उनको जानकर मृत्युके पश्चात् अमृतके स्वरूप बन जाते हैं। प्राणके द्वारा जो कि प्राणधर्मयुक्त नहीं होते हैं जिसके द्वारा प्राणकी उत्पत्ति होती है वही ब्रह्म है, जिनकी उपासना कर रहे हैं यह ब्रह्म नहीं है ॥१२७॥

दूसरा प्रकारका कहा जाता है :—

तत्त्वके भेदसे दूसरी उपासना सगुणा है ॥१२८॥

उपासनाका दूसरा अधिकार सगुणोपासना है। सगुणोपासना भी ब्रह्मोपासना ही है। केवल अधिकार और भावभेदसे अवलम्बन-का भेद है। पञ्चतत्त्वोंके अनुसार साधकोंमें पाँच प्रकारके अधिकार होनेके कारण सगुणोपासना पाच प्रकारकी मानी गई है। इस विषयमें श्रुति और स्मृतियोंमें कहा गया है :—

उपासनं पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत्।
आकाशस्याधिपो विष्णुः अग्नेश्चैव महेश्वरी ॥
वायुसूर्ययोः क्षितेरीशोः जीवनस्य गणाधिपः ॥
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम्।
परीक्ष्य कुर्य्युः शिष्याणामधिकार विनिर्णयम् ॥
मानवां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्तिताः।
यतो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मको वुधैः ॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात्।
तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित् ॥
प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्यं विमृश्य विधिपूर्वकम्।
उपासनाधिकारस्य पञ्चभेदमवर्णयत् ॥
विष्णुः सूर्यश्च शक्तिश्च गणाधीशश्च शङ्करः।
पञ्चोपासना सदा देवि ! सगुणोपासनाविधौ ॥

तत्त्वभेदात् पञ्चविधा सगुणा ॥१२८॥

एते पञ्च महेशानि ! सगुणो भेद ईरितः ।
सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो नह्यत्र संशयः ॥
निर्गुणोऽपि निराकारो व्यापकः स परात्परः ।
साधकानां हि कल्याणं विधातुं वसुधातले ॥
बिभर्त्ति सगुणं रूपं त्वत्साहाय्यात् च पतिव्रते ॥

शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य, और विष्णु ये पाचों उपास्य सगुण-रूप पञ्चसगुणोपासनाके माने गये हैं, ये पाँचों सच्चिदानन्दमय ब्रह्मकेही सगुण भेद हैं, यह निःसन्देह है। परमात्मा निराकार निर्गुण और व्यापक होनेपर भी साधकके कल्याणार्थ तुम्हारी सहायतासे सगुणरूप धारण किया करते हैं ॥१२८॥

अब तीसरा प्रकार कहा जाता है :—

अवतारोपासनाभी इसी प्रकार है ॥१२९॥

साधनका लक्ष्य तथा उपासनाके भेदमें तीसरा अधिकार अवतारोपासनाका है, अवतारोपासना सगुण पञ्चोपासनाके सदृश सगुण उपासना ही है। अवतारोपासनाके विषयमें विस्तारित विज्ञान पहले बहुत कुछ कहा गया है। इस श्रेणीकी उपासनाके विषयमें श्रुति और स्मृतियाँ इस प्रकारसे कहती हैं यथा—

यद्यच्छरीरमाश्रित्य भगवान् सर्वशक्तिमान् ।
अवतीर्णो विविधां लीलां विधाय वसुधातले ॥

अवतारोपासनीयमेव । १२९ ।

जगत् पालयते देवि ! लीलाविग्रह एव सः ।
उपासनानुसारेण वेदशास्त्रेषु सूरिशः ॥
लीलाविग्रहरूपाणामितिहासोऽपि लभ्यते
तदुपासनकञ्चापि सगुणं परिकीर्तितम् ॥

जिन अवतारशरीर धारण करके सर्वशक्तिमान् भगवान् तुम्हारी सहायतासे नाना लीला करके संसारकी रक्षा करते हैं, वे रूपही लीलाविग्रह कहाते हैं। वेद और शास्त्रोंमें अनेक लीला-विग्रह रूपोंका इतिहास पाये जाते हैं। उनकी उपासनाभी सगुण उपासनाही कही जाती है

"वाराहेन पृथिवीसंविदाना शूकराय विजीहीते मृगाय ॥"

अर्थात् वाराहरूपी भगवान्ने इस पृथिवीका उद्धार किया है। और श्रुति कहती है—

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि
तन्नः नारसिंहः प्रचोदयात् ।

अर्थात् वज्रनखनारसिंह भगवान्को जानते हैं तीक्ष्णदंष्ट्रनृसिंह देवका ध्यान करते हैं हमारी बुद्धिको वह भगवान् प्रेरित करें।

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरोगिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमेण स्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वाः ।

अर्थात्—नृसिंहरूपधारी भयानक भगवान् निजतेजसे स्तुतिको प्राप्त करते हैं जो वाराहरूपमें पृथिवी तथा पर्वतमें विचरण करते हैं और त्रिपाद द्वारा समस्त विश्वको कम्पित करते हैं।

क्षीरोदशायिनं नृकेसरिविग्रहं योगिध्येयम्

परं पदं यो जानीते सोऽमृतत्वमधिगच्छति ।

अर्थात् क्षीरोदशायी योगिध्यानयोग्य परमपदको जो जानता है वह अमृतत्व प्राप्त होता है ॥१२९॥

सगुणोपासनाके अवलम्बनका विज्ञान कहा जाता है :—

लौकिक अलौकिक भेदसे अवलम्बन द्विविध है ॥१३०॥

यह पहलेही भलीभाँति वर्णन आचुका है कि आसक्तिमनोराज्यका विषय है और भाव बुद्धिराज्यका विषय है। क्योंकि मन और चित्तके संगमसे भावका उदय होता है। उसी शैलीके अनुसार लौकिक अवलम्बन मनोराज्यका व्यापार है और अलौकिक अवलम्बन बुद्धिराज्यका व्यापार है। पूर्व संस्कारजन्य आसक्तिवीजद्वारा जिस साधकके हृदयक्षेत्रमें जो जो लौकिक प्रेम संस्कार वर्तमान समयमें अङ्कुरित हुये रहते हैं, उनके अनुसार वह साधक भगवल्लीलाविग्रहरूपी अवतारोंके तत्तत् श्रेणीकी लीलाओंकी धारणासे उपासनाराज्योंमें अग्रसर होना अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल समझता है। यही लौकिक अवलम्बनका रहस्य है। दूसरा प्रकार यह है कि लौकिक वासनाओंके परिपाकसे जब साधकका अन्तःकरण आसक्तिराज्यसे उपराम हो जाता है, उससमय केवल अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत-भावत्रयके अवलम्बनसेही उपासनामार्गमें अग्रसर होकर तृप्तिलाभ करता रहता है। यही अलौकिक अवलम्बनका रहस्य

लौकिकालौकिकभेदाद् द्विविधमवलम्बनम् ॥१३०॥

है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि श्रीकृष्णावतारकी धारणामें उनकी बाललीला, यौवनलीला आदिकी जितनी धारणायें हैं, वे सब लौकिक संस्कारके अनुसार की जाती हैं। उनकी व्रजलीला, उनका दारपरिग्रह आदि कार्य्य सब लौकिक प्रणालीकी संस्कारयुक्त धारणासे की जाती है। परन्तु दूसरी ओर विष्णुलोक, या कैलास, या मणिद्वीप, या सूर्य्यलोक या धीशलोक अथवा इन पञ्चोपास्य सगुणमूर्त्ति सम्बन्धी जितनी धारणायें होंगी वे सब और ही कुछ लौकिकभावसे की जाती हैं। वस्तुतः पञ्चोपासनाभी सगुणब्रह्मोपासना ही है। भेद इतना ही है कि पञ्चोपासनामें अलौकिक अवलम्बन और अवतारोपासनामें लौकिक अवलम्बनका प्राधान्य रहता है। ये ही लौकिक और अलौकिक भेदसे उपासनावलम्बनका तात्पर्य है ॥१३०॥

प्रसङ्गसे उपासनामें भक्तिका प्राधान्य बताया जाता है:—

प्राणरूप होनेसे उपासना भक्तिमूला है ॥१३१॥

जैसे स्थूलशरीरसे प्राणका सम्बन्ध है, ठीक उसी उदाहरणपर कहा जा सकता है कि उपासनाके साथ भक्तिका सम्बन्ध है। यदि स्थूलशरीरसे प्राण निकल जाय, तो स्थूलशरीर मृतशव हो जाता है, और थोड़े समयमें वह शवदेह मृत्तिकामें परिणत हो जाती है, प्राणमयकोष अन्य तीन कोशोंको साथ लेकर अन्नमयकोषरूपी स्थूलशरीरसे निकलकर लोकान्तरमें चले जानेसे स्थूलशरीर

भक्तिमूलोपासना प्राणरूपत्वात् ॥१३१॥

मृत्तिका रूपमें ही पड़ा रहता है। इस उदाहरणके अनुसार औदा-हरणको समझना उचित है।

यदि उपासनाके साथ भक्ति न रहे तो वह उपासनाशब्द वाच्यही नहीं हो सकती, किन्तु वह उपासना नव नाटकका खेल, अथवा मिथ्याचार समझी जायगी। उपास्यके सान्निध्यप्राप्तिकरानेवाली क्रियाको उपासना कहते हैं। अतः अपने उपास्य इष्टदेवमें जबतक भक्ति नहीं होगी, तबतक उसके सान्निध्य प्राप्तिकी इच्छाही उपासक-को नहीं हो सकती। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि विना भक्तिके उपासनाकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है। फलतः उपासनाका प्राण भक्ति ही है। इस विषयमें स्मृति भी यही कहती है:—

तस्याश्चैव द्विजाः ज्ञेया भक्तिः प्राणस्वरूपिणी"

उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति है ॥१३१॥

भक्ति कैसे प्राप्त होती है सो कहा जाता है :—

वह महत्कृपा और भगवत्कृपासे प्राप्त होती है ॥१३२॥

यह पहलेही सिद्ध हो चुका है कि किसीका ज्ञान होना और है और किसीमें भक्ति होना और है। ज्ञान जिसप्रकार पुरुषार्थ सापेक्ष है भक्ति उसप्रकार पुरुषार्थ सापेक्ष नहीं है, क्योंकि भक्तिकी गति कुछ विलक्षण ही है। ऐसेही विलक्षणभक्ति कैसे जीवको प्राप्त हो सकती है ? यह यह शंका जिज्ञासुके हृदयमें स्वतः हो सकती है। इस शङ्काके निवारणके लिये महर्षि सूत्रकार अपनी सम्मति कह रहे हैं और महर्षियोंकी सम्मति आगे कहेंगे। उनकी सम्मतिकी भक्ति भागवत-

सा महत्कृपातोभगवत्कृपातोऽपि ॥१३२॥

कृपा और भगवत्कृपा इन दोनोंसे प्राप्त होती है। इस संसारमें जिन्होंने अपने हृदयको श्रीभगवान्का मन्दिर बना लिया है ऐसे भगवत्जन ही महत्पुरुष हैं। ऐसे महत्पुरुषोंकी कृपा तथा श्रीभगवान्की कृपासे ही जीवके हृदयमरुमें भक्ति मन्दाकिनी प्रवाहित हो सकती है।

भक्ति जब अलौकिक वस्तु है, तो लौकिक रीतिसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रथम तो भगवत्जनोंकी कृपासे भक्तिकी प्राप्ति होती है क्योंकि भगवान्ने निजमुखसे कहा है कि—

'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'

तात्पर्य यह है कि भागवतजनोंको प्रथम प्रणाम करनेसे जीव-भावरूपी अहङ्कार घटता है, पुनः उनकी सेवा करनेसे मल और विक्षेपका नाश होता है और श्रद्धाके साथ प्रश्न करनेसे बुद्धिका आवरण दूर होकर जिज्ञासु शिष्य भक्तिलाभ करके कृतकृत्य होता है। प्रथम तो भागवतकृपा होनेसे भगवत्कृपा स्वतः होती है क्योंकि भगवत्कृपा हुये बिना भागवतकृपा हो ही नहीं सकती। श्रीभगवान् अपने भक्तोंके हृदयमन्दिरमें सदा विराजमान ही रहते हैं, इस कारण भगवत्कृपाही भागवत्कृपा है ऐसा भी कह सकते हैं। और बिना सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान्की प्रेरणासे जीव न भगवत्राज्यमें अग्रसर होता है न भगवत्स्मरण करनेका अधिकारी होता है, और न उसमें भागवतसंगकी प्रवृत्ति होती है, इस कारणसे यह कहना पड़ेगा कि भक्ति भगवत्कृपा सापेक्ष है।१३२॥

दोनोंमेंसे किसकी मुख्यता है सो प्रतिपादन कर रहे हैं—

महत्सङ्गका महत्त्व अधिक है ॥ १३३ ॥

जब यह प्रमाणित हुआ कि भगवत्कृपा और महत्‌जनकृपा अर्थात् साधुकृपा दोनों ही के द्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है, और यह भी प्रमाणित हुआ कि एकके होनेसे दूसरेकी प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है, क्योंकि भगवान्‌के प्रसन्न होनेसे भागवतका दर्शन और भागवतकृपा जीवको प्राप्त होता है, तथा भागवतकृपा जीवको प्राप्त होनेसे भगवत्कृपा भी प्राप्त होती है तो जिज्ञासुके हृदयमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि इन दोनोंमें मुख्यता किसकी है ? दोनोंमेंसे किसके लिये प्रथम प्रयत्न होना उचित है ? इस प्रकारके जिज्ञासुओंके उत्तरमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। जब श्रीभगवान्‌के प्रसन्न होनेसे भागवतोंका दर्शन होता है, जब महत्‌जन अर्थात् भागवतके रूपमें ही श्रीभगवान् प्रकट होकर सत्संग और सत्‌उपदेश द्वारा जीवका कल्याण करते हैं, जब भागवत हृदयमन्दिरमें श्रीभगवान् नित्य विराजमान रहनेसे भगवत् और भागवतमें भेद नहीं है, जब महज्जनरूपी भागवतही गुरुरूपधारण करके जिज्ञासुशिष्यको भगवत्-सान्निध्य प्राप्त कराया करते हैं, तो यह स्वतः सिद्ध है कि जिज्ञासु अथवा साधककेलिये सत्संग अर्थात् महज्जनोंके सङ्ग मुख्य माना जा सकता है। सत्सङ्गकी महिमाके विषयमें शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथाः—

यथा कथञ्चिद् यैः कैश्चित् सम्प्राप्तास्तत्त्वभूतयः ।
चराचरेषु जीवेषु सत्सङ्गस्तत्र कारणम् ॥

महत्सङ्गममहत्त्वं गरीयः ॥१३३॥

स एव श्रेयसां हेतुर्विवेकस्य च साधकः ।
विना श्रीविष्णुकृष्णाभ्यां फलसिद्धिर्न लभ्यते ॥
असाधुरपि साधुत्वं यत् प्रभावेन विन्दते ।
पारदेनेव सम्पृक्तस्ताम्रधातुः सुवर्णताम् ॥
मणिःफणिफणानग्रे वद कस्मै प्ररोचते ।
विकृतिं नैव चेच्छन्ति सङ्गदोषेण साधवः ॥
आवेष्टितं महासर्पैश्चन्दनं न विषायते ।
संगात् भवति हि साधुता खलानां
साधूनां नहि खलसंगमात् खलत्वम् ।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयन्ति ॥
वाञ्छासज्जनसंगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्
भक्तिः शक्तिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिफला
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्योनमः ॥
सतां समागमः सद्भिः निष्फलो जायते क्वचित्
विमुक्तं नरकात् यश्च नृगं साधुसमागमात् ॥
निमज्जतामत्र घोरे भवाब्धौ परमाश्रयाः ।
सन्तः ब्रह्मविदः शान्ता नौर्जले मज्जतामिव ॥
सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स च त्यक्तुं न शक्यते
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥
पत्रादयः सतां सद्भिः सङ्गमो नाफलोयतः ।

तस्मात्तत्संशयाद् युक्ता मया प्राप्ता समुन्नतिः ॥
नेष्टे वक्तुं सतां सङ्गमहिमानं बृहस्पतिः ।

सत्संगही चराचरके अभ्युदयका कारण है । विष्णुकृपाके विना जिस प्रकार फलसिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार सत्संग विना विवेक नहीं होता है । विवेकलाभका कारण सत्सङ्ग ही है । उसके प्रभावसे असाधुव्यक्तिभी साधुत्वको प्राप्त होते हैं पारदके साथ मिलनेसे ताम्रधातु भी सुवर्णके समान तेज विशिष्ट हो जाता है । सर्पके शिरमें मणि रहनेपर भी किसीके रुचिदायक नहीं होता यह संग-दोषका ही कारण है । साधुलोग खलसंसर्गसे खल नहीं बनते हैं चन्दन वृक्ष महासर्पसे वेष्टित रहनेपर भी विषयुक्त नहीं होता है । परन्तु खललोग साधुसंगसे खलता परिहार पूर्वक साधु हो जाते हैं, सत्संगकी ऐसीही अपूर्वमहिमा है । पुष्प मृत्तिकामें रहनेसे उसके संसर्गसे मृत्तिका शोभायुक्त होती है, परन्तु पुष्प मृत्तिकाके संसर्गसे उसका गन्ध धारण नहीं करते हैं । सत्संग कदापि विफल नहीं जाता है । संसारसमुद्रमें गिरे हुये मनुष्यका सत्संगके फलसे उद्धार हो सकता है । सत्सङ्ग करना सबोंके लिये विशेष कर्तव्य है क्योंकि सत्सङ्ग भेषजरूप है । सत्सङ्गकी महिमा वृहस्पति भी वर्णन करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकते ॥ १३३ ॥

पूर्व विज्ञानकी दृढ़ता की जाती है:—

गुरुकृपा भी भगवत्कृपा ही है ॥१३४॥

भगवत्कृपा और भागवतकृपा दोनोंमेंसे भागवतकृपाका

गुरुकृपा भगवत्कृपैव ॥१३४॥

गुरुत्व बताकर तथा उसके सम्बन्धसे महत्संगकी महिमा सिद्धकरके पूर्व विज्ञानकी पुष्टिकेलिये भगवान् और गुरुकी कृपाका अभेदत्व प्रतिपन्न कर रहे हैं। गुरुके लक्षण और गुरुकी महिमाके विषयमें श्रुति और स्मृतिमें ऐसा कहा है :—

सर्वशास्त्रपरोदक्षः सर्वशास्त्रवित्सदा।
सुवचाः सुन्दरः स्वङ्गः कुलिनः शुभदर्शनः।
जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः॥
पितृमातृहिते युक्तः सर्वकर्मपरायणः।
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधीयते॥
सर्वदर्शी तु यः साधु मुमुक्षूणां हिताय वै।
व्याख्याय धर्म्मशास्त्राशं क्रिया सिद्धिप्रबोधकम्॥
उपासनाविधेः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः।
भेदान् प्रशास्ति धर्म्मज्ञः सद्गुरुः समुदाहृतः॥
पञ्चतत्त्वविभेदज्ञः पञ्चभेदान् विशेषतः।
सगुणोपासनां यस्तु सम्यग्जानाति कोविदः॥
चातुर्विध्येन विततां ब्रह्मणः समुपासनाम्।
गम्भीरार्थां विजानीते बुधो निर्मलमानसः॥
सर्वकार्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत्।
करोति जीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः स कथ्यते॥
उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम्।
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः॥

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥
समाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वः प्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ॥
गुरुरेव जगत् सर्वं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
गुरोः कृपाप्रसादेन ब्रह्मविष्णुसदाशिवाः ॥
सृष्ट्यादिकसमर्थास्ते केवलं गुरुसेवया।
देवकिन्नरगन्धर्वाः पितरोयक्षचारणाः ॥
मुनयोऽपि न जानन्ति गुरुशुश्रूषणाविधिम्।
न मुक्ता देवगन्धर्वाः पितरो यक्षकिन्नराः ॥
ऋषयः सर्वसिद्धाश्च गुरुसेवापराङ्मुखाः।
गुरोः कृपाप्रसादेन आत्मारामो हि लभ्यते ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा श्रीगुरोः पादसेवनात्।
सर्वतीर्थावगाहस्य फलं प्राप्नोति निश्चितम् ॥
यज्ञव्रततपोदान- जपतीर्थावसेवनम्।
गुरुतत्त्वमविज्ञाय निष्फलं नात्र संशयः ॥
श्रुतिवेदान्तवाक्येन गुरुः साक्षात् परं पदम्।
गुरुर्देवो गुरुर्धर्मो गुरुनिष्ठापरन्तपः ॥
गुरोः परतरं नास्ति नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।
यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ॥
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।

अर्थात्—समस्तशास्त्रोंमें दक्ष समस्तशास्त्रोंके अर्थ जाननेवाले

सुन्दर वचन बोलनेवाले सर्वाङ्गसुन्दर कुलीन सर्वमूर्ति जितेन्द्रिय सत्यवादी ब्राह्मण शान्तचित्त पितामाताके हितकारी सर्वकुशल मनुष्य और देशवासी ही गुरु होने योग्य है। जो कि सर्वदर्शी साधु मुमुक्षुजनों-के हितके लिये धर्मशास्त्रके क्रियासिद्धांश और परमात्मा भगवान्‌की उपासना बताकर शिष्योंको शासन करते हैं वही गुरु होने योग्य हैं। जो कि पञ्चतत्त्वोंके भेद जाननेवाले विशेष करके पञ्चभेद और सगुणोपासनाका महत्त्व सम्यग् रूपसे जो जानते हैं, निर्मलचित्त जो विद्वान् ब्रह्मकी चार प्रकारकी उपासना अर्थात् मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, इन चारोंके अनुसार चतुर्विध उपासनाको जानते हों ऐसे ज्ञानी निर्मलमानस, सर्वकार्यमें निपुण त्रितापरहित, जीवोंका कल्याण करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा श्रेष्ठ गुरु कहलाते हैं। जिनके द्वारा वन्धनसे मुक्ति होती है जो कि श्रोत्रिय पापरहित, कामनारहित ब्रह्मवित् ब्रह्मनिष्ठ निर्धूम अग्निके समान शान्त विना कारणसे दयाका सागर, अवनत साधुओंको वन्धु ऐसे गुरु विवेकीकी शरण लेनी चाहिये। और उनकी आराधना करके शक्तिविनय और नम्रतादिके द्वारा प्रसन्न करते हुए उनसे अपना ज्ञातव्य विषय पूछा करे। गुरु ही समस्त जगत् है गुरु ब्रह्मा, विष्णु और शिवके स्वरूप हैं। गुरुकी कृपासे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव अपने अपने सृष्ट्यादि कार्यमें समर्थ होते हैं। देवता, किन्नर, गन्धर्व, पितर, यक्ष, चारण और मुनिगण भी गुरुसेवनविधि नहीं जानते हैं। देवगण, गन्धर्वगण, पितृगण, यक्षगण, किन्नरगण, ऋषिगण और सब सिद्धगणके बीचमें जो कोई गुरुसेवा पराङ्मुख हो कदापि मुक्तिलाभ करनेमें

समर्थ नहीं होगा, केवल गुरुकृपासे ही आत्मारामपद लाभ हो सकता है, गुरुपद अवलम्बन द्वारा ही आत्मज्ञानका उदय होता है। श्रीगुरुदेवकी चरणसेवा करनेपर जीवात्मा सब पापोंसे मुक्त और पवित्र हो जाता है और सब तीर्थोंमें स्नान करनेसे जितना फल होता है उतना ही उसको फल होता है। गुरुतत्त्व न जानकर जो यज्ञ, व्रत, तपस्या, दान, जप और तीर्थस्नान आदि करते हैं, वह सब निष्फल होता है। श्रुति और वेदान्तवाक्यके द्वारा यही निश्चय किया गया है कि गुरु ही साक्षात् परमपद है। गुरु ही देवतारूप, गुरु ही धर्मरूप और गुरुमें निष्ठा ही परम तपस्या रूप है। इसकारण गुरुकी अपेक्षा शेष वस्तु कुछ नहीं है। जिनकी देवता और गुरुमें पराभक्ति है उन्हींके लिए महात्माओंने यह सब कहा है॥ १३४॥

प्रसङ्गसे गुरु और ब्रह्मकी एकता प्रतिपादन कर रहे हैं—

कार्यकारण सम्बन्धके विचारसे गुरु और भगवान्में अभेद होनेसे ॥१३५॥

वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टिसे गुरु और ब्रह्ममें कुछ भी भेद नहीं है। सगुण ब्रह्मरूपी श्रीभगवान् कारणस्थल माने जा सकते हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्र भी कहता है—

> यो गुरुः स शिवः साक्षाद्यः शिवः स गुरुर्मतः।
> गुरौ अपि न भेदोऽस्ति भेदस्तत्र निरर्थकः॥
> दीक्षाविधावीश्वरोवै कारणस्थलमुच्यते।
> गुरुः कार्यस्थलश्चाऽतो गुरुर्ब्रह्म प्रगीयते॥

कार्य्यकारणसम्बन्धतो गुरुभगवतोरभेदात् ॥१३५॥

अर्थात् गुरु और शिवमें भिन्नता नहीं है। दीक्षाविधिमें ईश्वर कारणस्थल और गुरु कार्यस्थल है ॥१३५॥

प्रसङ्गसे महत्सङ्गका माहात्म्य कहा जाता है :—

महत्सङ्ग दुर्लभ, अमोघ और विचित्र है ॥१३६॥

महत्सङ्ग दुर्लभ इस कारण है कि यदि महत् जनसे साक्षात् भी हो जाय तौभी अपने मनकी मलिनताके कारण संसारी जन उसे असाधु ही समझेंगे इसी कारण विना शुभ अदृष्टके साधुसङ्ग प्राप्त होना दुर्लभ है। मनुष्यके अन्तःकरणमें जिस प्रकारकी वृत्तियोंका आधिक्य होता है उसी श्रेणीका भाव उसके अन्तःकरणको आच्छादित किया करता है। मनुष्यके अन्तःकरणमें जब अक्लिष्ट वृत्तियोंका प्रभाव बना रहता है तब उसके विचार और आचार, पुण्यकार्य पवित्र चिन्ता और सद्भावकी ओर प्रवाहित होता है। जब मनुष्यके अन्तःकरणमें क्लिष्ट वृत्तियोंका प्रभाव हो जाता है तब उसकी गति तथा उसके आचार और विचार पापकार्य, अपवित्र चिन्ता और सद्भावकी ओर बनी रहती है। अतः यदि असाधु और अपवित्र अन्तःकरणवाला व्यक्ति किसी साधुको देखेगा तब अपने चित्तकी मलिनता और अपवित्रताके कारण साधु व्यक्तिको असाधु करके मानेगा। उससमय उसकी दृष्टिके सन्मुख साधुके आनेपरभी अपने चित्तके कलुषित होनेके कारण नहीं पहिचान सकेगा। केवल पवित्रात्मा साधु अन्तःकरणवाला व्यक्ति ही साधुको

महत्सङ्गो दुर्लभोऽमोघो विचित्रश्च ॥१३६॥

साधु करके विश्वास कर सकता है, जब मनुष्यके चित्तमें रजतमका उदय होता है तब सन्देह, चञ्चलता, अविश्वास और अज्ञानके कारण न साधुको साधु करके विश्वास कर सकता है न साधुसंगमें प्रवृत्त हो सकता है। परन्तु जब मनुष्यके अन्तःकरणमें सत्त्व-गुणका उदय बना रहता है तभी वह भाग्यवान् व्यक्ति सन्देहको छोड़कर श्रद्धासे युक्त होता हुआ साधुको साधु करके जान सकता है और साधुसंगमें प्रवृत्त हो सकता है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि साधुसंग करनेके लिये और साधुको साधुरूपसे समझनेके लिये स्वयं अपने अन्तःकरणको पवित्र और सत्त्वगुणमय करना पड़ता है। इसीकारण साधुसङ्ग दुर्लभ है। साधुसंग अमोघ इस कारण है कि महज्जन सदा युक्त होनेसे उनका अन्तःकरण अहर्निश भगवच्चरणारविन्दमें लगा रहता है।

साधुका हृदयमन्दिर भगवान्का आवास स्थल है, यही कारण है कि भगवत्दर्शन और भागवतदर्शनमें भेद शास्त्रकार लोग नहीं मानते हैं। जैसे दिनमणि सूर्य्यके उदय होनेसे रात्रिका अन्धकार नहीं रहता है, ठीक उसी प्रकार भगवच्चरणारविन्दसे युक्त अन्तः-करण महज्जनके सन्मुख श्रद्धायुक्त होकर उपस्थित होनेपर जीवकी पापराशि दूर हो जाती है। दर्शनशास्त्रोंका सिद्धान्त है कि तमो-गुण रजोगुणसे दब जाता है और तमरज दोनों सत्त्वगुणसे पराजित होते हैं। इस कारण सत्त्वगुणमय साधुके निकट रजतमोमय व्यक्ति जब उपस्थित होगा तो स्वतः ही उसका रजतम उस समयके लिये दब जायगा। इन सब कारणोंसे यह मानना ही पड़ेगा कि साधुसङ्ग

अमोघ है। और महत्सङ्ग विचित्र इस कारणसे है कि त्रिगुण वैचित्र्यमयी महामायाके प्रभावसे संसारकी एक सृष्टि दूसरी सृष्टिसे मिल नहीं सकती है। दूसरी ओर कर्मकी विचित्रता अवश्य-सम्भावी है, साधुओंके संस्कारभी अलग-अलग होते हैं, उनके प्रारब्ध ही अलग-अलग होते हैं। सुतरां कोई साधु कर्म्मी, कोई साधु भक्त, कोई साधु ज्ञानी, कोई साधु तपस्वी, कोई साधु त्यागी, कोई साधु प्रारब्ध भोगनिरत, कोई साधु आत्माराम, मतस्तब्ध और जगत्‌की उपेक्षा करनेवाला तथा कोई साधु जगत्‌सेवामें रत परोपकारी इस प्रकारसे साधुचरित्र विचित्रतापूर्ण होनेसे साधुदर्शनभी विचित्र है यह मानना पड़ेगा ॥१३६॥

अपने मतका वर्णन करके अब अन्यमतका वर्णन कर रहे हैं :—

नारदके मतसे भक्ति भगवत्‌कृपासे ही प्राप्त होती है ॥१३७॥

भक्तिमार्गके आचार्य पूज्यपाद महर्षि नारदका विचार यह है कि भक्तिको प्राप्त करनेमें श्रीभगवान्‌की कृपा ही सर्वप्रधान है। श्रीभगवान्‌में प्रेमस्थापन करनेसे ही अर्थात् श्रीभगवान्‌के चरणोंमें किसी न किसी प्रकारसे युक्त होनेपर ही भाग्यवान् जीव भागवत कहलाता है। महज्जन वही है जो कर्म्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग इनमेंसे किसी एकके प्रधान अवलम्बनसे भगवच्चरणारविन्दमें सदा युक्त रहता है। इस कारण भागवत पदवी लाभ करनेकेलिये जब श्रीभगवान् ही

सा तत्कृपात एवेति नारदः ॥१३७॥

प्रधान हैं, तो भक्तिके प्राप्त करनेमें भी वही प्रधान अवलम्बन हैं, इसमें सन्देह ही क्या है। जीव अल्पशक्तिमान् और अल्पज्ञ है, श्रीभगवान् ही अपने आत्म तेजके गुरुशक्तिद्वारा प्रकाशित करके साधु शक्ति विशिष्ट साधकको अपनी ओर खीचा करते हैं। इस कारण भी भगवद्भक्तिकी प्राप्तिमें भगवान्की कृपा ही सर्वप्रधान कारण मानी जा सकती है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि कर्मयोगी बनना और ज्ञानयोगी बनना पुरुषार्थ सापेक्ष है परन्तु भक्तिकी प्राप्ति करनेमें पुरुषार्थकी गौणता रहती है। भक्ति अन्तः-करणकी एक विशेष माधुरी अवस्थासे उत्पन्न होती है जो अदृष्ट सापेक्ष है और अदृष्टप्रेरक श्रीभगवान् ही है। इस कारण माननाही पड़ेगा कि भक्तिकी प्राप्तिमें श्रीभगवान्की कृपा ही प्रधान कारण है ॥१३७॥

अब अन्य मत कह रहे हैं :—

महर्षिशाण्डिल्यके मतसे अहङ्कार निरोधद्वारा भक्ति प्राप्त होती है ॥१३८॥

दैवीमीमांसादर्शनके अन्यतम आचार्य पूज्यपाद महर्षि सूत्र-कार शाण्डिल्यकी सम्मति यह है कि अहङ्कारके निरोधसे ही साधक-में भक्तिका उदय हुआ करता है। जगत्कारण-विष्णु भगवान्के परमपदसे है। भक्तिरूपी मन्दाकिनीका साक्षात् सम्बन्ध है श्रीभग-वान् भक्ति मन्दाकिनीके स्वरूपमें भक्तके अन्तःकरण क्षेत्रको पवित्र

अहङ्कारनिरोधादिति शाण्डिल्यः ॥१३८॥

करते रहते हैं। श्रीभगवान् भक्तिरूप ही है क्योंकि श्रुति कहती है कि "रसो वै सः"। दूसरी ओर विचारणीय विषय यह है कि अहङ्कार ही जीवमें जीवभावका धारक है। जीवमें जब तक अहङ्कार है तबतक वह जीवसंज्ञाको प्राप्त करने योग्य है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि जीवमें अहङ्कारका निरोध होते ही उसके अन्तःकरणमें भगवत्-भावका उदय हो जाता है उतना ही उसमें भक्तिका उदय होना स्वतः सिद्ध है। फलतः इस सिद्धान्तके अनुसार यह मानना ही पड़ेगा कि अहङ्कार निरोध ही भक्तिके उदयका प्रधान कारण है ॥१३८॥

मतान्तरका वर्णन करते हैं :—

महर्षि व्यासके मतसे अपनेमें दीनता लानेसे भक्ति प्राप्त होती है ॥१३९॥

त्रिविध मीमांसाशास्त्रोंके आचार्य पूज्यपाद महर्षि व्यासकी सम्मति यह है कि अपनेमें दीनताको उत्पन्न करनेसे ही साधक भक्तिकी प्राप्तिका अधिकारी हुआ करता है। यह मार्ग पूर्वमार्गकी अपेक्षा सुसाध्य है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि अहङ्कार जीवभावका धारक है इस कारण अहङ्कारका निरोध करनेसे साधक भक्तिका अधिकारी बन जाता है। और यह तो स्वतः ही सिद्ध है कि अपनेमें दीनभावका उदय करनेसे अहङ्कारका निरोध हो सकता है। अभ्यास और विचार द्वारा साधक अपनेको जितना जितना दीन समझता जायगा उतना उतना उसका जीवभावरूपी अहङ्कार घटता जायगा। अतः दैन्यताकी प्राप्तिके द्वारा साधकमें भक्तिका उदय

दैन्यादिति द्वैपायनः ॥१३९॥

हुआ करता है यह सिद्ध हुआ। दूसरी ओर दैन्यताकी प्राप्तिके साथ अभ्यासका निकट सम्बन्ध है, क्योंकि अभ्यास द्वारा मनुष्य क्रमशः अपनेमें दैन्यवृत्तिको बढ़ा सकता है। अहङ्कार निरोध केवल विचार साध्य है। परन्तु दैन्यवृत्तिका उदय करना अपेक्षाकृत अभ्यास साध्य है। शरीर, वचन आदि द्वारा साधक अपने दैन्यभावको प्रकट करता करता क्रमशः मन और बुद्धि द्वाराभी दैन्यवृत्तिकी पराकाष्ठा-को प्राप्त कर सकता है। इस कारण यह सिद्धान्त पूर्वापेक्षा कुछ सुगम है ॥१३९॥

अन्य मतका वर्णन करते हैं :—

महर्षि याज्ञवल्क्यके मतसे योगसे भक्तिकी प्राप्ति होती है ॥१४०॥

भक्ति तथा योगशास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्यकी यह सम्मति है कि योगाभ्यास द्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है। योग किस-को कहते हैं, योग कितने प्रकार हैं और योग कैसे उपासनाका शरीररूप है सो पहले भली-भाँति वर्णन हो चुका है। जैसे शरीरके स्वस्थ बने रहनेसे उसमें प्राणका सञ्चार स्वतः बना रहता है, ठीक उसी प्रकार योगाभ्यासद्वारा साधक उपासनाशरीरको स्वस्थ बना लेनेपर उसकी उपासनामें प्राणरूपी भक्तिका सञ्चार स्वतः बना रहता है। जो सच्चा योगी है वह अवश्यक सच्चा भक्त होगा। भगवत्-भक्तिके बिना योग कदापि योगशब्द वाच्य नहीं हो सकता।

योगादिति याज्ञवल्क्यः ॥१४०॥

क्योंकि भक्तिरहित योग नटका खेल बन जाता है। अतः यह प्रतिपन्न हुआ कि आस्तिक योगी भक्तिरसमन्दाकिनीमें स्नानका अधिकारी बन जाता है ॥१४०॥

अन्य मतका वर्णन कर रहे हैं :—

भृगुके मतसे भक्तकी कृपाके द्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है ॥१४१॥

भक्तिशास्त्र तथा उपासना-काण्डके प्रसिद्ध आचार्य महर्षि भृगुकी सम्मति यह है कि भक्तकी कृपासे ही भक्तिकी प्राप्ति होती है। इससे पहले जितने सिद्धान्तोंका वर्णन किया है उन सबोंसे यह सिद्धान्त साधुमहिमाके विषयमें अधिकतर दृढ़ है। महज्जन, साधु भक्त और भागवत ये सब पर्य्यायवाचक शब्द हैं। यद्यपि महर्षि सूत्रकारका सिद्धान्त भी भक्तिके उद्रेकके सम्बन्धमें भक्तकी महिमाका पक्ष समर्थन करता है, परन्तु उनके मतमें भक्तिके उद्रेकमें भगवान्‌की कृपाकी भी अपेक्षा दिखाई गई है, किन्तु महर्षि भृगु भक्तिके उदयके सम्बन्धमें भक्तकी ही कृपाको एकमात्र कारण समझते हैं। साधुकी महिमा इससे बहुत कुछ कही जा चुकी है। महज्जन जिनका चित्त ही श्रीभगवान्‌के सदा विराजनेका मन्दिर है, साधुजन जो सदा श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दमें युक्त रहते हैं और निर्गुण निराकार परमात्मा जब भागवतजनोंके ही द्वारा सगुणरूपवान् होकर प्रकट रहते हैं तब यह स्वतः सिद्ध होता है कि एक-

---

भक्तकृपात इतिभृगुः ॥१४१॥

मात्र भक्तकी कृपासे ही भक्तिकी प्राप्ति होती है। यह पहले ही कहा गया है कि दुर्लभ होनेसे साधकको साधुसङ्ग करनेके लिए पहले सत्पात्र बनना पड़ता है। द्वितीयतः यह सिद्ध हो चुका है कि साधुसङ्ग अमोघ है। क्योंकि साधुके निकट साधक पहुँचते ही उसके भीतरका रजतम दब जाता है और तब वह साधुसङ्गके प्रभावसे अवश्य ही थोड़े समयके लिये भी सत्त्वगुणका अधिकारी बन जाता है। यह बार बार सिद्ध हो चुका है कि साधुके निकट ही साधुमनोमन्दिरमें श्रीभगवान् सदा विराजा करते हैं। अतः इन सिद्धान्तोंके अनुसार रसरूप भगवान्की रसरूपिणी भक्ति प्राप्त करनेमें रससागरमें सदा ही उन्मज्जन निमज्जन करनेवाले भक्त ही स्वाभाविक कारण हो सकते हैं॥१४१॥

अन्तिम सिद्धान्त कहा जाता है :—

उसमें और उसके जनमें अभेद है अभेद है ॥१४२॥

भागवतमहिमाका विस्तारित वर्णन पहले अनेक बार किया जा चुका है। यद्यपि समस्त ब्रह्माण्डके जीव ही उस ब्रह्माण्ड-नायक भगवान्के ही है परन्तु निकटतम सम्बन्ध होनेसे भागवतजन ही उनके निज जन हैं। श्रीभगवान्ने निजमुख से कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

सर्वभूतोंमें मैं समानरूपसे विराजमान हूँ। किसीसे द्वेष नहीं है,

---

तत् तज्जनयोरभेदोऽभेदः ॥१४२॥

किसीसे प्रेम नहीं है। जो भक्तिके साथ मेरा भजन करते हैं, मैं उनमें हूँ वे मुझमें हैं।

ऐसे भागवतजन ही जब भगवत्स्वरूप हैं, जब वे ही भक्ति प्रदान करनेवाले हैं, जब वे ही पथभ्रान्त संसारपथिकको अभ्रान्त पथ बतानेमें एकमात्र कारण हैं, जब साधकके लिये आत्मोन्नतिका सबसे सुगममार्ग साधुसङ्ग करना ही कहा जा सकता है, और जब जगत्की स्थिति अवस्थामें साधकके लिये सबसे बड़ा और प्रत्यक्ष अवलम्बन महत्कृपा और महत्सङ्ग ही है, तब स्थितिपादके अन्तमें और लयपादके प्रारम्भ होनेसे पूर्व इस प्रकारका लक्ष्य निर्णायक सूत्रका आविर्भाव होना ही विज्ञानसिद्ध है। यहाँ अभेद शब्दका प्रयोग दो बार होनेका तात्पर्य यह है कि जिससे साधक लक्ष्यभ्रष्ट हो ही नहीं सकता ॥१४२॥

*** स्थितिपाद समाप्त हुआ ***

ओं नमः परमात्मने ।

दैवीमीमांसादर्शन

लयपाद

मनुष्य जीवनके चार प्रकारके पुरुषार्थ काम, अर्थ, धर्म्म, मोक्ष-मेंसे अन्तिम मोक्ष सबसे प्रधान और सबसे परमावश्यकीय है। वेदके काण्डत्रय यद्यपि अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनोंका ही प्रतिपादन करते हैं परन्तु निःश्रेयसपर ही तीनों काण्डोंके सिद्धान्तों-की परिसमाप्ति मानी गयी है। अतः उपासनामीमांसा और भक्तिमार्गका चरम अधिकार तभी प्राप्त हो सकता है जब साधक मोक्षमार्गका अधिकारी बन सके। इस कारण चतुर्वर्गके अन्तिमवर्ग-की सिद्धिके लिए लयपादका प्रारम्भ किया जाता है।

व्युत्क्रमसे लय होता है ॥१॥

सृष्टिके भेद और उसके विस्तारित विवरण पहले भलीभाँति किया गया है। सृष्टि होते समय ब्रह्मसे ब्रह्मशक्तिकी अभिव्यक्ति होकर प्रथम महत्तत्त्व महत्तत्त्वसे अहंतत्त्व, अहंतत्त्वसे सूक्ष्मप्रपञ्च सूक्ष्म प्रपञ्चसे स्थूलप्रपञ्चमय ब्रह्माण्ड प्रकट होता है। परन्तु लय होते समय इससे विपरीत होता है, अर्थात् स्थूलप्रपञ्च सूक्ष्मप्रपञ्चमें और सूक्ष्मप्रपञ्च अहंतत्त्वमें अहंतत्त्व महत्तत्त्वमें

व्युत्क्रमाद्लयः ॥१॥

महत्तत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृति ब्रह्ममें लय होती है। और पञ्च-तत्त्वोंके लय होनेका क्रमभी यही है अर्थात् पृथिवी जलमें, जल अग्निमें अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें लय होता है ॥१॥

उसके भेद कहते हैं :—

वह चार प्रकारका है ॥२॥

वेद और शास्त्रोंमें प्रलयके चार भेद माने गये हैं। उनमेंसे दो प्रलय अधिदैव सृष्टिके और दो प्रलय अधिभूत सृष्टि सम्बन्धसे माने गये हैं। यह पूर्वही सिद्ध हो चुका है कि अध्यात्मसृष्टि अनादि अनन्त है इस कारण उसमें प्रलय स्वीकार नहीं किया जाता।

स्मृतिशास्त्रमें चार प्रकारके प्रलयका वर्णन इस प्रकारसे है—

नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विजः।
नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यच्छेते जगतः पतिः।
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम्॥
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि।
नित्यः सदैव जातानां यो विनाशो दिवानिशम्॥

अर्थात्—नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य ये चार प्रकारके प्रलय होते हैं। ब्राह्मप्रलय अर्थात् ब्रह्माजीके दिनके बाद ब्रह्माजीकी रात्रिमें जो प्रलय होता है उसको ब्राह्मप्रलय कहते हैं। यही नैमित्तिक प्रलय है।

प्राकृतिक प्रलय महाप्रलयको कहते हैं। यह प्रलय रुद्रजीकी आयुकी

स चतुर्विधः ॥२॥

समाप्तिमें होता है। उस समय त्रिमूर्त्तिके लयके साथ ही साथ एक समग्र ब्रह्माण्डका लय हो जाता है। इन दो प्रलयोंके साथ आधिदैविक सृष्टिका सम्बन्ध है। आत्मज्ञान द्वारा पराभक्तिके अधिकारी महज्जन जो ब्रह्माण्डमें लय हो जाते हैं, उसीका नाम आत्यन्तिक प्रलय है। जीवन्मुक्त महापुरुषका ब्रह्मीभूत होना शुक्लगति प्राप्त महदात्माओंका सूर्य्यमण्डलभेदनपूर्वक ब्रह्मीभूत होना आदिका सम्बन्ध आत्यन्तिकप्रलयके साथ है और उत्पन्न पदार्थोंका जो सब दिन नाश वा क्षय हो रहा है उसको नित्य प्रलय कहते हैं। चतुर्विधभूतसंघोंके पिण्डोंमें और उनके सम्बन्धसे सृष्टिके सब पदार्थोंमें इस प्रलयका दृश्य प्रतिमुहूर्त्त दिखाई देता है। इन शेष दोनों प्रलयोंके साथ अधिभूत सृष्टिका सम्बन्ध है। स्वरूप अलग अलग होनेपर भी ये चारों प्रलय प्रलयशब्द वाच्य ही हैं ॥२॥

उसकी पूर्वावस्थाका वर्णन करते हैं :—

उसकी पूर्व दो अवस्थायें भी मायाके वैभवसे होती हैं ॥३॥

लयसे पूर्व सृष्टि-स्थितिरूपी दो अवस्थायें भी मायाके वैभवसे ही होती हैं। ब्रह्मशक्ति महामाया त्रिगुणमयी होनेसे उनके ही त्रिगुण प्रभावसे सृष्टिस्थितिलयका होना स्वतः सिद्ध है। महामायाका स्वरूप रज, सत्त्व और तमोमय होनेसे उन गुणोंके प्रभावसे यथाक्रम सृष्टि. स्थिति और लय हुआ ही करता है। प्रलयका स्वरूप जाननेपर जिज्ञासुको कारण अन्वेषणमें शङ्का होती है, इसकारण

·तत्पूर्वावस्थे अपि मायावैभवात् ॥३॥

शङ्काके समाधानमें स्पष्ट कर दिया गया कि सृष्टि—स्थिति लय तीनों हीका कारण मायाका वैभव है। इस सूत्रमें 'अपि' शब्द तीनोंका ही द्योतक है ॥३॥

प्रसङ्गसे मायाका स्वरूप कहते हैं :—

माया जो जैसा नहीं है उसको वैसा जतानेवाली है ॥४॥

अब ऐसी वैभवशालिनी त्रिगुणमयी ब्रह्मशक्ति महामायाके स्वरूपका विशेष वर्णन कर रहे हैं। इस पादका प्रधान तात्पर्य जीवको बन्धनसे मुक्त करनेका है। यद्यपि चारों प्रकारके प्रलय ही प्रलयशब्दवाच्य हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अघटनघटनापटीयसी महामायाके प्रभावसे जीव जिस भुलभुलैयारूपी आवागमनचक्रमें फँस जाता है, उस बन्धनके प्रभावके साथ जीवका बहुत बड़ा सम्बन्ध है और वह बन्धन केवल आत्यन्तिक प्रलयसे ही नष्ट होता है। सुतरां आत्यन्तिक प्रलयमें सफलता देनेके अर्थ ही पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकारने जब इस पादका आविर्भाव किया है तो मायाका स्वरूप यथासम्भव विशेषरूपसे समझा देना उचित ही है। अतः कहते हैं कि विपरीत ज्ञान करानेवाली अर्थात् जो जैसा नहीं है उसको वैसा जतानेवाली माया ही है।

असत्में सत्ज्ञान कराना, नाशवान् पदार्थोंको चिरस्थायी सा प्रतीत कराना, क्षणभङ्गुर इन्द्रियसुखको चिरस्थायी ब्रह्मानन्दरूपमें प्रतीत कराना, जड़ शरीरमें चेतन आत्माका भाव कराना इत्यादि कार्य्योंको देखनेसे ही महामायाका यह लक्षण भलीभाँति सिद्ध

अतद्वति तद्वत्ता द्योतिका सा ॥४॥

होता है। वस्तुतः महामाया जो पदार्थ जैसा नहीं है उसको उसी प्रकारसे दिखाती हुई सृष्टिलीलाको विस्तार किया करती है। इस विज्ञानको और स्पष्टरूपसे समझनेके लिये विचार किया जा सकता है कि मूलप्रकृति महामायाके सत्त्व, रज और तम इन तीन प्रकारके जो तीन स्वभाव सिद्ध गुण हैं, उनमेंसे सत्त्वगुणसे ज्ञान और तमोगुणसे अज्ञानका सम्बन्ध है। क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशमय निर्मल और शान्त है और तमोगुण अन्धकारमय, आवरण करनेवाला और जड़त्व उत्पादक है। परन्तु इन दोनोंमें ही क्रियाकी शक्ति नहीं है। इन तीनोंमेंसे रजोगुणही सचेष्ट और क्रियावान् है। रजोगुण जब सत्त्वकी ओर प्रवाहित होता है तभी जीवमें पुण्यमय वृत्ति और ज्ञानका उदय होता है और जब वह रजोगुण तमकी ओर प्रवाहित होता है तब जीवमें पापमयी वृत्ति और अज्ञानका उदय होता है।

विशेषतः प्रकृतिमें ये तीनों गुण जब स्वाभाविकरूपसे रहते हैं, तो इन तीनों गुणोंकी क्रियाका भी स्वाभाविकरूपसे होते रहना स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर रजोगुणका धर्म क्रिया कराना है अतः उस स्वाभाविक क्रियाके साथही साथ सृष्टिप्रपञ्चमें ज्ञान और अज्ञान, चेतन और जड़की अवस्थाका परिणाम होना भी स्वतः सिद्ध है। जब प्रकृति रजोधर्मसे युक्त होकर स्वतः परिणामिनी होती हुई सत्त्वमयी होती है तभी वह ज्ञानजननी बन जाती है और जब वह तमोमयी बन जाती है तब वह अज्ञान जननी कहाती है। इसी कारण शास्त्रोंमें ब्रह्मशक्ति महामायाको विद्या और अविद्या नामसे दो भेद कहे हैं। ज्ञानजननी विद्या और अज्ञान जननी

अविद्याके विषयमें पहले वहुत कुछ कहा गया है। सृष्टि और स्थितिकी दशामें अविद्याका प्रभाव अक्षुण्ण रहता है और जीवके जीवन्मुक्त दशामें अर्थात् आत्यन्तिक लयावस्थामें विद्या ही कारण बनती है। सुतरां मुक्तिमार्ग प्रदर्शनके अर्थ यह कहा गया है कि अविद्या रूपिणी प्रकृति जो जैसा नहीं है उसको वैसा बतानेवाली है और यही जीवके बन्धनका कारण है ॥४॥

उसका प्रधान कार्य कहते हैं:—

द्वैतभान उसकी प्रधान क्रिया है ॥५॥

अविद्या रूपिणी प्रकृतिकी प्रधान क्रिया द्वैतका दिखाना है। एक अद्वितीय परब्रह्मकी सत्ताके सिवाय और दूसरी सत्ता कोई भी नहीं है। सत् चित् और आनन्द सत्ता ये तीनों अद्वितीय ब्रह्म-सत्तासे अलग नहीं है। परन्तु वही ब्रह्मशक्ति जब जगत् प्रपञ्च प्रसव करती है और अविद्यारूपधारण करके वहिर्मुखिनी और स्वतन्त्रा होती है, तो उस दशामें उसका प्रधान कार्य अद्वितीय ब्रह्मसत्तामें द्वैतका भान कराना होता है तब वह जैसे पत्थरके खम्भेमें मूर्त्तियाँ खुदनेपर पत्थरसे अलग वस्तु प्रतीत होती है उसी प्रकार एकही अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतका भान कराती है। यही द्वैतका भान करानाही चित्स्वरूप जीवको बन्धनमें डालना है। जीव वस्तुतः चित् स्वरूपही है परन्तु वह अपनेको शरीर मानकर द्वैतभान हो जाता है। सब देश, सब काल और सब पात्रमें यही द्वैतभान भावका उत्पन्न करना अज्ञान जननी अविद्यारूपिणी प्रकृतिका प्रधान कार्य है ॥५॥

द्वैतभानमस्या गुरुकर्म ॥५॥

अपने सिद्धान्तकी पुष्टिकेलिए दार्शनिक मतोंका समन्वय कर रहे हैं:—

क्रिया प्राधान्यके कारण उसे शक्ति कहते हैं ॥६॥

यह दर्शन मध्यमीमांसा होनेके कारण सब मतोंका समन्वय इसमें रहना उचित है। इस कारण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार ब्रह्मशक्ति महामायाके नाना दार्शनिक नामोंका समन्वय क्रमशः कर रहे हैं। सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया जब महामायाकाही कार्य है, महामायाके ही त्रिगुण प्रभावसेही जब एक परमाणुसे लेकर एक ब्रह्माण्डपर्यन्तमें सब कुछ क्रिया होती है और जब वह परिणाम धर्म्मिणी है, तो उसका शक्तिनाम होना ही उचित है। जब स्थूलातिस्थूल प्रपञ्चसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रपञ्चका विचार पदार्थवादी विद्वान्‌गण अथवा दार्शनिकगण करते हैं; तो सबके अन्तमें उनको यही प्रतीत होता है कि एक परिणाम उत्पन्न करनेवाली क्रियाशील अन्तिम तत्त्व है जो सबका कारण है। इसी विचारसे उसका शक्ति नाम यथायोग्य ही है ॥६॥

प्रसङ्गसे शक्तिके भेद कह रहे है :—

वह शक्ति चार प्रकारकी है ॥७॥

ब्रह्मशक्तिको योगिराज महर्षियोंने समझानेके अर्थ चार स्तरोंमें विभक्त करके चार भेद वर्णन किये हैं। उन चारोंके भेद स्मृति-

---

शक्तिरेषा क्रियाप्राधान्यात् ॥६॥

चतुर्विधा ॥७॥

शास्त्रोंमें इस प्रकारसे कहा है कि ब्रह्ममें अव्यक्तरूपसे रहनेवाली शक्तिको तुरीया शक्ति कहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रसविनी महा-शक्तिको कारणशक्ति कहते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी शक्तियाँ जो सृष्टि स्थिति लय करती हैं वही सृष्टि स्थिति-लयकारिणी शक्ति सूक्ष्मशक्ति कहाती है। और स्थूल प्रपञ्चकी रक्षाके लिये जो स्थूलशक्तियाँ जड़जगत्में काम करती हैं वही स्थूलशक्ति कहाती है। पदार्थविद्यावित् केवल इसी शक्तिका कुछ रहस्य जान सकता है। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्यशरीरमें नखरोम आदि हैं और उनके रहने न रहनेके साथ शरीरका अधिक सम्बन्ध नहीं है वैसेही यह स्थूलशक्ति सृष्टिमें रहकर कार्य करती है। इन शक्तियोंका विस्तारित विवरण स्थितिपादमें किया ही गया है ।७॥

दूसरी संज्ञाका विज्ञान कह रहे हैं :—

त्रिमूर्तिकी जननी होनेसे वह विश्वयोनि कहाती है ॥८॥

वस्तुत: ब्रह्म निगुर्ण निर्लेप और निष्क्रिय हैं, सृष्टिस्थिति-लयका कार्य प्रकृतिसे ही सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार वक्ताकी वक्तृत्वशक्ति वक्तामें अव्यक्तावस्थामें रहते समय लयीभूत रहती है और उसकी स्वतन्त्रसत्ता कुछभी नहीं रहती है परन्तु उस वक्तासे उसकी वक्तृत्वशक्ति व्यक्त होती है तो उस समय वही वक्तृत्वशक्ति श्रोताओंके सुखादिका कारण होकर श्रोताओंके चित्तमें अनेक विचित्रता उत्पन्न करती है, ठीक उसीप्रकार अव्यक्तावस्थामें

विश्वयोनिस्त्रिमूर्त्तिजननात् ॥८॥

ब्रह्मशक्ति तुरीय दशाको प्राप्त होकर लयभूत रहती है उस समय उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता और वही ब्रह्मशक्ति व्यक्तावस्था-को प्राप्त होकर त्रिगुणधारिणी बन जाती है। वह व्यक्त होतेही अपने तीन गुणोंकी क्रियाकी सुरक्षाके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशको प्रसव करती है। तीनों गुणोंके ये तीन देवताओंको वह कारण-रूपिणी महाशक्ति प्रसव करती है इस कारण उसको विश्वयोनि कहते हैं। वस्तुतः ब्रह्म जगत्कारण नहीं होसकते, व्यक्ता कारण-रूपा ब्रह्मप्रकृति ही जगत्कारण है ।।८।।

अन्य संज्ञाका विज्ञान कहा जाता है :—

सृष्टिके कारण उसे प्रकृति कहते हैं ।।९।।

जिस प्रकार अग्निका गुण दाहिका शक्ति है उसी उदाहरणके अनुसार प्रकृतिका तीन गुण सत्त्व, रज, तम समझना उचित है। अतः सृष्टि करना स्थितिकरना और लय करना यह प्रकृतिका स्वभाव है। सुतरां सृष्टिकार्य प्रकृतिसे ही होता है। और दूसरी ओर "प्रकरोतीति प्रकृतिः" इस धातुगत अर्थसेभी प्रकृतिका यही कार्य जाना जाता है, इस कारण प्रकृति नाम योग्य ही है ।।९।।

अन्य कहा जाता है :—

ज्ञान जननी होनेसे वह विद्या है ।।१०।।

परिणाम स्वभावा त्रिगुणमयी प्रकृतिका प्रवाह जब तमोगुणकी ओरसे सत्त्वगुणकी ओर होता है तो वही सत्त्वगुणमयी प्रकृति विद्या

प्रकृतिः सर्ज्जनात् ।।९।।

विद्या ज्ञानजननात् ।।१०।।

कहाती है। जितना जितना तमोगुण घटता जायगा उतनाही निर्मलत्वके कारण आत्माकी चित्तसत्ताका विकाश होनेपर ज्ञानकी अभिवृद्धि होती जाती है। अतः विद्या ही ज्ञान जननी है और ज्ञानजननी होनेसेही उसका नाम विद्या है ॥१०॥

अन्य कहा जाता है:—

अज्ञानाधिष्ठात्री होनेसे वह अविद्या है ॥११॥

स्वभावसे परिणामिनी त्रिगुणमयी प्रकृतिका प्रवाह जब तमकी ओर होता है तो वह मल, विक्षेप और आवरणको प्रसव करनेवाली अज्ञान अधिष्ठात्री प्रकृति अविद्या कहाती है। चिज्जड़ ग्रन्थि होते समय यही अविद्यारूपिणी प्रकृति किस प्रकार जीवके जीवत्वको उत्पन्न करती है, वह पहले अच्छी तरह कहा गया है। जीवदशामें यही अविद्यारूपिणी तमोमयी प्रकृति ही जड़त्व, पाप और अज्ञान उत्पन्न करके आवागमनचक्रमें जीवको फँसाये रखती है। अतः अज्ञान अधिष्ठानहेतु उसका अविद्या नाम यथायोग्य ही है ॥११॥

प्रसङ्गसे दोनोंका कार्य्य कहा जा रहा है :—

अद्वैत और द्वैत अनुभव दोनोंका कर्म है ॥१२॥

मुक्त तथा बन्धनदशाके विचारसे दो स्वतन्त्र अनुभव हैं। अद्वैत अनुभव मुक्तिका कारण है और द्वैत अनुभव बन्धनका कारण है। मीमांसात्रयके अनुसार चाहे मुक्तिका अनुभव कोई कैसाही कहे सबमें अद्वैत अनुभवही अन्तिम सीमा है। कर्म्मयोग-

---

अविद्याऽज्ञानाधिष्ठानात् ॥११॥
अद्वैतद्वैतानुभवो द्वाभ्याम् ॥१२॥

द्वारा जगत् सेवाही ब्रह्मसेवा है यह अनुभव अद्वैत अनुभवकाही कार्य है।

भक्तिविज्ञानके अनुसार पराभक्तिदशामें, यों सब अवस्था और सब स्थलमें भगवद्द्दर्शनका जो अनुभव है वह भी अद्वैत अनुभवका-ही कार्य है। सुतरां मुक्तिदशामें अद्वैत अनुभव सर्वसम्मत है। उसी प्रकार बन्धनदशामें द्वैत अनुभव तो सर्ववादिसम्मत है। विशेषतः जब अद्वैत अनुभव मुक्तिका कारण है तो द्वैत अनुभव बन्धनका कारण होगा इसमें विचारकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः विना द्वैत अनुभवके सृष्टिप्रपञ्चका अस्तित्वही सिद्ध नहीं होता है। इन्हीं दोनों अनुभवोंमेंसे एक विद्याका कार्य्य है और दूसरा अविद्याका कार्य्य है ॥१२॥

अन्य संज्ञाका विज्ञान कहा जाता है :—

प्रपञ्चका आश्रय होनेसे वह प्रधान है ॥१३॥

जिस प्रकार जलबुद्बुद् जलके ही अवस्था-विशेषसे उत्पन्न होकर जलकेही आश्रयसे रहता है, उसी प्रकार संसारप्रपञ्च प्रकृतिकेही गुणसे उत्पन्न होकर प्रकृतिके आश्रयसे रहता है।

व्यक्तावस्थामें मूल प्रकृति अपनेही त्रिगुणके कारण परिणा-मिनी होकर चतुर्विंशतितत्त्वोंमें विस्तृत होकर जगत् प्रपञ्चकी सृजन करती है। पञ्चस्थूलभूत, पञ्च तन्मात्रा, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञाने-न्द्रिय, मन, अहंतत्त्व और महत्तत्त्व ये तेईस तत्त्व, चौविसवां मूलतत्त्व प्रकृतिसेही त्रिगुण परिणामद्वारा उत्पन्न होकर स्थित रहते हैं।

प्रधानं प्रपञ्चाश्रयत्वात् ॥१३॥

इनसेही स्थूल सूक्ष्मात्मक समष्टि व्यष्टि सृष्टि बनती है। सुतरां मूलतत्त्व होनेसे प्रकृतिका प्रधान कहलाना युक्तियुक्तही है ॥१३॥

उसके कार्यका स्वरूप कह रहे हैं:—

मायाके त्रिगुणमयी होनेसे प्रपञ्चका त्रिगुणत्व है ॥१४॥

जगत् कारणरूपिणी ब्रह्मशक्ति जब त्रिगुणमयी है तो उसका कार्यरूपी यह जगत्‌भी त्रिगुणमय होगा यह स्वतः सिद्ध है। सृष्टि-स्थिति लय ये तीनों क्रम तीनों गुणोंके अनुसारही व्यष्टि परमाणुसे लेकर समष्टि ब्रह्माण्ड पर्य्यन्त सबमें पाये जाते हैं। पुनः स्थूल-प्रपञ्चकी प्रत्येक वस्तु तथा सूक्ष्म प्रपञ्चवस्तु वृत्ति आदि सबही त्रिगुणात्मक हैं। इस संसारमें त्रिगुणसे अतीत कोई पदार्थ है न हो सकता है। इसी कारण श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे कहा है कि:—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

अर्थात्—हे भक्त अर्जुन! संसार ज्ञापक वेद त्रिगुणसे पूर्ण हैं तुम त्रिगुणातीत होकर मुक्त हो ॥ १४ ॥

निजमार्गसे गुणातीत पद प्रतिपादनार्थ भक्तोंके भेद कहे जाते हैं—

भक्त चार प्रकारके हैं ॥१५॥

संसारकी यावत् वस्तु त्रिगुणात्मक होनेपर भी भक्त चतुर्विध होते हैं। भक्तके चार प्रकारके होनेका कारण यह है कि भक्ति ही भक्तको

अस्यास्त्रैगुण्यात्त्रैगुण्यं प्रपञ्चस्य ॥१४॥
चतुर्विधा भक्ताः ॥१५॥

गुणातीत पद प्रदान करती है। इस कारण गुणातीत अवस्थाके साथ भी भक्तिमार्गका सम्बन्ध अवश्यसम्भावी है। श्री भगवान्ने निजमुखसे कहा है—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'॥

हे भरतर्षभ ! सुकृतिजन चार प्रकारसे मेरा भजन करते हैं, वे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी होनेसे चार प्रकारके होते हैं ॥१५॥

विशेषता कही जाती है :—

त्रिगुणके अनुसार तीन और चार ज्ञानी गुणातीत हैं ॥१६॥

प्राकृतिक सृष्टिके नियमानुसार तीन प्रकारका भक्त होना स्वतः सिद्ध है। वे ही तीन आर्तभक्त जिज्ञासु भक्त और अर्थार्थी भक्त कहाते हैं। त्रितापोंमेंसे किसी तापसे तापित होकर दुःखसे बचनेके लिए जो श्रीभगवान्के शरणापन्न होता है वही आर्तभक्त है। केवल दुःख विमुक्ति लक्ष्य होनेसे आर्त भक्त तामसिक है इसमें सन्देह ही नहीं। क्योंकि केवल दुःख विमुक्ति ही उसका उद्देश्य रहता है। अनुसन्धान इच्छुक जिज्ञासु भक्त भगवन्महिमाकी ओर आकृष्ट होता है इसलिये उसमें जिज्ञासु बुद्धि होती है, अतः वह द्वितीय श्रेणीका भक्त राजसिक है। तीसरा सात्त्विक भक्त अर्थार्थी है। क्योंकि स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोकार इन चारों प्रकारके अर्थोंमें-से किसीकी सिद्धिकेलिए वह भक्त भगवत्शरणापन्न होता है।

गुणात्मकास्त्रयो गुणातीतश्चान्त्यः ॥१६॥

यद्यपि इन चारोंमेंसे उत्तरोत्तर अर्थ एकसे श्रेष्ठ है परन्तु चारों ही अर्थशब्द वाच्य हैं। और चारों ही अभ्युदय अथवा निःश्रेयसके हेतु होनेसे साक्षात् रूपसे धर्म्म अथवा मोक्ष मूलक हैं। इस कारण ये तीनों श्रेणीके भक्त सृष्टिराज्यसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। और चतुर्थ सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी भक्त सृष्टिराज्यसे अतीत गुणातीत और परम-पदका अधिकारी है। क्योंकि वह आत्मज्ञानी होनेसे वासना-रहित है ॥१६॥

चतुर्थकी विशेषता कर रहे हैं—

सब भक्त भगवान्को प्रिय हैं ज्ञानीभक्त उनका स्वरूप है ॥ १७ ॥

भक्तिकी सहायता और श्रीभगवान्का आश्रय होनेसे सब भक्त ही उदार हैं, इसमें सन्देह ही क्या है। यह पहले ही भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि भगवान् और भागवतमें भेद नहीं है। विशेषतः श्रीभगवान् भक्तके हृदयमन्दिरमें ही नित्य विराजते हैं। अतः भक्त चाहे किसी श्रेणीके हों, वे उदारचरित हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आत्माराम, आत्मतत्त्वज्ञ पराभक्तिके अधिकारी ज्ञानी भक्त भगवान्के तुल्य ही हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्र ऊर्द्धबाहु होकर साक्षी देता है।

भगवद्गीता और शक्तिगीतामें कहा है कि :—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

सर्वे तत्प्रिया ज्ञानी तु तदभिन्नः ॥१७॥

चतुर्थो ज्ञानी भक्तस्तु मत्स्वरूपो न संशयः।
ज्ञानिनां मम भक्तानां नास्ति भेदो मया सह ॥
त एवाहमहो देवा अहमेव च ते मताः।
नात्र कश्चन सन्देहः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

सब भक्त ही उदार हैं किन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा है। चतुर्थ ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा है। हे देवगण! ज्ञानी भक्तोंमें और मुझमें भेद नहीं है, वे ही मैं और मैं ही वे हूँ। मैं सत्य सत्य कहता हूँ; इसमें सन्देह नहीं ॥१७॥

प्रसङ्गसे जीवन्मुक्ति सम्बन्ध बताया जाता है :—

ज्ञानी भक्तकी दशा जीवन्मुक्ति कहाती है ॥१८॥

ज्ञानी भक्त गुणातीत है और गुणजनित बन्धनसे मुक्तिलाभ करनेपर भाग्यवान् साधक जीवन्मुक्त कहाता है। सुतरां ज्ञानी भक्त और जीवन्मुक्त एक ही अवस्थाका परिचायक है। जब साधक वैधी भक्तिसे रागात्मिका भक्तिका अधिकार प्राप्त कर मल और विक्षेपको दूर कर लेता है तो अन्तमें पराभक्तिका अधिकारी होकर आत्मसाक्षात्कार करके आवरण नाश कर लेता है। यही मल विक्षेप और आवरणरहित ज्ञानी भक्तकी शुद्ध अवस्था ही जीवन्मुक्ति कहाती है। कर्म्मसे मलका नाश होता है, क्योंकि मल स्थूलशरीराव-च्छिन्न धर्म्म है। योगसे विक्षेपका नाश होता है क्योंकि विक्षेप वृत्ति-

---

तस्य भावोजीवन्मुक्तिः ॥१८॥

चाञ्चल्यसे ही उत्पन्न होता है। और आवरण ज्ञानसे दूर होता है क्योंकि वह बुद्धिको ढाके रखता है। अतः क्रिया प्रधान वैधीभक्तिसे मलका नाश और भावप्रचुर योग शक्तिमय रागात्मिका भक्तिके द्वारा विक्षेपका नाश होकर ज्ञानी भक्तकी तत्त्वज्ञान पूर्णदशामें आवरणका नाश होकर भाग्यवान् भक्त मूर्तिमान् ब्रह्मपदवीप्राप्त जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार भर्जित बीजसे भोजनका आनन्द मिलनेपर भी उसमें अङ्कुरोत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रहती है उसी प्रकार त्रिगुणात्मक सृष्टिमें रहता हुआ जीवन्मुक्त त्रिगुणसे बन्धनको नहीं प्राप्त होता है। मल, विक्षेप और आवरणको जय करके जब भाग्यवान् साधक ज्ञानी भक्तकी पदवीको प्राप्त करता है उसका वह स्वरूपस्थ भाव ही जीवन्मुक्ति कहाता है। यही पद गुणातीत है। गुणातीत इस पदके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा वर्णन है:—

सर्वेषु प्राणिपुञ्जेषु येषामुत्पद्यते ननु।
ब्रह्मबुद्धिर्महात्मानो जीवन्मुक्ता भवन्ति ते॥
अपरोक्षं ध्रुवं येषां ब्रह्मज्ञानं प्रजायते।
ते महापुरुषा लोके जीवन्मुक्ता न संशयः॥
देहोऽस्मि पुरुषश्चास्मि शूद्रोऽस्मि ब्राह्मणोऽस्मि च।
यथेत्थं दृढविश्वासस्तथैव पितृपुङ्गवाः!॥
नाहं देहो न पुरुषो न शूद्रो ब्राह्मणो न च।
निजस्वरूपे किन्त्वस्मि सच्चिदानन्दरूपकः॥
प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी सर्वात्मको विभुः।
अस्म्यहं सर्वथा नूनं चिदाकाशस्वरूपकः॥

जिन महात्माको सब प्राणिमात्रोंमें ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न हुई है, वे महात्मा जीवन्मुक्त हैं। जिनको अपरोक्षरूपसे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, वे महापुरुष संसारमें जीवन्मुक्त हैं। जैसे मैं देह हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ इस प्रकारसे दृढ़ निश्चय होता है, वैसे ही मैं देह नहीं हूँ, न पुरुष हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न शूद्र हूँ किन्तु अपने स्वरूपमें सत्य ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द स्वरूप प्रकाशरूप सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा विभु और चिदाकाशरूप हूँ—

निश्चयो दृढ़ एवं योऽपरोक्षज्ञानमस्ति तत्।
बोद्धव्यमेतत् पितरोऽपरोक्षज्ञानलक्षणम्॥
अहं ब्रह्मास्मि, इत्येवाऽपरोक्षज्ञानयोगतः।
सर्वकर्मावलीबन्धनिवृत्ति र्जायते ध्रुवम्॥
प्रारब्धं सञ्चितं कल्याः! आगामीति प्रभेदतः।
प्रोच्यते त्रिविधं कर्म कर्मतत्त्वविशारदैः॥
अनन्तकोटिजन्मौघेऽभुक्तानां कृतकर्मणाम्।
नूनं संस्कारभूतं यद्बीजवत् कारणान्वयि॥
अस्ति पूर्वार्जितं कर्म जातं तत् कर्म सञ्चितम्।
जनकं स्थूलदेहस्य देहेऽस्मिन्नेव च प्रदम्॥
सुख दुःखादि भोगानामास्ते पूर्वार्ज्जितश्च यत्।
प्रारब्धं प्रोच्यते कर्म तदेवाहो स्वधाभुजः!॥
जीवद्देहकृतं कर्म पापपुण्यात्मकं किल।
आस्ते यन्नूतनं कर्म तदाऽगामि प्रचक्ष्यते॥

ब्रह्मैवास्मीत्यहं कल्याः ! निश्चयात्मकताजुषा ।
तत्र ज्ञानाग्निना कर्म सञ्चितं दह्यते ध्रुवम् ॥
संस्कारात्मकबीजौघ आस्ते सञ्चितकर्मणाम् ।
चित्ताकाशेषु सर्वेषां प्राणिनां निहितो ननु ॥
यदा ज्ञानिमहात्मनोऽपरोक्षज्ञानयोगतः ।
पञ्चकोषा ह्ययं नैव तेभ्योऽतीतो ह्यसंशयम् ॥

ऐसा दृढ़ निश्चय होना अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। हे पितृगण ! इसको अपरोक्षज्ञानका लक्षण समझो। मैं ब्रह्म ही हूँ इस प्रकारके अपरोक्ष ज्ञानसे सब कर्म बन्धनोंकी निश्चय निवृत्ति हो जाती है। हे पितृगण ! सञ्चित, प्रारब्ध और आगामी ये तीन प्रकारके कर्म कर्मतत्त्वज्ञोंने कहे हैं। जिनका भोग उत्पन्न नहीं हुआ है और जो अनन्तकोटि जन्मोंमें किये हुये कर्मोंके संस्कारभूत हैं एवं बीजवत् कारणरूप जो पूर्वार्जित कर्म है, ये सञ्चितकर्म कहाते हैं। स्थूलशरीरके उत्पादक अर्थात् कारण और इसी देहमें सुख-दुःख आदि भोगोंको देनेवाले जो पूर्वजन्मार्जित कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कर्म कहाते हैं। जीवके देहसे किये हुये जो पाप पुण्यात्मक नये कर्म है, ये आगामिकर्म कहे जाते हैं। इन तीन प्रकारके कर्मोंमें से ज्ञानीके सञ्चितकर्म "ब्रह्मही मैं हूँ" ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानकी अग्निसे जल जाते हैं। सञ्चितकर्म-समूहके संस्काररूप बीज सब प्राणियोंके चित्ताकाशमें जमा रहते हैं, जब ज्ञानी महापुरुष अपरोक्ष ज्ञानसे यह जान जाते हैं कि मैं पञ्चकोश नहीं हूँ। मैं पञ्चकोशोंसे

अतीत और उनमें द्रष्टा शुद्ध, बुद्ध और सनातन आत्मा हूँ स्मृतियोंमें यथा"—

आत्मा तद् द्रष्टृरूपोऽस्मि शुद्धो बुद्धश्च शाश्वतः ।
इत्थमेव विदन्तीह पञ्चकोशस्थितेषु वै ॥
सञ्चिताः कर्मसंस्काराश्चित्ताकाशेषु संस्थिताः ।
तिष्ठन्तोऽपि हि तेष्वेव न मुक्तान् बद्धमीशते ॥
ज्ञानिनामिह मुक्तानां प्राणिनां पितृपुङ्गवाः !
प्रारब्धकर्मणां नाशो भोगादेव प्रजायते ॥
सञ्चितागामिकर्माणि यतो मुक्तमहात्मनाम् ।
नैव स्पृशन्ति मुक्तांस्तान् ब्रह्माण्ड प्रकृतिं ह्यतः ॥
आश्रयन्ते च भुज्यन्ते समष्ट्यात्मकतो ध्रुवम् ।
ब्रह्माण्डे शोभने यत्र मुक्तात्माऽसावजायत ॥

तब पञ्चकोषमें स्थित चित्ताकाशमें रहनेवाले सञ्चितकर्म संस्कारभी पञ्चकोशमें ही रह जाते हैं और उन मुक्तात्माओंका बन्धन नहीं कर सकते। ज्ञानी मुक्त पुरुषोंके प्रारब्ध कर्मोंका क्षय भोगसेही होता है। मुक्तात्माके आगामी और सञ्चित कर्म मुक्तात्माको स्पर्श नहीं कर सकते वे ब्रह्माण्ड प्रकृतिको आश्रय करते हैं। उस ब्रह्माण्डमें समष्टिरूपसे ये कर्म भोगे जाते हैं, अर्थात् जिस पवित्र ब्रह्माण्डमें यह मुक्तात्मा उत्पन्न हुआ था—

ब्रह्माण्डस्य हि तस्यैव तानि कर्माणि निश्चितम् ।
समष्ट्यात्मक प्रारब्धे सम्मिलन्ति स्वधाभुजः ! ॥

समष्टि कर्मभिस्तैर्हि तद्ब्रह्माण्डस्य भूतिदाः ।
समष्टिसुखदुःखानि प्राप्यन्ते प्राणिभिर्ध्रुवम् ॥
सत्यत्रेताद्वापराणां कलेश्चैव समुद्भवे ।
सहायकानि जायन्ते काले तानि भविष्यति ॥
ज्ञानिनां मम भक्तानां भोगो भवति कर्मणाम् ।
अन्येनापि प्रकारेण यथाग्रे वो ब्रवीम्यहम् ॥
ज्ञानिनो ये भजन्तीह नितरामर्चयन्ति च ।
ज्ञानिभिर्विहितः पुण्य कर्मांशो याति तान् प्रति ॥
दुःखप्रदानं कुर्वन्ति निन्दति ज्ञानिनश्च ये ।
ज्ञानिसम्पादितः पापकर्मांशस्तांस्तु गच्छति ॥
मुच्यन्ते ज्ञानिनो ह्येवं निखिलैः कर्मबन्धनैः ।
निष्कामाः भाग्यवन्तस्ते विचरन्ति महीतले ॥
ब्रह्मेशकोटिभेदेन जीवन्मुक्तो द्विधा मतः ।
प्रारब्धकर्मणां तत्र जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ॥
वैचित्र्यमेव हेतुः स्यात् प्रभेदे द्विविधे ध्रुवम् ।
ब्रह्मकोटिं समापन्ना जीवन्मुक्ता भवन्त्यहो ॥
देशकालौ न बाधेते कथञ्चित् किल कर्हिचित् ।
जीवन्मुक्ता महात्मान ईशकोटिं समाश्रिताः ॥
यत् किञ्चनेह संसारे कार्यं कुर्वन्ति सन्ततम् ।
कार्यं ममैव तत्सर्वं कुर्वते पितृपुङ्गवाः ! ॥
आत्मारामाः सदा मूका जगत्सम्बन्धवर्जिताः ।
ईशकोटिं श्रिता ये च जीवन्मुक्ताः स्ववेदिनः ॥

त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः।
संसक्ता विश्वकल्याणे संतिष्ठन्ते महीतले॥

उसी ब्रह्माण्डकी समष्टि प्रारब्धमें ये कर्म संमिलित हो जाते हैं। उन कर्मोंके द्वारा उस ब्रह्माण्डके समष्टि जीवोंके समष्टि सुखदुःख प्राप्त होता है एवं भविष्यत्कालमें सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग आदिकालके उत्पन्न होनेमें ये सहायक होते हैं। हे पितृगण! मेरे ज्ञानी भक्तोंके कर्मोंका प्रकारान्तरसे भोग ऐसाभी हो जाता है, जैसा आप लोगोंसे मैं कहता हूँ कि, ज्ञानीकी जो सेवा और पूजा करते हैं उनको ज्ञानके किये हुये पुण्यकर्मोंका अंश भोगना पड़ता है और जो ज्ञानीकी—

निन्दा करते हैं और उनको दुःख देते हैं, उनको ज्ञानीके किये हुये पापकर्मोंका अंश भोग करना पड़ता है, इसप्रकारसे ज्ञानी सब कर्मोंके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं और वे भाग्यवान् निष्काम होकर पृथिवीपर विचरते हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष दो श्रेणीके होते हैं, एक ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त और दूसरे ईशकोटिके जीवन्मुक्तमूलदशामें मुक्तात्माके अवशेष रहे हुये प्रारब्ध कर्मोंकी विचित्रताही इन दो भेदोंका कारण है।

ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त मूक और आत्माराम होते हैं। जगत्के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है और ईशकोटिके जीवन्मुक्त ईश्वर प्रतिनिधिरूप होकर भगवत्कार्यरूपसे जगत्कल्याणमें रत रहते हैं।

विश्वमेवम्विधैरेव हर्य्येकमात्रं स्वधाभुजः!।
भवन्त्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तैर्महात्मभिः॥

सन्ति भागवता एवं भगवद्रूपिणो ध्रुवम् ।
तेषां सततयुक्तानां मय्येव पितृपुङ्गवाः ! ॥
चित्ते सर्वज्ञता बीजं भवत्यारोपितं खलु ।
मत्कार्यतत्परास्तांश्च सर्वथा मत्परायणान् ॥

एकमात्र ऐसेही जीवन्मुक्त महापुरुषोंके उपकारसे उपकृत होकर जगत् धन्य होता है। हे पितृगण ! इस प्रकारसे भागवतगण भगवद्रूपही हो जाते हैं।

मुझमें ही सदा युक्त रहनेसे सर्वज्ञताका बीज उनके अन्तःकरण-में आरोपित होजाता है। सर्वथा मत्परायण और मेरे कार्यमें तत्पर होनेसे देश और काल उनको किसी प्रकार कभी बाधा नहीं दे सकते। ईशकोटिके जीवन्मुक्त इस संसारमें जो कुछ कार्य करते हैं सो मेरा ही कार्य करते हैं।

यतोऽन्तःकरणं तेषां जैवाऽहङ्कारवर्जितम् ।
पूर्य्यते समदर्शित्व-निरासक्त्यादिभिस्तदा ॥
भगवत्कार्यबुद्ध्यैव निरीक्ष्यन्ते निरन्तरम् ।
सर्वस्मिन् समये ते च पदार्थे केवलं रताः ॥
तज्ज्ञानं सर्वभूतेष्ववरोधशून्यतां गतम् ।
अत्रैक्यं खलु संस्थाप्याऽद्वैतभावं प्रपद्यते ॥
यदाऽहं ज्ञानिभक्तेषु प्रसीदामि तदैव ते ।
जीवन्मुक्तिपदं प्राप्तुं शक्नुवन्ति स्वधाभुजः ! ॥

क्योंकि उस समय उनका अन्तःकरण समदर्शिता और निरा-सक्तिसे पूर्ण होकर जैव अहङ्कारसे रहित हो जाता है, तब वे सब

अवस्थाओंमें भगवान्का काम समझकर केवल पदार्थ-कार्यमें ही निरन्तर रत देख पड़ते हैं। उनका ज्ञान तब सर्वभूतमें अवरोधशून्य होकर सर्वभूतोंमें एकता स्थापन करके अद्वैतभावको प्राप्त करता है।

हे पितृगण! मैं जब अपने ज्ञानी भक्तोंपर प्रसन्न होता हूँ तभी वे जीवन्मुक्तपदवीको प्राप्तकर सकते हैं ॥१८॥

प्रसङ्गसे मोक्षपद निर्णयार्थ ब्रह्मका स्वरूप कहा जाता है :—

वह ब्रह्म अक्षर है ॥१९॥

जीवन्मुक्ति पदका स्वरूप अनुशीलन करनेपर स्वतः ही मोक्ष-पदके स्वरूपकी जिज्ञासा होती है। उसी जिज्ञासाके अनुसार मोक्ष-पदके निर्णयार्थ ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनके निमित्त इस सूत्रमें प्रयत्न किया गया है। अतः पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि वह ब्रह्म नाश रहित है। प्राकृतिक विश्व नाशवान् है, किन्तु जिसके आधार-पर विश्वसृष्टि स्थित है वह ब्रह्मपद उत्पत्ति विनाश रहित नित्यरूपमें स्थित परिवर्तनशून्य अद्वितीय अक्षररूप है। जब वह अक्षर है तो वह सत् भी है, क्योंकि बिना सत् भावापन्न हुये अक्षरत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है और जब वह सत्रूप है तो चिद्रूप भी है क्योंकि बिना चित् सत्ताके सत् सत्ताका अनुभव हो ही नहीं सकता। और क्षररहित है तब अवश्यही वह आनन्दरूप है क्योंकि निरानन्दकी स्थिति क्षरपदमें ही होती है। अक्षरपद निरानन्द रहित होनेसे अवश्यही आनन्दमय है।

अक्षरं तत् ॥१९॥

अतः सच्चिदानन्दमय ब्रह्म अक्षर हैं। यथा श्रुतिमें है:—

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" ॥१६॥

प्रसङ्गसे स्वभावविज्ञान कहा जाता है :—

उनका स्वभाव अध्यात्म कहाता है ॥२०॥

सच्चिदानन्दमय अक्षररूपी ब्रह्मका जो स्वस्वभाव है वही अध्यात्म कहाता है। सत् चित् और आनन्द इन तीनोंकी जो अद्वैतसत्ता है और सदा जो एक रस रहती है वही रसरूपी परमात्मा ब्रह्मका चिन्मय स्वरूप है। उनकी प्रकृति जो 'अहं ममेतिवत्' इस उदाहरणद्वारा इस शास्त्रमें प्रतिपादित हो चुकी है, वह आनन्द-विलासके निमित्त सत्भावसे चित्भाव और चित्भावसे सत्भावके आश्रयसे स्वस्वरूपमें अपना वैभव दिखाती है। यह ब्रह्मप्रकृतिका स्वाभाविक व्यक्ताव्यक्तरहित भावही ब्रह्मका स्वभाव है। वस्तुतः ब्रह्म-प्रकृतिही ब्रह्मका स्वभाव है। उस ब्रह्मप्रकृतिकी अव्यक्तावस्थामें न उसकी स्वतन्त्र सत्ता अनुभूत होती है और न सत् चित् और आनन्द इन तीनोंकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता अनुभूत होती है। यही दशा अद्वैत स्वस्वरूपकी है। ब्रह्मप्रकृतिकी इस स्वभाव सिद्ध अवस्था जिसका वर्णनकर रहे हैं, उसमें उसकी स्वतन्त्र क्रिया अनुभूत होकर स्वरूपानन्दकी उपलब्धिके लिये कभी चित्सत्ताका प्राधान्य और कभी सत्सत्ताका प्राधान्य अनुभूत होता है। यही स्वभाव अध्यात्म कहाता है। इस दशामें ब्रह्म स्वभावका नाम अध्यात्म है और प्रकृति-का नाम तुरीया शक्ति है। श्रीभगवान्का ब्रह्म, ईश और विराड् इन

अध्यात्मं तत्स्वभावः ॥२०॥

तीनों रूपोंका जो वर्णन पहले भली-भाँति आ चुका है उन तीनोंमें ही यह स्वस्वभाव विद्यमान है। विराट् रूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके स्वाभाविक रूपसे अनादि अनन्त प्रवाहके अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव इस स्वभावसे सम्बन्ध रखता है। ईशरूपमें आनन्द विलासके कारण अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक प्राकृतिक क्रियाका जो स्वाभाविक इक्षणके मूलमें जो एक रस स्वाभाविकता है वही स्वस्वभाव है और वही अध्यात्म कहाता है। और ब्रह्मभावमें ब्रह्मानन्द अनुभव जो सत् चित् भावकी सहायतासे होता है वही स्वस्वभाव अध्यात्म कहाता है। ब्रह्मशक्ति महामायाका 'अहं ममेतिवत्' यह तुरीयभाव इस स्वस्वभावरूपी अध्यात्मभावमें प्रकाशित रहता है। ये भाव नित्य और अविकारी हैं। क्योंकि अक्षरभावके साथ इस भावका स्वाभाविक सम्बन्ध है। "आत्मानमधिकृत्य इति अध्यात्मम्" इस विचारसे केवल आत्मामें ही अधिष्ठान रखनेवाली जो ब्रह्म प्रकृतिकी स्थिति है उसीको अध्यात्म कहते हैं। इस अवस्थाको और तरहसे भी समझ सकते हैं।

स्वभाव और प्रकृति ये पर्यायवाचक शब्द हैं क्योंकि किसी मनुष्यका स्वभाव ऐसा कहनेसे उसकी प्रकृतिका ही बोध होता है। जो प्रकृति ब्रह्मके स्वस्वरूपके साथ साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाली है वही विकाररहित ब्रह्म प्रकृतिकी स्वाभाविक अवस्था अध्यात्म शब्दवाच्य है। विद्या अविद्याभावसे रहित अविकृत स्वभाव ब्रह्मप्रकृतिसेही इस अध्यात्म शब्दका तात्पर्य है। इसी सहज स्वभावको सहज कर्म द्वारा प्राप्त होकर आत्माराम जीवन्मुक्त मुक्तात्मा कहाते

हैं। इसी सहज स्वस्वभावको प्राप्त करके वासनारहित महापुरुषगण ऊर्द्ध्व सप्तमलोकमें शुक्लगतिद्वारा पहुँचकर सूर्यमण्डलभेदन द्वारा ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। और इसी स्वाभाविक सहजदशामें नित्य-स्थित रहकर ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी सगुण ब्रह्मगण ऐशकर्मके अन्तमें ब्रह्माण्डनायक कहाते हैं। वस्तुतः जिसप्रकार ब्रह्म-ईश—विराड्भावोंके साथ इस स्वस्वभावका सम्बन्ध है उसी प्रकार कर्म-बन्धनसे मुक्त इन ऊपर कथित तीनों दशाओंके साथभी इस स्व-भावका सम्बन्ध है। इस पद और स्वभावको लक्ष्य करकेही गीतोपनिषद्में कहा है कि :—

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते' ॥२०॥

अब प्रसङ्गसे स्वभाव विरुद्ध दशाका विज्ञान कहा जाता है :—

भूतभावको उत्पन्न करनेवाला जो विसर्ग है उसको कर्म कहते हैं ॥२१॥

पूर्व कथित स्वस्वभाव अवस्था गुण और कर्मसे अतीत है परन्तु जीवकी अवस्था गुण और कर्मसे युक्त है। अस्तु, गुण और कर्मरहित स्वस्वभावका जो त्याग है उसीको कर्म कहते हैं। कर्म-की दशा अस्वाभाविक है। यही अस्वाभाविक दशाही तम-अधिष्ठात्री अविद्याके साथ और सत्त्व अधिष्ठात्री विद्यासे सम्बन्ध-युक्त समझी जाती है। अर्थात् भूतभाव उत्पन्नकारी जो स्वस्वभाव अवस्था है उस अवस्थामें जब तमोगुणका सम्बन्ध रहता है तो

भूतभावकृद्विसर्गः कर्म्म ॥२१॥

वही अज्ञान दशा अविद्यासे सम्बन्धयुक्त और जब उसमें सत्त्वगुण-मयका प्रकाश रहता है तभी वह विद्यासे सम्बन्धयुक्त कही जाती है। यही अविद्याही भूतभावोद्भवकर विसर्गरूपी कर्मको उत्पन्न करती है। स्वभावकी सहजगति जब नष्ट हो जाती है तब प्रकृति-की विकृत दशामें कर्मका उदय होता है। इस विषयको अन्य-प्रकारसेभी समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिके साथ स्वभाव दशाका सम्बन्ध है और वैषम्यावस्था प्रकृतिके साथ अस्वाभाविक कर्मदशाका सम्बन्ध है।

जब तक ब्रह्मप्रकृति ब्रह्मसे साक्षात् सम्बन्ध रखकर तुरीया-वस्थामें रहती है और उसमें तीनों गुणोंका विकाश नहीं होता है उसीको स्वभाव कह सकते हैं। प्रकृति स्वाधीना होकर जब त्रिगुणको धारण करती हुई परिणामिनी होती है वही स्वभाव विरुद्ध अवस्था है। उसी प्राकृतिक स्पन्दन दशासे कर्मका सम्बन्ध है। वस्तुतः इस दशामें स्वस्वभावका त्याग हो जाता है। यही भूतभावोद्भव कर विसर्ग अर्थात् त्याग कहाता है। क्योंकि इसी कर्मकी दशामें सृष्टिस्थिति लय क्रिया होती रहती है। स्मृतियोंमें कहा है :—

अहं ममेतिवद्भेदो पन्था नास्ति दिवौकसः।
मन्मच्छक्त्य्यो स्तथा कर्म्म मच्छक्त्यो नास्ति भिन्नता॥
देवाः! उद्भावकं सत्त्वतमसोः कर्म कथ्यते।
धर्म्मः सत्त्वप्रधानत्वादधर्म्यस्तद्‌ विपर्य्यात्॥
गूढं रहस्यं धर्म्मस्याऽधर्म्मस्याप्येतदेव हि।
जैवेश सहजाख्याभिस्त्रिधा कर्म विभिद्यते।

बीजञ्च कर्मणो ज्ञेयं संस्कारो नात्र संशयः ।
मम प्रभावतो देवाः ! व्यष्टिसृष्टिसमुद्भवे ॥
चिज्जड़ग्रन्थिसम्बन्धाज्जीवभावः प्रकाशते ।
स्थानं तदेव संस्कारसमुत्पत्तेर्विदुर्बुधाः ॥

ब्रह्मशक्ति महामाया देवताओंसे कहती है कि हे देवगण ! जैसे मुझमें और मेरी शक्तिमें "अहं ममेतिवत्" भेद नहीं है, उसी प्रकार मेरी शक्ति और कर्ममें भेद नहीं है। कर्म ही सत्त्व और तमका उद्भावक होनेसे सत्त्व प्रधानतासे धर्म और तमः प्रधानतासे अधर्म कहाता है। धर्म और अधर्मका यही गूढ़ रहस्य है। कर्म साधारणतः जैव, ऐश और सहज रूपसे तीन भेदोंमें विभक्त है। कर्मका बीज संस्कार जानो इसमें सन्देह नहीं। हे देवगण ! मेरे प्रभावसे व्यष्टि सृष्टि होते समय चित् और जड़की ग्रन्थि बन्धकर जीवभावका प्राकट्य होता है। वही संस्कार उत्पत्तिका स्थान है ऐसा विज्ञगण समझते हैं ॥२१॥

प्रसङ्गसे सृष्टिका अधिदैव विज्ञान कहा जाता है :—

उनका अधिदैवभाव ईश्वर कहाता है ॥२२॥

लयके निमित्त आत्मज्ञान निर्णयार्थं ब्रह्मका स्वरूप निर्णय करके तदनन्तर ब्रह्मप्रकृति महामायाके सम्बन्धसे अविकृत स्वभाव और अविकृत विभावरूपी कर्मदशाका वर्णन करनेके पश्चात् अब सृष्टिके साथ ब्रह्मके किस स्वरूपका सम्बन्ध है उसका वर्णन कर रहे

अधिदैवतमीश्वरः ॥२२॥

हैं। त्रिगुणात्मक अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय सृष्टिलीलाका जो अधिदैव है वही ईश्वर कहाता है।

वस्तुतः ईश्वरको जगत्नायक और कर्ता भी कह सकते हैं। "दैवतमधिकृत्य अधिदैवतम्" इस विचारसे यावद्दैव प्रपञ्चमें अधिष्ठान करनेवाले जो परमात्मा है अर्थात् ब्रह्मका जो भाव साक्षात् दैवराज्यसे सम्बन्धयुक्त होकर महान् सृष्टिक्रियाका द्रष्टा है उसको अधिदैव या ईश्वर कहते हैं। स्वस्वभावदशामें अद्वैतरूपसे स्वधर्मनीरूपा तुरीया ब्रह्म प्रकृतिके सम्बन्धसे अध्यात्मस्वरूपका ज्ञान हो सकता है, उसीप्रकार त्रिगुणमयी सृष्टिलयकारिणी ब्रह्म, विष्णु, महेश, जननी स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपधारिणी प्रकृतिके सम्बन्धसे ब्रह्माका जो स्वरूप जाना जाता है और जगत्के साथ जिसका साक्षात् सम्बन्ध है वही ईश्वर कहाता है और वही अधिदैव है। परमात्माका अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी ब्रह्म, ईश और विराट् इन तीनों भावोंका वर्णन पहले भले प्रकारसे किया गया है। और इन तीनों भावोंके सम्बन्धसे जगत्के प्रत्येक अंशमें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी भावत्रय किस प्रकारसे देखे जाते हैं, उसका भी विस्तारित विवरण पहले अच्छी तरह आ चुका है। ईश्वर अधिदैव होनेसे प्राकृतिक द्वैतप्रपञ्चका स्वामी कहाता है, यही ईश्वरनामकी सार्थकता है ॥२२॥

आत्मज्ञानपथ सरल करनेकेलिये अधियज्ञका स्वरूप कहा जाता है:—

प्रत्यगात्मा अधियज्ञ कहाता है ॥२३॥

प्रत्यगात्मानोऽधियज्ञत्वम् ॥२३॥

द्वैत दशामें अर्थात् जिस दशामें ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति अलग-अलग प्रतीत होती है उस दशामें महामायाके अवस्थाभेदसे दो नाम कहे जाते हैं, एक नाम विद्या और दूसरा नाम अविद्या है। यथाश्रुतिमें—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढ़े।
क्षरन्त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' इत्यादि श्रुतिः।

सत्त्वगुणमयी ज्ञानजननी विद्या और तमोगुणमयी अज्ञान-जननी अविद्या होनेसे विद्या ईश्वररूपी अधिदैवके आधीन मानी गई और अविद्या स्वाधीन होकर जीवको अपने अधीन करनेवाली मानी गई है। जीव जब अविद्याके अधीन है तो उसमें सच्चिदानन्द-मय ज्ञानस्वरूप ब्रह्मका प्रकाश कैसे सम्भव हो सकता है? और वे सर्वव्यापक होनेसे मालामें सूत्रके समान कैसे अनुभवमें आ सकते हैं? इत्यादि शङ्काओंके समाधानके अर्थ तथा मुक्तिमार्गको सरल कर देनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जीवपिण्डमें निर्लिप्त भावसे सर्वव्यापक ब्रह्मसत्ता प्रतिभासित रहती है उसको कूटस्थ कहते हैं। वही कूटस्थ ही अधि-यज्ञ है। शास्त्रकारोंने अधियज्ञका स्थान द्विदलमें कहा है। चिज्जड़-ग्रन्थिरूपी जिस जीवसत्ताका वर्णन पहले विस्तारित रूपसे वर्णन किया है उसका स्थान अन्तःकरण है। क्योंकि अन्तःकरणकी सहायतासे ही जीव अपनेको स्वतन्त्र सत्तावान् समझ लेता है। अन्तःकरणमें ब्रह्मकी जो चेतनसत्ता विद्यमान है, वह अविद्या उपाधि-

द्वारा आक्रान्त होनेसे चिज्जड़ ग्रन्थिरूपी बन्धनदशाको प्राप्त होता है। परन्तु यह तो स्वतः सिद्ध है कि सर्वव्यापक निर्लिप्त विकार-रहित स्वस्वभावमें स्थित ब्रह्मकी स्वतन्त्रसत्ताका भी प्रत्येक पिण्डमें रहना स्वतः सिद्ध है, क्योंकि अद्वैत ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त कोई स्थान ही नहीं है। अतः स्वयं साक्षीरूप प्रत्येक पिण्डमें रहनेवाला आत्मबोधकरूपी जो चिदंश है वही कूटस्थ कहाता है और वही अधियज्ञ है। श्रीगीतोपनिषद्में लिखा है कि—

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर!

अर्थात् देहधारियोंके देहमें रहनेवाला अधियज्ञ मैं ही हूँ। "यज्ञमधिकृत्य अधियज्ञः" इस विचारके अनुसार कूटस्थको अधि-यज्ञ कहना यथार्थ ही है। जीवका जीवन एक यज्ञरूप है। आत्माकी प्राप्तिकेलिये जो पुण्यजनक शुभकार्य किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं। इसकारण ज्ञानयज्ञ, उपासनायज्ञ, कर्मयज्ञ, दानयज्ञ, तपोयज्ञ, मन्त्रयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ इत्यादि सबही यज्ञशब्द वाच्य हैं। जीवका जीवन यज्ञमय है। जब आत्माकी ओर अग्रसर करनेवाली क्रियाको यज्ञ कहते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि उद्भिज्ज, स्वेदज आदि योनियोंसे लेकर मनुष्ययोनि, देवयोनि अर्थात् सहजपिण्ड, मानवपिण्ड और देवपिण्ड सबही गति यज्ञमय है।

उद्भिज्जादि सहज पिण्डोंमें तो क्रमोन्नतिकी गति सहज कर्मके अनुसार स्वाभाविक है और मानवपिण्ड और दैवपिण्डमें जैवकर्म और ऐशकर्मके अनुसार यज्ञधर्म वर्तमान रहता है। इस कारण यह

मानना ही पड़ेगा कि पिण्डमात्रमें यज्ञकी स्थिति वर्तमान है। उसी यज्ञका जो निर्लिप्त द्रष्टा है वह यथार्थमें अधियज्ञ कहलाने योग्य है। जिस प्रकार ब्रह्माण्डकी प्रकृति ईश्वरकी सत्तासे सत्तावती रहती है और कार्यकारिणी होती है, उसीप्रकार पिण्डकी प्रकृति कूटस्थकी सत्तासे सत्तावती रहती है और कार्यकारिणी होती है। अतः प्रत्येक पिण्डमें कूटस्थ ही अधियज्ञ है ॥२३॥

अब अधिभूतका विज्ञान कहा जाता है—

क्षरभावको अधिभूत कहते हैं॥ २४॥

ब्रह्मसद्भावरूपी मुक्ति प्राप्तिके निमित्त ज्ञान विज्ञानकी पूर्णताके लिये अधिभूतका विज्ञान कहा जाता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञका अविकारी अद्वितीय स्वरूपके वर्णनके साथही साथ भूतभाव उत्पन्नकारी कर्मरहस्यका भी वर्णन किया गया है। बिना प्राकृतिक स्पन्दनके कर्मकी उत्पत्ति होना असम्भव है। जहाँ प्राकृतिक स्पन्दन है, जहाँ कर्मका घात प्रतिघात और क्रिया प्रतिक्रिया है, वहाँ परिणाम होना अवश्यसम्भावी है। दूसरी ओर त्रिगुणका परिणाम और जगत्की प्रत्येक वस्तुकी क्षणभङ्गुरता भी स्वतः सिद्ध है। इस कारण अपरिणामी भावसे परिणामी भावके समन्वय तथा सब अवस्थामें आत्मज्ञानस्थिति सम्पादनार्थ क्षरका विज्ञान कहा जाता है। प्रकृतिस्पन्दिनी होकर त्रिगुण विकारको धारण करती हुई जो परिणाम अवस्थाको उत्पन्न करती है उसी क्षरभावको अधिभूत कहते हैं। अध्यात्मभावमें परि-

---

अधिभूतत्वं क्षरस्य ॥२४॥

णाम नहीं है। वह अवस्था कैसे अपरिणामी है सो पहलेही दिखाया गया है। उसी भावको प्राप्त करके ब्रह्माण्डमें ईश्वर और पिण्डमें कूटस्थ किस प्रकार स्वभावमें स्थित रहते हैं, यह भी भली-भाँति प्रमाणित हो चुका है। दूसरी ओर कर्मके विज्ञानसे यह सिद्ध होता है कि एक परिणामशील अवस्था अवश्यसम्भावी है। वह अवस्था त्रिगुण विकारका फल है। इसकारण प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ सृष्टि स्थिति लयके अधीन हैं। ये सृष्टि स्थिति लयरूपी परिणाम प्राप्त जो भाव है वही क्षरशब्दवाच्य है और वही अधिभूत है। इस विज्ञानको अन्य तरहसेभी समझ सकते हैं कि ब्रह्मप्रकृति जबतक ब्रह्ममयी और अविकृत स्वस्वभाव रहती है तभी वह अध्यात्मभावको प्रकट करती है और जब वह विकारको प्राप्त होकर त्रिगुणमयी होती हुई परिणामिनी होती है तभी वह अधिभूत भावको प्रकट करती है ॥२४॥

प्रसङ्गसे ब्रह्मसद्भावका कारण कहा जाता है :—

आनन्दकी पूर्णतासे ब्रह्म सद्भावकी प्राप्ति होती है ॥२५॥

मुमुक्षुके हृदयमें अब यह प्रश्न स्वतः उठ सकता है कि, पूर्व-कथित विज्ञानोंके साथ ब्रह्म सद्भावका क्या सम्बन्ध है? ब्रह्म सद्-भाव कैसे होता है? इत्यादि शङ्काओंके समाधानके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। परमात्मा रसरूप हैं। परमानन्दकी पूर्णता उन्हींमें विद्यमान है। उनका वह आनन्द जगत्में व्याप्त होने परभी उसकी पूर्णता स्वस्वरूपमें ही होसकती है।

ब्रह्मसद्भावाधिगतिरानन्दपूर्णत्वात् ॥२५॥

महज्जन भागवतमें जब उसी पूर्णानन्दका विकाश होता है तभी भागवत भगवान्में मिलकर ब्रह्मसद्भावको प्राप्तकर लेता है। साधक जब एक अद्वितीय अन्तःपूर्ण वहिःपूर्ण सर्वपूर्ण परमानन्दभावको प्रत्येक देश, काल, पात्रमें अनुभव करनेमें समर्थ होता है, तभी वह ब्रह्मसद्भावका अधिकारी होता है, यही अवस्था जीवन्मुक्तकी है। अक्षर मूलक अध्यात्मभाव, ईश्वर मूलक अधिदैवभाव, कूटस्थमूलक अधियज्ञभाव, क्षरमूलक अधिभूतभाव, तथा अकर्म और सकर्म अवस्था इन सबोंका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अद्वैत स्थितिको प्राप्त करता हुआ भाग्यवान् ज्ञानीभक्त जब पूर्णानन्द रससागरमें डूब जाता है तभी उसकी अवस्था ब्रह्मसद्भाव कहाती है। यह स्वतः सिद्ध है कि द्वैतभावरहित स्वस्वरूपमें ही आनन्दकी पूर्णता विद्यमान रहती है। स्वस्वरूपसे इतर अवस्थामें आनन्दकी स्थिति रहने परभी पूर्णता नहीं रह सकती, यही कारण है कि विषयानन्दमें अथवा यह भी कह सकते हैं कि द्वैतसम्बन्धके किसी आनन्दमें आनन्दकी पूर्णता नहीं हो सकती है। फलतः सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक धृतिका अधिकारी अद्वैत ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करनेवाला महापुरुष ही पूर्णानन्द लाभ करके ब्रह्मसद्भावका अधिकारी बन जाता है ॥२५॥

ब्रह्मका ज्ञान कैसे होता है सो कहा जाता है :—

सत् चित् आनन्दरूप अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण द्वारा जानने योग्य है ॥२६॥

स्वरूपतटस्थवेद्यं सच्चिदानन्दमद्वितीयं ब्रह्म ॥२६॥

द्वैतरहित अद्वितीय सच्चिदानन्दमय सर्वकारणस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान अलौकिक और असाधारण है। कारणरूपी ब्रह्मको कार्यरूपी जगत्का कोई जीव कैसे जान सकता है? पूर्णब्रह्मको असम्पूर्णशक्ति-सम्पन्न जीव कैसे समझ सकता है? अद्वैतका ज्ञान द्वैतदशामें कैसे सम्भव है? इस प्रकारकी शङ्काओंका समाधान तथा कैवल्यकी चरितार्थताके लिये ब्रह्मका ज्ञान कैसे हो सकता है उसका महर्षि सूत्र-कारने इस सूत्रमें प्रतिपादन किया है। जैसे अग्निका धर्म उष्णता और प्रकाश है ऐसेही आत्माका धर्म ज्ञान है। चित् स्वभाव सम्पन्न आत्मा ज्ञानस्वरूप है। साधारण ज्ञान जो जैव अन्तः-करणका स्वाभाविक धर्म है, और जो ज्ञान उद्भिज्जसे लेकर मनुष्य-पर्यन्त सब जीवोंमें ही यथायोग्य अधिकारके अनुसार न्यूनाधिक रहता है, क्योंकि आहार, निद्रा, मैथुन, भय, ज्ञान और सुख इच्छा ये छःओं वृत्तियाँ सब जीवोंमें रहती ही हैं। इस साधारण ज्ञानके अतिरिक्त असाधारण ज्ञानके पूज्यपाद महर्षियोंने दो भेद कहे हैं। एकका नाम स्वरूपज्ञान दूसरेका नाम तटस्थज्ञान है। आत्मा-में अविकार रूपसे नित्य स्थित जो ज्ञान है उसको स्वरूपज्ञान कहते हैं और ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटीके भेदसे जो ज्ञानकी विभिन्नता है उसे तटस्थज्ञान कहते हैं। इस विज्ञानको अन्य-प्रकारसेभी समझ सकते हैं कि सर्वव्यापक सच्चिदानन्दमय ब्रह्मके सर्वज्ञतामूलक स्वरूपमें एक रसरूपसे जो ज्ञानकी स्थिति है वही स्वरूपज्ञान कहाता है। और जीवके अन्तःकरणकी सहायतासे ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटीके अवलम्बनद्वारा जो ज्ञान जीवको

चेतनराज्यका अधिकारी बनाता रहता है उसीको तटस्थज्ञान कहते हैं। इस गम्भीर विषयको और तरहसेभी समझ सकते हैं कि ब्रह्मके अविकारी नित्यस्वरूपमें जिस ज्ञानकी स्थिति रहती है उसको स्वरूपज्ञान कहते हैं। आत्माके स्वस्वरूपमें तटस्थ ज्ञानकी सम्भावना नहीं हो सकती है। जीवके अन्तःकरणमें चित्कलाकी सहायतासे जो ज्ञान प्रकाशित होता है उसको तटस्थ ज्ञान कहते हैं। इन दोनों असाधाधारण ज्ञानको समझनेके लिये दार्शनिक भूमिकी भी सहायता लेनी पड़ेगी। मीमांसाभूमिमें अद्वैत ब्रह्म सद्भावकी दशामें जो केवल स्वस्वरूपमय ज्ञान है वही स्वरूप ज्ञान समझने योग्य है। सांख्यप्रवचनकी भूमिमें पुरुष और प्रकृतिको अलग-अलग अनुभव करके तटस्थ होकर जो पुरुषका ज्ञान होता है वही ज्ञान तटस्थज्ञान नामसे अभिहित होता है। स्वरूप ज्ञानमें त्रिपुटी नहीं रहती है और तटस्थज्ञानमें त्रिकुटी विद्यमान रहती है।

प्रथम तो ब्रह्मका स्वरूप केवल स्वरूपज्ञान वेद्य है और सगुणरूप यथा ईश्वर और विराट् तटस्थज्ञान द्वारा वेद्य है। इसका विज्ञान अतिसरल है, जब स्वरूपज्ञानकी स्थिति अद्वितीय ब्रह्मसत्ताके सिवाय कहीं हो ही नहीं सकती है तो ब्रह्मका केवल स्वरूप वेद्य होना स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर जब गुणमयी प्रकृतिके प्रभावसे कार्यब्रह्मका अनुभव होता है, उसी समय सगुण ईश्वरभाव और सगुण विराट्भाव अनुमेय होता है तो यह माननाही पड़ेगा कि द्वैतदशाके तटस्थज्ञानद्वारा ही ये दोनों सगुणभाव वेद्य

हो सकते हैं। इस कारणसे वे स्वरूप और तटस्थ वेद्य हैं, यह कहा जा सकता है और यदि ऐसाही कहा जाय कि अद्वितीय ब्रह्मपद स्वरूप तटस्थ वेद्य है तौभी कुछ हानि नहीं है। क्योंकि स्वरूपज्ञानसे प्रत्यक्ष वेद्य और तटस्थज्ञान द्वारा वे अनुमानसे वेद्य हो सकते हैं। निर्विकल्प समाधिमें वे स्वरूप वेद्य होते हैं और तत्त्वज्ञानीके सविकल्प समाधिमें वे तटस्थ वेद्य होते हैं और तत्त्वज्ञानीके सविकल्प समाथिमें तटस्थ वेद्य हो सकते हैं ॥२६॥

विस्तारसे कहा जाता है :—

वे त्रिभाववत् हैं ॥२७॥

सत् चित् और आनन्द ये तीनों भावही रूपान्तरसे अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवमें परिणत होते हैं। इन तीनों भावोंका रहस्य पहले भलीभाँति वर्णन हो चुका है। भक्तके निकट भगवान्‌भी इन तीनों भावोंके अनुसार तीन रूपसे अनुभव योग्य हैं। ज्ञानीभक्त अपने ज्ञाननेत्रद्वारा अपने हृदयमन्दिरविहारी सच्चिदानन्दमय अद्वितीय भगवान्‌को कभी ब्रह्मरूपमें कभी ईश्वर रूपमें और कभी विराट्‌रूपमें दर्शन करता हुआ भक्तिरस-सागरमें उन्मज्जन निमज्जन करता रहता है। श्रीभगवान्‌के त्रिभावात्मक इन रूपोंका वर्णनभी पहले भलीभाँति आ चुका है ॥२७॥

तत्र त्रिभाववत् ॥२७॥

कार्यकारण सम्बन्धसे भावकी महिमा कही जाती है :—

कारण होनेसे कार्यमेंभी वैसाही है ॥२८॥

कारणब्रह्म जिस प्रकार त्रिभावात्मक है, कार्यब्रह्मभी वैसाही त्रिभावात्मक है। प्रथम तो कारणब्रह्मका स्वरूप सच्चिदानन्दमय होनेसे त्रिभावात्मक है और द्वितीयतः जब ज्ञानी भक्तगण उनको विशेषरूपसे दर्शन करते हैं तो अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रयके अनुसार उनको ब्रह्म, ईश और विराट्रूपमें दर्शन करते हैं। अतः कारणब्रह्म त्रिभावात्मक हैं यह निश्चित ही है। इस कारण कार्यब्रह्मरूपी जगत्का प्रत्येक अङ्गभी अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपसे त्रिभावात्मक है। इसका विस्तृत विज्ञान पहले कहा गया है ॥२८॥

प्रसङ्गसे वाच्यवाचक विज्ञान कहा जाता है :—

इस कारण वे ओं तत्सत्से निर्देश किये जाते हैं ॥२९॥

परमात्मारूपी वाच्यका यथार्थ वाचक निर्णय करनेके अर्थ, उपासनाका प्रधान आश्रयभूतमात्रके विज्ञानकी दृढभित्ति स्थापनके निमित्त और त्रिभावात्मक सर्वश्रेष्ठ वाचकका महत्त्व निर्णयार्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है।

कार्यमपि तथा कारणे सत्त्वात् ॥२८॥

तस्मादोंतत्सदितिनिर्देशः ॥२९॥

ओं तत्सद् मन्त्रके तीनों विभागोंसे त्रिभावात्मक भगवत्स्वरूपका साक्षात् सम्बन्ध है। ओंशब्दसे ब्रह्म, तत् शब्दसे ईश और सत् शब्दसे विराट्का निर्देश होता है। पक्षान्तरसे चित् आनन्द और सत्भावत्रयका भी यह मन्त्र परिचायक है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी प्रमाण मिलते हैं यथाः—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

अर्थात्—ओं तत्सद् ये तीनों नामोंके द्वारा ब्रह्मका निर्देश होता है इन्हीं नामोंसे पुरा कालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ नियत किये गये थे ॥२६॥

विज्ञानकी पुष्टि की जाती है:—

सर्वत्र ऐसी विधि देखनेमें आनेसे ॥३०॥

ओं तत्सत् मन्त्रके विषयमें पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार विधि भी शास्त्रोंमें देखी जाती है, जिससे उक्त विज्ञानकी पूर्णताके विषयमें सन्देह ही नहीं हो सकता है यथाः—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

सर्वत्र विधिदर्शनात् ॥३०॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

इसी कारण ब्रह्मवादीगण यज्ञ तप और दानके कार्योंमें पहले ओं का उच्चारण करते हैं। मोक्षकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति यज्ञ तप तथा दानादि कार्य्योंके प्रारम्भमें तत् शब्दका उच्चारण करते हैं। हे अर्जुन! श्रेष्ठपुरुष और साधुलोग उत्तम कार्योंमें सत् शब्दका उच्चारण करते हैं। यज्ञ तप और दान सत् कहे जाते हैं और जो कर्म इसके निमित्त किये जाते हैं वे भी सत् कहे जाते हैं॥३०॥

प्रसङ्गसे उक्त मन्त्रकी सर्वोपरि महिमा वर्णन की जाती है—

मुख्य मन्त्र होनेसे मुक्तिप्रद है॥३१॥

पूर्णशक्ति, पूर्णभाव और पूर्णज्ञानका द्योतक होनेके कारण ओंतत्सत्, मन्त्र मुक्तिप्रद है। अविद्या भी शक्ति है विद्या भी शक्ति है, परन्तु अविद्याशक्ति आवागमनचक्रमें फँसाकर बन्धनदशा प्राप्त करती है, और विद्याशक्ति उसके विरुद्ध है, विद्याशक्ति अविद्या-शक्तिको क्षीण करती हुई मुक्तिका मार्ग सरल करती है और अन्तमें मुक्तिपदमें पहुँचा देती है। श्रीभगवान्‌के पूर्णस्वरूपका वाचक होनेसे यह मन्त्र विद्याशक्तिसे पूर्ण है।

मुख्यमन्त्रत्वान्मुक्तिप्रदः॥३१॥

त्रिभावात्मक होनेसे और श्रीभगवान्‌के तीनों भावोंका द्योतक होनेसे यह मन्त्र पूर्ण भावमय है। निर्गुण और सगुणरूपी श्रीभगवान्‌के पूर्ण स्वरूपका वाचक होनेसे तथा श्रीभगवान्‌के त्रिभावमय तीनों रूपोंका प्रकाशक होनेसे यह मन्त्र पूर्ण ज्ञानमय है। अतः इसके मुख्यमन्त्र होने और मुक्तिप्रद होनेमें संशय नहीं हो सकता है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रने भी कहा है यथा :—

ब्रह्ममन्त्रेषु मुर्द्धन्यो मन्त्रोऽस्त्योंतत्सदात्मकः।
अतो मे ज्ञानिनो भक्ताः सर्वकर्मफलं मयि॥
क्षमन्तेऽर्पयितुं सम्यङ् मन्त्रेणानेन निर्जराः।
ममोपास्तिक्षणेनूनं सान्निध्यञ्चाप्तुमीशते॥
सर्वत्र सर्वदा ज्ञानदृष्ट्या च सर्वथा मयि।
युञ्जानाः स्थातुमात्मानं क्षमन्ते मत्परायणाः॥
ओं तत् सदात्मके ब्रह्म-मन्त्रे मन्त्रशिरोमणौ।
तिसृणां सच्चिदानन्दकलानामस्ति पूर्णता॥
ममाध्यात्माधिदैवाधिभूत-त्रिरूपवाचकः।
प्रशस्तो मन्त्रराजोऽयं सर्वकल्याणकारकः॥
उपास्तिज्ञान-कर्म्माख्ये त्रिकाण्डे विश्रुता श्रुतिः।
तत्र सर्वत्र साफल्यं पूर्णं दातुं स चार्हति॥

ब्रह्ममन्त्रोंमें ओंतत्सत् मन्त्र सर्वशिरोमणि है, इसी कारण हे देवतागण! इस मन्त्रके द्वारा मेरे ज्ञानी भक्तगण सर्व कर्म्मफल मुझमें अच्छी तरह अर्पण कर सकते हैं, तथा ज्ञानदृष्टिमें सर्वथा सब समय सब स्थानोंमें अपनेको मुझमें ही युक्त करके रह सकते हैं।

'ओं तत्सत्' इस मन्त्रशिरोमणि ब्रह्ममन्त्रमें मेरी चित्कला सत्कला और आनन्दकला तीनोंकी पूर्णता विद्यमान है। यह श्रेष्ठ मन्त्रराज मेरे अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपत्रयका वाचक है और सर्वकल्याणकारी है। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, वेद इन तीनोंसे विख्यात है, यह मन्त्र तीनों काण्डोंमें पूर्ण सफलता देने योग्य है ॥३१॥

प्रसङ्गसे मन्त्रका विज्ञान कहा जाता है :—

दैवलोकसे सम्बन्धयुक्त ध्वनिको मन्त्र कहते हैं ॥३२॥

मुख्य मन्त्रका वर्णन सुनकर जिज्ञासुके हृदयमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि, मन्त्रका विज्ञान क्या है ? मन्त्र किसको कहते हैं ? मनको जो त्राण करे वह मन्त्र है ऐसा कोई कोई शास्त्र कहता है। इसका तात्पर्य क्या है ? इत्यादि शङ्काओंके समाधानके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक मन्त्र काल्पनिक नहीं है इसका विस्तारित विज्ञान पहले कहा गया है। अब इस रहस्यके वर्णन विज्ञानकेद्वारा मन्त्र विषयक सब शङ्काओंका समाधान होगा। जो ध्वनि दैवराज्यसे सम्बन्धयुक्त हो वही मन्त्र कहा सकता है। यों तो सब प्रकारके शब्द ही सूक्ष्मराज्यसे उत्पन्न होकर सूक्ष्मराज्यमें ही लय होते हैं। मनुष्य या पशु पक्षी आदि जब किसी भावसे भावित होकर कोई शब्द करता है तो प्रथम उसके अन्तर्राज्यनिहित भाव उसका द्योतक

दैवलोकसम्बन्धो ध्वनिर्मन्त्रः ॥३२॥

होनेके कारण अन्तर्जगत्से ही वह शब्द प्रारम्भ होता है और वह शब्द, ध्वनि उत्पन्न करके जब लय होता है तो भी वह ध्वनि सूक्ष्माति-सूक्ष्म जगत्में ही लय होता है। परन्तु जिस ध्वनिका स्थायी प्रभाव सूक्ष्म दैवजगत्में रहता हो वही ध्वनि मन्त्रशब्द वाच्य होगा। चाहे ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक प्रणव हो अथवा बीजमन्त्र हो, चाहे वर्णात्मक महावाक्य गायत्री आदि वैदिक मन्त्र हो, चाहे सप्तशती तथा अन्य गीता आदि पौराणिक मन्त्र हो, चाहे नाना प्रकारके तान्त्रिक या लौकिक मन्त्र हों, वे सभी मन्त्र दैवराज्यपर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक और लौकिक ये चारों प्रकारके मन्त्र ही नित्य और नैमित्तिक रूपसे दैवराज्यसे सम्बन्धयुक्त होते हैं। प्रणव और गायत्री आदि वैदिक मन्त्र और बीजमन्त्रादि पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्र तो नित्य सिद्धमन्त्र होनेके कारण दैवराज्यसे उनका नित्य सम्बन्ध विराजमान है। वे नित्य रूपसे तत्तत अधिष्ठात्री देवता और दैवराज्यपर सदा एक रूपसे प्रभाव डाल सकते हैं। यथार्थ रूपसे ये सब मन्त्र उच्चारित होते ही इनकी ध्वनिका स्पर्श दैवराज्यसे होते ही देश, काल, पात्रानुसार प्रभाव उत्पन्न करते हैं। अन्यान्य पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्र भी तत् तत् शास्त्रकर्ता महर्षियोंके अन्तःकरणसे युक्त होकर समाधियोगद्वारा शब्दरूपमें प्रकट होते ही दैवराज्यसे विशेष रूपसे सम्बन्धयुक्त हो जाते हैं। तत् पश्चात् जो मन्त्र जितना अधिक उपासनाकाण्ड, कर्मकाण्ड अथवा ज्ञानकाण्डके साथ मिलकर कार्य करता रहता है उतना वह मन्त्र अधिक प्रभावशाली

बन जाता है, यथा सप्तशतीका प्रभाव समझने योग्य है। लौकिक मन्त्र नाना विषय निवारक भूत प्रेत आदि बाधा निवारक लौकिक मन्त्र लौकिक साधककी तपस्या और साधनके बलसे इसी प्रकारकी शक्तिको प्राप्त करके दैवराज्यकी सहायता प्राप्त करने लगता है। इस विज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि शब्द लौकिक और अलौकिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं और वह भी ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक होता है। प्रणव बीजादि मन्त्र ध्वनि प्रधान हैं, अर्थात् उनका यथार्थ रूप ध्वन्यात्मक है और मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने उनको वर्णात्मक स्वरूपमें भी परिणत किया है। गायत्री आदि वैदिक मन्त्र और सप्तशती आदि पौराणिक मन्त्र वस्तुतः वर्णप्रधान मन्त्र है, उनका वर्णमय स्वपरु अन्तर राज्यमें पहुँचकर सूक्ष्म होता हुआ ध्वन्यात्मकरूप धारण करके अधिदैव सहायतासे विशेषरूपसे कार्यकारी होता है। इस विज्ञानको अन्य तरहसे भी समझ सकते हैं। अन्नमयकोष स्थूल आधिभौतिक राज्य है, प्राणमय और मनोमय-कोष आधिदैविक सूक्ष्म दैवराज्यसे सम्बन्ध युक्त है एवं विज्ञानमय और आनन्दमयकोष कारणरूपी आध्यात्मिक राज्यसे सम्बन्ध रखते हैं। जो अलौकिक शब्द विशेष दैवीशक्तिसे युक्त होकर स्थूल-राज्यसे सूक्ष्मराज्यमें पहुँचता हुआ मनको बलवान् करके दैवकार्य सम्पादन करता है वही मनका त्राता शब्द मन्त्र कहाता है। विशेषता यह है कि आधिदैविक शक्तिसम्पन्न मन्त्र केवल मनोराज्यमें ही कार्यकारी होता है। और ज्ञानप्रधान तथा आधिदैविक और आध्यात्मिक उभयशक्ति सम्पन्न मन्त्र विज्ञानमयकोष और आनन्द-

मय कोषमें पहुँचकर मुक्तिका भी सहायक बन सकता है। मन्त्रशक्ति उत्पन्न होनेके अनेक भेद हैं उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। नित्य रूपसे विराजमान प्रणवकी वाच्य वाचक सम्बन्धयुक्त शक्ति, यह मन्त्रशक्ति नित्या है, सृष्टिके आदिसे ही इसका सम्बन्ध विद्यमान है। दूसरा प्रकार बीज मन्त्रोंका समझना उचित है, यह शक्ति महर्षिगण समाधियोगद्वारा अनुभव करके विशेष विशेष अधिकारके अनुसार उनको नियोजित करके शास्त्रोंमें वर्णन कर गये हैं। तीसरा प्रकार गायत्री आदि वैदिक मन्त्रोंका समझना उचित है। ये मन्त्र कल्पके प्रारम्भमें वेद प्राप्तिके साथही साथ यथावत् स्वरूपमें मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने प्राप्त किया था। ये तीन प्रकारके मन्त्र स्वभाव सिद्ध शक्ति युक्त हैं। इनकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिये महर्षियोंको कुछभी प्रयत्न करना नहीं पड़ा है। नाना पौराणिक मन्त्र यथा सप्तशती आदिका अधिकार चतुर्थ श्रेणीका समझने योग्य है। ऐसे मन्त्रों-को समाधिस्थ होकर भावराज्यकी सहायतासे स्थूलशब्दरूपमें महर्षियोंने प्रकाशित किया था और पुनः अपनी योगयुक्त शक्ति-द्वारा जगत्कल्याण बुद्धिसे उनको दैवराज्यसे विशेष सम्बन्ध युक्त करके देवताकी साक्षात् कृपाद्वारा उनमें शक्तिप्रदान किया था। पञ्चम श्रेणीकी शक्ति उन मन्त्रोंमें कही हुई शक्ति है कि जिन मन्त्रों-को महर्षियोंने स्वयं अपने उपासनाबलसे सिद्धकरके जगत् कल्या-णके लिये शास्त्रोंमें प्रकट किया है। पुराण और तन्त्रोंके अनेक-शाखा पल्लवयुक्त मन्त्र इस श्रेणीमें समझे जा सकते हैं। ये पाँच प्रकारके शक्तिसम्पन्न मन्त्र वेद और शास्त्रोक्त कहे जायँगे। इनके

अतिरिक्त और दो श्रेणीके मन्त्र हैं, वे दोनों लौकिक हैं। साम्प्रदायिक उपासनाके मन्त्र जिनको शक्तिशाली भक्तोंने अपने उपासनाबलसे प्रकट किया हो और अन्य एक प्रकारके लौकिक मन्त्र वे हैं जो नाना लौकिक बाधा दूर करनेके लिये तपस्वियोंकी तपस्या द्वारा समय-समयपर प्रकट किये हैं ॥३२॥

उनका महत्त्व वर्णन किया जाता है :—

वह चतुर्वर्ग फलप्रद है ॥३३॥

स्थूल संसारकी भित्ति दैवराज्य है। जिस मन्त्रसिद्धिके द्वारा दैवराज्यपर आधिपत्य हो सकता है, उसके द्वारा चतुर्वर्ग फलकी प्राप्ति होना असम्भव नहीं है। विशेषतः जड़ कर्मके फलदाता देवतागणही हैं उन देवताओंको जो मन्त्र प्रसन्न कर सकता है, वह मन्त्र काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चारों वर्गोंकी प्राप्ति करानेमें सहायक होगा, इसमें सन्देह ही नहीं। काम और अर्थ इन दोनों फलोंका प्रदान करना तो देवताओंका ही कार्य है। क्योंकि देवतागण कर्मफल प्रेरक होते हैं और यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि मन्त्रकी गति प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोष तक है, और ऐसा होनेसे मन्त्रद्वारा विक्षेप और आवरण भी दूर होना सम्भव है। अतः मन्त्र, धर्म और मोक्षप्रदभी है इसमें सन्देह नहीं। अस्तु, जब मन्त्र मनको पवित्र करके त्राण करता हुआ सत्त्वगुण सम्पन्न कर सकता है तो मन्त्रका धर्म, अर्थ-काम-मोक्षरूपी चतुर्वर्ग फलप्रद होना भी सिद्ध होता है ॥३३॥

चतुर्वर्गफलदोऽसौ ॥३३॥

प्रकारान्तरसे महत्त्व वर्णन किया जाता है :—

वाच्यवाचक सम्बन्ध होनेके कारण वह देवताका साक्षात्कार कराता है ॥३४॥

जिस प्रकार वाच्य वाचक सम्बन्ध होनेसे किसी मनुष्यका नाम लेकर बुलानेपर वह प्रश्नका उत्तर देता है या निकटस्थ हो जाता है, इसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि जिस अधिदैवसे जिस वाचकरूपी मन्त्रका सम्बन्ध है वह चाहे नित्य सम्बन्ध हो अथवा तपस्या आदि द्वारा नैमित्तिक रूपसे स्थापित किया गया हो, उस मन्त्रके योगयुक्त होकर मानस, उपांशु या वाचनिकरूपसे जप करनेपर अवश्यही सूक्ष्मसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोषोंके अवलम्बनसे तत्तत् दैवलोकोमें पहुँचकर देवताओंको आह्वान करनेमें समर्थ होता है ॥३४॥

अन्यप्रकारसे महत्त्व वर्णन किया जाता है :—

चक्र पीठ उत्पादक होनेसे वह स्थूल और दैवजगतसे सम्बन्ध कराता है ॥३५॥

पीठके विषयमें बहुत कुछ वर्णन पहले आचुका है। पीठोत्पादक चक्रके विषयमें श्रीभगवान् शिवने पितृगणोंसे इस प्रकारसे कहा है—यथाः

देवदर्शको वाच्यवाचकसम्बन्धात् ॥३४॥

स्थूलदैवजगत्सम्बन्धकृत् चक्रपीठोत्पादकत्वात् ॥३५॥

स्वाभाविक्यस्वभावा वा पीठस्योत्पादनाय या ।
विधीयते क्रिया सम्यक् सत्सुकौशलपूरिता ॥
चक्रं तदेव सम्प्राहुर्योगतत्त्वविशारदाः ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विश्वभूतिदाः ! ॥
अनेकभेदसत्त्वेऽपि चक्रञ्चास्ते चतुर्विधम् ।
आवागमनचक्रादि तत्राद्यं सहजं जगुः ॥
द्वितीयं कीर्त्तितं चक्रं तद्वद्ब्रह्माण्डनामकम् ।
ग्रहोपग्रहभादीनामधिकारस्थितिर्यथा ॥
ज्ञेयं स्वाभाविकं चक्रमेतद्द्वयमसंशयम् ।
सगर्भं स्यात्तृतीयं तद् ब्रह्मचक्रादिकं यथा ॥
अगर्भनामकं चक्रं चतुर्थं समुदाहृतम् ।
मन्त्रशुद्ध्या क्रियाशुद्ध्या रहितश्चैव यद्भवेत् ॥
इति वः कीर्त्तितं चक्ररहस्यं परमाद्भुतम् ।

पीठके उत्पन्न करनेके लिये जो स्वाभाविक या अस्वाभाविक रूपसे सत्सुकौशल क्रिया सम्यक्रूपसे की जाती है उसीको योग-तत्त्वज्ञ चक्र कहते हैं। हेपितृगण ! इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। चक्र बहुप्रकारके होनेपरभी उनकी चार श्रेणी हैं। प्रथमसहजचक्र वह कहता है जैसा आवागमनचक्रादि। द्वितीय ब्रह्माण्ड चक्र यथा ग्रह उपग्रह नक्षत्रादिका अधिकारस्थान ये दोनों निःसन्देह स्वाभाविक चक्र कहाते हैं।

तृतीयचक्र सगर्भचक्र कहा जाता है यथा ब्रह्मचक्र शक्तिचक्रादि और चतुर्थ चक्रका नाम अगर्भ है जो मन्त्रशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे

रहित ही होता है। वह मैंने आप लोगोंको परम अद्भुतचक्रका रहस्य कहा है।

यथार्थ्यानुष्ठितं चक्रं सगर्भं मुक्तिदं भवेत्।
अगर्भं पितरः! तद्वन्नूनमभ्युदयप्रदम्॥
परन्त्वेवंविधायां हि दशायां चक्रसाधकैः।
भवितव्यं ध्रुवं सम्यगवश्यं मत्परायणैः॥
एतच्चक्रद्वयं जीवैः सत्सुकौशलपूर्णया।
क्रियया ऽनुष्ठितं यस्मादतोऽस्वाभाविकं जगुः॥
उत्तरोत्तरमुक्तासु सप्तसु ज्ञानभूमिषु।
क्रमारोहणकृत्यैव जायते पितरो ध्रुवम्॥
आवागमनचक्रस्याध्यात्मशुद्धिर्न संशयः।
वर्णाश्रमाख्यधर्माणां स्वाधिकारानुसारतः॥
जायते पालनेनास्य शुद्धिः खल्वाधिदैविकी।
पितरो वो दयालब्ध्या शुद्ध्या शोणितशुक्रयोः॥
सहजस्यापि पीठस्य क्रमोन्नत्या निरन्तरम्।
आधिभौतिकशुद्धिर्हि नूनमस्य प्रजायते॥
चक्रमेतद्भवन्तो हि कर्तुमुन्नामि सत्वरम्।
सन्ति चक्रेश्वरा नूनं स्मरणीयं सदेति वः॥
एवं सर्वेषु चक्रेषु शुद्धित्रैविध्यमुत्तमम्।
आवश्यकं भवत्येव नात्र कार्या विचारणा॥

सगर्भचक्र यथार्थरूपसे अनुष्ठित होनेपर मुक्तिप्रद होता है और हे पितृगण! अगर्भचक्र यथार्थरूपसे अनुष्ठित होनेपर अभ्युदयप्रद

होता है। परन्तु ऐसी दशामें चक्रकारी साधकोंको अवश्य ही अच्छी तरह मत्परायण होना उचित है। ये दोनों चक्र सत्सुकौशल पूर्ण-क्रियासे जीवोंके द्वारा अनुष्ठित होनेके कारण अस्वाभाविक कहाते हैं। हे पितृगण! उक्तसप्तज्ञान भूमियोंमें उत्तरोत्तर क्रमशः आरोहण करते रहनेसे ही आवागमनचक्रकी अध्यात्मशुद्धि सम्पादित होती है इसमें सन्देह नहीं है। अपने अपने अधिकारानुसार वर्णाश्रम-धर्मके पालनद्वारा ही उस चक्रकी अधिदैवशुद्धि हुआ करती है। हे पितृगण! आप लोगोंकी कृपाप्राप्त करनेसे सहजचक्रकी निरन्तर क्रमोन्नतिसे और रजोवीर्यकी शुद्धिसे भी आवागमनचक्रकी आधिभौतिक शुद्धि निश्चय सम्पादित हुआ करती है। इस चक्रको शीघ्र उन्नतिशील करनेमें आपलोग ही निश्चय चक्रेश्वर हैं, यह सदा आप लोगोंको स्मरण रखना चाहिये। सब चक्रोंमें इसीप्रकार उत्तम त्रिविध शुद्धिकी आवश्यकता होती है, इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर लिखित चक्रविज्ञानद्वारा चक्रका तात्पर्य स्पष्टीकृत हो गया है। पीठविज्ञान तो स्पष्टीकृत हो ही चुका है। मन्त्रकी एक असाधारण शक्ति यह है कि, पीठके उत्पन्न करनेमें भी सहायता करता है और चक्रके स्थापित करनेमें भी सहायता करता है। प्राणमय-कोशपर मनोमयकोशका आधिपत्य होनेसे मन्त्रसिद्धिद्वारा पीठ उत्पन्न करनेमें जैसी मन्त्रशक्ति कार्यकारिणी होती है उसीप्रकार चक्रके प्रकट करनेमें भी होती है। क्योंकि चक्रमें चक्रस्थित साधकोंकी समवेत मनःशक्ति ही कार्यकारिणी होती है। उपासनाचक्रमें चक्र-

स्थित सब उपासकोंको एक संकल्प, एक ध्यानसे युक्त होकर एक ही मन्त्र जप करना पड़ता है। उस समय वह मन्त्रशक्ति चक्रस्थित सब साधकोंके अन्तःकरणमें एक ही दैवीशक्तिका सञ्चार कर चक्रका सहायक बनती है और चक्रकी सफलताके साथ ही साथ वह स्थान पीठमें परिणत हो जाता है। इस गंभीर अधिदैव विज्ञानके संक्षेप वर्णन द्वारा मन्त्रकी पीठ और चक्रके सम्बन्धसे उपकारिता सिद्ध होती है। सुतरां स्थूल मृत्युलोकके साथ सूक्ष्म दैवलोकका सम्बन्ध कराता है। क्योंकि मन्त्र चक्रके उत्पन्न होनेमें भी सहायता देता है और पीठके उत्पन्न करनेमें भी सहायक है ॥३५॥

और भी महत्त्व वर्णन किया जाता है :—

सात्त्विक चक्रपीठ मोक्ष प्रद है ॥३६॥

संसारके जिस प्रकार सब वस्तु त्रिगुणात्मक हैं उसी प्रकार पीठ तथा चक्रभी सात्त्विक राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। उपासनासम्बन्धसेही चक्र और पीठ सात्त्विक हो सकता है। भगवत्सान्निध्य प्राप्ति ही उपासनाका चरम लक्ष्य है। तीन-गुणके सम्बन्धसे तथा गुणातीत सम्बन्धसे जैसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—जिसका वर्णन पहले भलीभाँति होचुका है, उसीप्रकार उपासनाकेभी चार भेद हैं। यथा—तीन गुणके अनुसार उपासनाकी तीन श्रेणी और चतुर्थ गुणातीत भूत-प्रेत असुरादिसे जो कृपाप्राप्त करनेकी उपासना हो वह तामसिक है। देवता आदिकी

सात्त्विकचक्रपीठे मोक्षदे ॥३६॥

जो सकाम उपासना है वह राजसिक, ईश्वरकी सकाम उपासना सात्त्विक श्रेणीमें और निष्काम भक्तकी जो ईश्वर या ब्रह्मोपासना है अथवा जगत्कल्याण बुद्धिसे उनकी जो उपासना है वह गुणातीत समझी जा सकती है। इसी क्रमके अनुसार संकल्पद्वारा पीठकी उत्पत्ति और चक्रकी स्थापनाभी समझना उचित है। यही कारण है कि, पीठका कर्त्ता और चक्रका चक्रेश्वर जिस अधिकारका होता है उस पीठ अथवा उस चक्रमें उसी श्रेणीकी शक्ति उत्पन्न होती है।

इस विज्ञानको उदाहरणद्वारा समझनेके लिये कहा जाता है कि शूद्रद्वारा प्रतिष्ठित देवमन्दिर ब्राह्मणका उपास्य नहीं है। इसका कारण ध्यान देनेयोग्य है। शूद्रद्वारा शूद्रके देवमन्दिरमें जो पीठकी उत्पत्ति होती है उसमें शूद्रकी तामसिकशक्ति निहित रहती है। उस पीठको यदि सत्त्वगुणावलम्बी ब्राह्मण प्रणाम करता है तो उस पीठकीभी क्षति है ब्राह्मणकी भी क्षति है। अस्तु, गुणातीत निष्कामभावसे जो पीठ उत्पन्न हो अथवा जिस चक्रमें निष्काम ब्रह्मज्ञानी महापुरुष चक्रेश्वर हो वह पीठ अथवा चक्र अवश्यही निःश्रेयसप्रद होगा इसमें सन्देह ही नहीं। जिस विज्ञानके अनुसार काशीमरण-परम्परा साक्षात् रूपसे मुक्तिका कारण होता है, जिस विज्ञानके अनुसार जीवन्मुक्त महापुरुषका संग साक्षात् या परम्परारूपसे मुक्तिका कारण होता है, और जिस विज्ञानके अनुसार उपनिषद् और गीता आदि मुक्तिशास्त्रका श्रवण मनन निदिध्यासन निःश्रेयसप्रद होता है उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ पीठ और चक्रमुक्तिप्रद अवश्य है ॥३६॥

दोनों ही एक श्रेणीका फल क्यों देते हैं सो कहा जाता है :—

एक दूसरेका कारण है ॥३७॥

यद्यपि कोई अलौकिक उपायद्वारा विभिन्न रूपसे पीठकी उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु चक्र पीठोत्पत्तिका एक प्रधान कारण है। सहजपीठके उत्पन्न करनेमें चक्रकी आवश्यकता नहीं होती है। शक्तिशाली उपासक अथवा मन्त्र और क्रिया-कुशल पुरोहित बिना चक्रकेही उपासनापीठ उत्पन्नकरनेमें समर्थ होते हैं, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि चक्रकी समवेत अधि-दैवशक्तिद्वारा पीठका उत्पन्न होना अवश्यंम्भावी है। योग्य चक्रेश्वर यदि उपासकवृन्दोंको साथ लेकर उत्तम देश कालमें शुद्ध मन और स्थिर लक्ष्य तथा दृढ़ संकल्प होकर चक्रका अनुष्ठान करेंगे तो बहुत शीघ्रही उत्तम पीठका आविर्भाव हो सकता है। सुतरां पीठका कारण चक्र है यह मानना ही पड़ेगा और चक्रकी उपकारिताके विषयमें वह एक विज्ञान विचार्य है। विधिपूर्वक चक्र करनेसे पीठकी उत्पत्ति जैसे अवश्यंम्भावी है, साधारण मनुष्यद्वारा व्यक्तिगतरूपसे पीठ उत्पन्न करनेकी चेष्टा इतनी निश्चयात्मिका नहीं हैं। द्वितीयतः तीर्थ आदिमें नित्य चक्रकी स्थितिके कारण अधिदैव शक्तिकी समानरूपसे नित्य स्थिति रहा करती है।

कारणमेकमन्यस्य ॥३७॥

तृतीयतः केवल विधि जाननेसे एक व्यक्ति श्रेष्ठ पीठ उत्पन्न करनेमें उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है, जितना विधिके जाननेवाला चक्रेश्वर सफल काम हो सकता है ।।३७।।

प्रसङ्गसे मन्त्रका रहस्य और उसका महत्त्व वर्णन करके अब ध्यान सिद्धिके लिये कह रहे हैं :—

ब्रह्मका अधिदैव और अधिभूतरूप तटस्थ वेद्य है ।।३८।।

यद्यपि पहले यह विज्ञान कहा गया है परन्तु ब्रह्मध्यानकी सिद्धिके लिये पुनः विस्तारित रूपसे कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञ महा-पुरुषगण जो ब्रह्मको ब्रह्म, ईश और विराट् इस प्रकारसे त्रिविधभाव-मय त्रिविधरूपोंमें दर्शन करते हैं उन तीनोंमेंसे ब्रह्मका जो अधिदैव ईश्वररूप है और अधिभूत विराट्रूप है ये दोनों रूप तटस्थ ज्ञानकी सहायतासे ध्यान करने योग्य हैं। मुमुक्षुगण श्रीगुरु-देवकी सहायतासे तटस्थ ज्ञान अवलम्बन करके ईश्वरध्यान और विराट् ध्यान करें इस अभिप्रायसे मुमुक्षुओंकी सहायताके अर्थ महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है ।।३८।।

ब्रह्मका अध्यात्मरूप स्वरूप वेद्य है ।।३९।।

ब्रह्मका जो अध्यात्म त्रिगुणातीत रूप है, वह स्वरूप ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। तटस्थ ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटी

ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम् ।।३८।।

स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम् ।।३९।।

रहती है। इस कारण ईश्वररूपी अधिदैवरूप और विराट्रूपी अधिभूतरूप उस त्रिपुटीयुक्त ज्ञाननेत्रके द्वारा दर्शन किया जाता है। क्योंकि ये दोनोंरूप सगुण अपेक्षित और द्वैतभावसे युक्त हैं। परन्तु अध्यात्मरूप जो अद्वितीय गुण सम्बन्धसे रहित जो ब्रह्मरूप है वह केवल स्वरूप ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है। क्योंकि स्वरूप-ज्ञानभी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटीसे रहित है। तटस्थज्ञान द्वारा इस अध्यात्म स्वरूपका केवल परोक्ष ज्ञान हो सकता है। परन्तु उसका अपरोक्ष ज्ञान केवल स्वरूपज्ञानसे ही वेद्य हो सकता है। यही कारण है कि, पहले अद्वितीय ब्रह्मका स्वरूप और तट-स्थवेद्य दोनोंही कहा गया है। अब ध्यान सिद्धिकेलिये दो भेद करके बताया गया है। द्विरुक्तिसे तात्पर्य यही है कि, पहले जो वर्णन किया था वह केवल ज्ञानप्राप्तिके लिये किया गया था और अब जो पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है वह साधनकी सिद्धिके लिये ही किया गया है। वस्तुतः यदि तटस्थज्ञान अवलम्बन द्वारा ईश ध्यान और विराट् ध्यान करनेका प्रयत्न किया जायगा और निर्विकल्प समाधिसे युक्त स्वरूपज्ञानसे ब्रह्मध्यान करनेका लक्ष्य रखा जायगा तभी मुक्तिमार्ग सुगम हो सकेगा। अब यह शङ्का हो सकती है कि ईशध्यान और विराट्ध्यान दोनोंही तटस्थ ज्ञानसे करने योग्य हैं तो दोनोंको कैसे ध्यानमें लाया जाय? और साधन राज्यके साथ ब्रह्मध्यानका सम्बन्ध है या नहीं? इस प्रकार-की शङ्काओंके समाधानमें कहा जा सकता है कि ईश्वरध्यानके लिये केवल प्रकृतिकी व्यक्तावस्था और उसका ईक्षण इतना ज्ञाननेत्र

द्वारा ध्यान करने योग्य है। विराट् ध्यानके विषयमें प्रकृतिका अनादि अनन्तसृष्टि वैभवभी ध्यानमें युक्त करने योग्य होगा। और ब्रह्मध्यान तो केवल अद्वैतभावमें ही अद्वैत स्वरूपज्ञानकी सहायतासे ईशध्यान और विराट् ध्यानकी सिद्धिके अनन्तर श्री जगद्गुरुकी कृपासे करने योग्य है। विराट्ध्यानमें प्रकृतिका अनादि अनन्त वैभव और ईक्षणाकी धारणा रहती है, ईश्वरध्यान-में केवल ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति तथा ईक्षणाकी धारणा रहती है। धारणासे ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानसे ही समाधि-सिद्धि होती है इस कारण ये सब कराया गया है ॥३९॥

मुक्तिपद प्राप्तिका प्रधान अवलम्बन कर रहे हैं :—

प्रकृतिका गुण और पुरुषके भाव दर्शनसे कृत कृत्यता होती है ॥४०॥

जब मुमुक्षु कर्म उपासना और ज्ञानयज्ञोंके साधनद्वारा यथा-क्रम मल, विक्षेप और आवरणका हान कर लेता है तब उस भाग्य-वान् साधकमें प्रकृति और पुरुषगुण एवं भावके प्रतिक्षण पृथक् पृथक् देखनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है तात्पर्य यह है कि, साधक तभी सिद्धभूमिमें पहुँच सकेगा और तभी वह कृतकृत्य हो सकता है जब वह तत्त्वज्ञानकी सहायतासे सब समय प्रकृति और पुरुषकी स्वतन्त्रसत्ताका दर्शन कर सके और प्रत्येक दृश्यमें त्रिगुण और त्रिभावका अनुभव कर सके। दृश्यकी

कृतकृत्यता प्रकृतिगुणपुरुषभावदर्शनात् ॥४०॥

प्रत्येक क्रिया तीन गुणोंमेंसे किस गुणकी है और प्रत्येक दृश्य अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत इन भावत्रयमेंसे कौन भावका प्राधान्य रहता है इस प्रकार देखनेकी योग्यता होनेसे तब तत्त्वज्ञानी कृतकृत्य हो सकता है ॥४०॥

ध्यान सिद्धिका उपाय वर्णन करके अब समाधिसिद्धिका उपाय वर्णन कर रहे हैं :—

ध्यानके द्वारा सविकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है ॥४१॥

यथा-समाधेर्ध्यानमेवेदमेकमात्रन्तु कारणम्, ध्यान ही समाधि का एकमात्र कारण है।

ध्यानसाधनके द्वारा क्रमशः साधक जितना ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका संकोच करता जाता है, उतना ही वह समाधि-भूमिमें अग्रसर होता जाता है। धारणाभूमिमें साधकका मलनाश हो जाता है, ध्यानभूमिमें विक्षेपनाश हो जाता है और समाधि-भूमिमें आवरणका नाश हो जाता है। साधक जब धारणा-सिद्धि द्वारा अन्ताराज्यमें स्थित हो जाता है तो उसपर स्थूल-वहिर्राज्यका पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ सकता है। मलका सम्बन्ध केवल स्थूलशरीरसे है अतः स्थूलराज्यका सम्बन्ध शिथिल हो जाता है तब उसका प्रभाव भी शिथिल हो जाता है। तदनन्तर ध्यानभूमिमें साधक ध्यानकी सिद्धि द्वारा जब चित्तवृत्ति-निरोध करके अपने मनोमयकोशपर आधिपत्य करनेमें समर्थ होता है तो स्वतः ही मनोमलरूपी विक्षेप उस साधकको छोड़

ध्यानेन सविकल्पोऽधिगमः ॥४१॥

देता है। और अन्तमें जब साधक कृतकृत्य होकर समाधिभूमिमें सफलता प्राप्त करता है तो उसके अन्तःकरणको रूपान्तरमें परिणत करनेवाली त्रिपुटी नष्ट होकर बुद्धि शुद्ध हो जाती है। यही दशा आवरण रहित समाधि अवस्था कहाती है ॥४१॥

अब निर्विकल्प समाधि सिद्धिका कारण कहा जाता है :—

सविकल्प समाधिके लय होनेपर निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है ॥४२॥

पूर्व कथित सविकल्प समाधिकी चार अवस्था योगाचार्योंने वर्णन किये हैं। यथा वितर्कानुगत अवस्था, विचारानुगतावस्था, आनन्दानुगतावस्था और अस्मितानुगतावस्था। ध्यानावस्थाकी त्रिपुटीके लय हो जानेपर भी जब आत्मस्वरूपके विषयमें वितर्क रहे तो वह पहली अवस्था है। जब विचार रहे तो दूसरी अवस्था, जब केवल रहे तो तीसरी अवस्था और जब अस्मिताका अनुभव रहे तो वह अवस्था चौथी कहाती है। पहलीसे दूसरी, दूसरीसे तीसरी, तीसरीसे चौथी अवस्था श्रेष्ठ है। जब आत्मज्ञानकी पूर्णतासे अस्मिताकी स्वतन्त्र अवस्थाका लय होकर अद्वितीय आत्मसत्तामात्र रह जाता है, उसी अवस्थाको निर्विकल्प समाधिकी अवस्था कहते हैं।

शास्त्रोंमें निर्विकल्प समाधिके विषयमें ऐसा कहा है:—

निर्विकल्पः सविकल्पलयात् ॥४२॥

समाधिः शाश्वतीं मुक्तिं निर्विकल्पस्तु यच्छति ।
अतो वदन्ति विद्वान्सो योगतत्त्वानुचिन्तकाः ॥
निर्वीजं निर्विकल्पन्तु सविकल्पं सबीजकम् ।
शुक्लगत्या यथालभ्य ऊर्द्ध्वलोकव्रजोऽखिलः ॥
सैव शुक्ला गतिर्देवा एति तेषामधीनताम् ।
सविकल्पसमाधौ ये तस्थिवांसो हि योगिनः ॥
जीवन्मुक्ताः पराभक्ताः ज्ञानिनः सहजां गताः ।
प्रभवन्त्यधिकर्तुं मे समाधिं निर्विकल्पकम् ॥
स्वदेहं नीचगेहे ते जन्हुर्वा जान्हवीतटे ।
विभ्रद्देहा विदेहा वा मामेव प्राप्नुवन्ति ते ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थैर्योगिराजैः सहास्ति मे ।
काचिद् विभिन्नता नैव सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥

श्रीमहामाया देवताओंसे कहती हैं कि निर्विकल्प समाधि शाश्वत मुक्ति देनेवाली है। इस कारण योगतत्त्वज्ञ विद्वान् सविकल्पको सबीज और निर्विकल्पको निर्बीज कहते हैं।

सब ऊर्द्ध्वलोकोंकी प्राप्ति जिस शुक्लगतिके द्वारा होती है, वह गति सविकल्प समाधिस्थ योगियोंके अधीन है। परन्तु सहजगति प्राप्त जीवन्मुक्त मेरे ज्ञानीभक्त निर्विकल्प समाधिके अधिकारी होते हैं। वे चाहे नीचोंके घरमें शरीरत्याग करें अथवा गङ्गाके तटपर शरीरत्याग करें, वे शरीर रहते भी मुझको प्राप्त हैं और शरीरत्याग करनेपर भी मुझको ही प्राप्त करते हैं। निर्विकल्प समाधिप्राप्त

योगिराजोंमें और मुक्तमें कोई भेद नहीं है। इसको मैं तुमसे सत्य कहती हूँ। ॥४२॥

प्रसङ्गसे अब संयमका विज्ञान वर्णन कर रहे हैं:—

संयम धारणाप्रसूत होनेसे समाधिका उपसर्ग, सिद्धिका हेतु और व्युत्थानके अनुकूल है ॥४३॥

समाधिभूमिसे दो प्रधान पदार्थोंका विचार करना अत्यावश्यक है, उनमेंसे प्रथम संयम और दूसरा एकतत्त्व है। दोनोंमेंसे प्रथमका वर्णन इस सूत्रमें किया जा रहा है और दूसरेका वर्णन अगले सूत्रमें किया जायगा। संयम धारणाभूमिमें उत्पन्न होता है। वह अपना कार्य सविकल्प समाधिमें समाप्त करके लय हो जाता है। संयमसे नाना प्रकारकी अलौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। इस कारण वह निर्विकल्प समाधिका विघ्न है। क्योंकि सिद्धियाँ सब विषयरूप है। संयमके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है :—

त्रयं हि धारणा ध्यान-समाधीति क्रियात्मकम्।
दृश्याश्रयात् प्रयुक्तं सन्निर्ज्जरा: ! संयमो भवेत् ॥
प्रोत्सेधयति जीवेषु नाना शक्तिर्हि संयमः।
ऐशी नैवात्र सन्देहो नाऽलं मोचयितुं त्वसौ ॥
अविद्यापाश सन्नद्धाञ्जीवांस्तान् पाशवन्धनात्।
साधनं संयमोपेतं योगस्याभ्युदयप्रदम् ॥

धारणाजत्वात् संयमः समाध्युपसर्गः सिद्धिहेतुर्व्युत्थानानुकूलश्च ॥४३॥

अर्थात्—धारणा, ध्यान समाधि इन तीनोंकी क्रियायें जब दृश्यके अवलम्बनसे प्रयुक्त होती हैं तब उसको संयम कहते हैं। संयम ऐशीसिद्धियोंको जीवोंमें प्रकट करता है। परन्तु अविद्यापाश-बद्ध जीवोंको पाशमुक्त नहीं कर सकता है। संयमसे युक्त योगसाधन केवल अभ्युदयकारी है। पातञ्जलदर्शनमेंभी लिखा है:—

"त्रयमेकत्र संयमः"

धारणा, ध्यान, समाधि तीनोंको एक साथ करनेको संयम कहते हैं। ऐश्वर्य दो प्रकारका है, लौकिक और अलौकिक। धन, जन, पृथिवी, रत्न आदि लौकिक ऐश्वर्य और अणिमा, महिमा आदि अलौकिक ऐश्वर्य कहाते हैं। अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और सहज इन चार प्रकारकी अलौकिक सिद्धियोंका वर्णन ऐश्वर्य-प्रकरणमें भलीभाँति आचुका है। ये सब अलौकिक ऐश्वर्य संयमशक्तिद्वारा अतिसुगमतासे प्राप्त होते हैं। ऐश्वर्यसमूह—विषय होनेसे बन्धनके कारण हैं और मुक्तिके विरोधी हैं। सिद्धियाँ वासनाप्रसूता होनेसे संयमभी व्युत्थान संस्कारमूलक है। चाहे उन्नतयोगी क्यों न हो, चाहे योगिराजमें चित्तवृत्ति निरोध करनेकी कैसीही शक्ति क्यों न हो गई हो उनमें संयमकी प्रवृत्ति तभी होगी जब उनका चित्त व्युत्थान दशाको प्राप्त होगा। अतः संयम अलौकिक भोगशक्ति प्रसूत होनेपरभी वह मुक्तिप्रद न होकर निर्विकल्प समाधिका विरोधी और बार बार विषयाकार व्युत्थान दशा प्राप्त कराकर भक्ति और मुक्तिका बाधक है ॥४३॥

समाधिमें सफलता प्राप्त करनेके लिये अब एक तत्त्वका विज्ञान वर्णन कर रहे हैं :—

एकतत्त्व ध्यानभूमि प्रसूत, स्वरूप प्रकाशक और निरोध परिणामके अनुकूल है ॥४४॥

सविकल्प समाधिमें जो जो विघ्न होकर निर्विकल्प समाधिमें बाधा पहुँचाते हैं उन सब विघ्नोंका मूलच्छेद करके निर्विकल्प समाधिका पथ सरल एकतत्त्वके द्वारा हुआ करता है। एकतत्त्वके विषयमें योग सम्बन्धी शास्त्रोंमें ऐसा कहा है :—

ध्यानभूम्यास्तु भो देवाः ! एकतत्त्वं प्रजायते।
यदा त्वात्मानमुद्दिश्य त्रयमेतत् प्रयुज्यते॥
एकतत्त्वं तदोदेति ह्येषा वैदान्तिकी श्रुतिः।
एकतत्त्वन्तु शक्नोति भक्तान् दृश्यप्रपञ्चतः॥
हठादाकृष्य तेभ्यो हि शिवत्वं दातुमद्भुतम्।
केवलं त्वेकस्य साहाय्यात् साध्यते यत्॥
साधनं तद्धि योगस्य निःश्रेयसकरं ध्रुवम्॥

जगन्माता माहामाया देवताओंसे कहती हैं कि ध्यानभूमिसे एकतत्त्व उत्पन्न होता है। आत्माके उद्देश्यसे जब ये तीनों प्रयुक्त होते हैं। (धारणा, ध्यान, समाधि) तब एक तत्त्वका उदय होता है। एक तत्त्व भक्तोंको दृश्यप्रपञ्चसे हठात् आकृष्ट करके उनको

ध्यानभूमिप्रसूतमेकतत्त्वं स्वरूपप्रकाशकं निरोधपरिणामानुकूलञ्च॥४४॥

अद्भुत शिवत्व प्रदान करनेमें समर्थ है। केवल एक तत्त्वकी सहायतासे साधित योगही निःश्रेयसप्रद है।

एकतत्त्व केवल संयम प्रसूत अलौकिक ऐश्वर्यौंके फन्देसेही नहीं बचाता है किन्तु लौकिक ऐश्वर्यौंसेभी बचाता है और अन्यान्य सब प्रकारके योगविघ्नोंसेभी बचाता है। इस विषयमें प्रधान योगाचार्य महर्षिपतञ्जलिने कहा है:—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

तात्पर्य यह है कि लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्यौंके अतिरिक्त योगविघ्न अनेक हैं यथाः—

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व, दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमें जयत्व, श्वास और प्रश्वास इनका विस्तारित वर्णन योगदर्शनमें भलीभाँति पाया जाता है। इन सब प्रकारके विघ्नोंका अपने आप नाश एकतत्त्वद्वारा होकर मुक्तिका मार्ग सीधा और सुगम हो जाता है और एक तत्त्वद्वारा निरोध परिणामकी प्राप्ति होकर चित्तवृत्तियोंका लय होता हुआ स्वरूपका प्रकाश सुगमतासे हो जाता है। वस्तुतः एकतत्त्वपर साधकका लक्ष्य रहना उचित है ॥४४॥

उसका विशेष महत्त्व वर्णन कर रहे हैं :—

एक तत्त्व ब्रह्मानन्दका मूल है ॥४५॥

ब्रह्मानन्दमूलमेकतत्त्वम् ॥४५॥

चाहे भक्तियोग हो, चाहे ज्ञानयोग हो बिना एकतत्त्वके अवलम्बनसे ब्रह्मानन्द प्राप्ति होना असम्भव है। यह पहलेही सिद्ध हो चुका है कि पराभक्ति और ब्रह्मसद्भाव एक ही है। भक्तियोगकी परा-भक्ति और ज्ञानयोगका ब्रह्मसद्भाव एक ही पदको लक्ष्य करके विभिन्नरूपसे अभिहित हुये हैं। पराभक्तिका लक्षण पहलेही विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है।

मुक्तिप्रदा पराभक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब भाग्यवान् भक्त सिवाय भगवत् भावके अन्य दूसरा भाव चित्तमें धारणाही न करे। और यह दशा केवल भक्तिमूलक एकतत्त्वके आश्रयसे ही प्राप्त हो सकती है ॥४५॥

अब विरुद्ध भावका वर्णन किया जाता है :—

परिणाम दुःखका मूल है ॥४६॥

बिना विरुद्धभावके दिखाये कोई विषय अच्छी तरह समझमें नहीं आता। जिस प्रकार बिना रात्रिको समझे दिनका स्वरूप अनुभवमें नहीं आता है, जिस प्रकार बन्धन दशाको बिना समझे मुक्तिपदका स्वरूप समझमें नहीं आ सकता, उसी प्रकार बिना परिणामदशाको समझे एकतत्त्व समझमें नहीं आता है। इस कारण मुक्तिपदको सरल करनेके लिये और एकतत्त्वको समझानेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यद्यपि प्राणायाम, प्रत्याहार आदि साधन द्वारा चित्तवृत्ति निरोध किया जा सकता

परिणामो दुःखमूलम् ॥४६॥

है, और चित्तवृत्ति निरोध होनेपर समाधिका उदय होता है। परन्तु चाहे योगमार्ग हो, चाहे भक्तिमार्ग हो, चाहे प्राणायाम आदि साधन हो, चाहे वैधीभक्ति आदि साधन हो निर्विकल्प समाधि मूलक पराभक्तिकी दशा प्राप्त पर्य्यन्त प्रतिमुहूर्तमें चित्तके परिणामकी दशा विघ्न उत्पन्न किया करती है। दृश्यका सब अङ्ग और प्रत्यङ्ग त्रिगुणात्मक हैं क्योंकि प्रकृति स्वयं त्रिगुणात्मिका है। इस कारण त्रिगुणके अनुसार चित्तका सब समय परिणाम होना भी स्वतः सिद्ध है। जहाँ परिणाम है वहाँ चाञ्चल्य और अज्ञानका असर होनेसे परिणामकी दशा दुःख मूलक है, इसमें सन्देह ही नहीं। इस कारण परिणामको दुःखका मूल जानकर साधकको सदा ब्रह्मानन्द मूलक एकतत्त्वका अभ्यास करना उचित है ॥४६॥

प्रसङ्गसे ध्यानका भेद कहा जाता है :—

अधिकारी भेदसे योगध्यान चार प्रकारका है ॥४७॥

बिना पराभक्ति मूलक निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिके निःश्रेयस असम्भव है और बिना ध्यानसिद्धिके समाधि सिद्धि नहीं हो सकती, इस कारण ध्यानको विस्तारित रूपसे समझानेके लिये ध्यानके भेद कहे जाते हैं। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चार प्रकारके योगोंके अनुसार ध्यानभी चार प्रकारका है।

मन्त्रयोगके अनुसार स्थूलध्यान, हठयोगके अनुसार ज्योतिर्ध्यान, लययोगके अनुसार विन्दुध्यान और राजयोगके

योगध्यानं चतुर्विधमधिकारिभेदात् ॥४७॥

अनुसार ब्रह्मध्यान वर्णन योगाचार्योंने कहे हैं। मन्त्रयोग नामरूपात्मक साधन है इसकारण उसमें पाँच सगुण ब्रह्मके पाँच श्रेणीके स्थूलध्यानकी विधि कही गयी है। हठयोग स्थूलसे सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्यात्मक है। इस कारण उसमें अपेक्षाकृत सूक्ष्मभावात्मक ज्योतिर्ध्यानकी विधि निश्चित की गई है। लययोग व्यष्टि समष्टि विज्ञानात्मक होनेसे उसमें ब्रह्मशक्ति कुण्डलिनी ध्यानरूपी बिन्दुध्यान की विधि अभिहित हुई है और राजयोग केवल विचारमूलक होनेसे उसमें केवल ज्ञाननेत्र दर्शन करने योग्य ब्रह्मध्यानकी विधि कही गई है। इन चारों ध्यानोंके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है—

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक्।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानन्तु त्रिविधं विदुः॥
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं भवेत्।
विन्दु विन्दुमयं प्रोक्तं कुण्डली परदेवता॥
स्थूलं ध्यानं तु मन्त्रस्य त्रिविधं परिकीर्तितम्।
उपासनाञ्च त्रिविधामनुसृज्य महर्षिभिः॥
राजयोगे तु त्रिविधं ध्यानमस्ति हितप्रदम्।
वेदशास्त्रं गुरूणां हि साहाय्याद्ध्यानमाचरन्॥
ब्रह्मेश्वरं विराडञ्च ध्यातुं शक्नोति साधकः।

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोगमें पृथक् पृथक् स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और विन्दुध्यान ये तीन प्रकारके ध्याननियम किये गये हैं जिनमेंसे मूर्तिमान् इष्टदेवमूर्तिका जो ध्यान है वह स्थूल ध्यान है। जिसकेद्वारा तेजोमय ब्रह्मका दर्शन होता है वह

ज्योतिर्ध्यान है और विन्दुमय ब्रह्म और कुलकुण्डलिनी शक्तिका जो ध्यान किया जाता है वह विन्दुध्यान कहा जाता है। इसके अतिरिक्त राजयोगके ध्यान तीन प्रकारके हैं। वेदशास्त्र और श्रीगुरुदेवकी सहायतासे साधक उसका साधन कर सकता है, वे तीन ध्यान ब्रह्म, ईश्वर-विराट्का है ॥४७॥

यथा सम्बन्ध समाधि भेद भी कहा जाता है:—

समाधि भी चार प्रकारका है ॥४८

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चार प्रकारकी समाधि भी योगाचार्य्योंने विहित की है।

मन्त्रयोगकी समाधि महाभाव, हठयोगकी समाधि महाबोध, लययोगकी समाधि महालय और राजयोगकी समाधिको जीवन्मुक्ति कहते हैं। शास्त्रोंमें इन सबोंके लक्षण इस प्रकारसे है :—

सर्वेषु प्राणिपुञ्जेषु येषामुत्पद्यते ननु।
ब्रह्मबुद्धिर्महात्मानो जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥
अपरोक्षं ध्रुवं येषां ब्रह्मज्ञानं प्रजायते।
ते महापुरुषा लोके जीवन्मुक्ता न संशयः ॥
साधनं राजयोगस्य धारणा ध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः ॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कों किन्न जायते।
ततो विचारानन्दानुगता ततूपरामता ॥

समाधिरपि ॥४८॥

अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते।
समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभाव इतीरितः॥
हठस्य च महाबोधः समाधिस्तेन सिद्धयति।
महाभावो महाबोधः महालय इति क्रमात्॥
त्रिधा समाधिर्भवति प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः।
मन्त्रसिद्ध्या देवतायां विधाय मनसो लयम्॥
त्रिपुटीनाशतो योगी समाधिमधिगच्छति।
शरीरतो मनः सम्यगपनीय विजित्य तत्॥
स्वस्वरूपोपलब्धिर्हि समाधिरिति चोच्यते।
सलिलं सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।

मन्त्रयोग समाधिको महाभाव, हठयोग समाधिको महाबोध और लययोग समाधिको महालय महर्षियोंने ये तीनों नामोंसे वर्णन किये हैं। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय होकर त्रिपुटीका नाश होनेपर योगीको समाधि प्राप्त होती है। प्रथम मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध रहता है। परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरेमें लय होते हुये ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी लय हो जाती हैं यही मन्त्रयोग समाधि है। जिसको महाभाव कहते हैं और शरीरसे मनको अलग करके उसका लय करते हुए स्व-स्वरूपको प्राप्त करनेका नाम हठयोग समाधि जिसको महाबोध कहते हैं।

जल और सैन्धव जिस प्रकार एक साथ मिल जाता है उसी प्रकार आत्मा और मनके योगसे मिलान होता है वह लययोगकी समाधि है इसका नाम महालय है।

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचारानन्दानुगता वस्त्रा प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं त्वविशेषलिङ्गं,
लिङ्गं तथा लिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमिं,
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः।
हेया आलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥

राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधि-भूमि ही है समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दा-नुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्था अस्मितानुगता-वस्था है। प्रथम दो भेद सविचार और द्वितीय दो भेद निर्विचार समाधि है। विशेष-लिङ्ग; अविशेष लिङ्ग, लिङ्ग और अतिलिङ्ग यह चार दृश्यके भेद हैं, अतिलिङ्ग तक त्यागने योग्य है।

मैं ब्रह्म हूँ, यह भावभी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। यही राजयोगसमाधि है इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं ॥४८॥

उनके सविकल्प निर्विकल्प भेद वर्णन करते हैं :—

तीन सविकल्प, अन्तिम निर्विकल्प है ॥४९॥

पहलेकी तीन समाधि अर्थात् महाभाव, महाबोध और महालय नामक तीन समाधियाँ सविकल्प समाधि हैं और चौथी जो राजयोगकी समाधि है वही निर्विकल्प समाधि है। इसी कारण चाहे मन्त्रयोगी हो चाहे हठयोगी हो और चाहे लययोगी हो उन तीनोंको उनकी समाधि सिद्धिके अनन्तर वासना क्षयपूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करके राजयोगकी निर्विकल्प समाधिका आश्रय लेना पड़ता है।

पहली तीन समाधियाँ क्रियासाध्य होनेसे उनमें स्वरूपज्ञानका साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता। इसी कारण राजयोगी जब तत्त्वज्ञानकी सहायतासे मनोनाश और वासनाक्षय करता हुआ मल, विक्षेप और आवरणसे रहित होकर स्वरूपज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है तभी वह राजयोगी निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करके जीवन्मुक्तपदमें पहुँच जाता है। अन्य तीनों समाधियाँ हठसे बलपूर्वक की जाती हैं। वह अस्वाभाविक तथा क्रियासाध्य होनेसे स्वाभाविक और सहज नहीं है और राजयोगकी समाधि स्वाभाविक

सविकल्पास्त्रयो निर्विकल्पोऽन्त्यः ॥४९॥

और सहज होनेसे उसमें साक्षात् ब्रह्मानन्दमय स्वरूपज्ञानका उदय हो जाता है ।।४६।।

समाधि विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं :—

सविकल्पका अनुभव छप्पन तरहका है निर्विकल्पकी धारणा त्रिविध है ।।५०।।

सविकल्प समाधिका विस्तार बहुत ही अधिक है। क्योंकि सविकल्प समाधि ज्ञानतः भी होती है और अज्ञानतः भी होती है।

सविकल्प समाधिकी उच्च अवस्था ज्ञानतः होती है। जैसे सिद्धि आदिमें संयमके द्वारा और मन्त्रयोगसिद्धि, हठयोगसिद्धि लययोगसिद्धिमें जैसा कि पूर्व वर्णन हो चुका है। और अज्ञानतः जो होतीही रहती है उसका कुछ उदाहरण नीचे दिया जाता है। जैसे मेढक शीतऋतुमें समाधिस्थ होकर निर्जीव दशाकी न्याई भूगर्भमें बने रहते हैं और समाधिज्ञानके द्वाराही वे पुनः जागकर वर्षाके भविष्यत्में होनेकी सूचना देकर बोलने लगते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजके जितने प्राणी हैं उनके देशकाल और पदार्थका यथार्थ ज्ञान सबही सविकल्प समाधिके स्वाभाविक विकाशका ही फल है। यह पहलेही भलीभाँति सिद्ध किया गया है कि मनुष्यको विषयानन्दका जो अनुभव होता है वह ब्रह्मानन्द-काही रूपान्तर है और मनुष्यके स्वाभाविक सविकल्प समाधिके उदयसे ही यह अनुभव दशा प्राप्त होती है। कविको अनेक अज्ञात

षट् पञ्चाशद्विधः सविकल्पानुभवस्त्रिविधा निर्विकल्पधारणा ।।५०।।

विषय कैसे ज्ञात हो जाते हैं, यह सब विषय सविकल्प समाधि सिद्धिकेही रूपान्तर हैं।

पूर्वमें सात अज्ञानभूमि और सात ज्ञानभूमिका वर्णन आचुका है। उन चौदह भेदोंके पुनः वितर्क विचारादि चार भेद होनेसे सविकल्प समाधिके छप्पन भेद स्वतः ही होंगे। सूक्ष्मदर्शी योगिराजगण इसको समझ सकते हैं। परन्तु इतने भेद मनुष्योंमेंही होते हैं। दूसरी ओर निर्विकल्प समाधिकी ईश और विराट् सम्बन्धसे धारणा त्रिविध होती है। सविकल्प समाधिमें भेदकी कल्पना हो सकती है। क्योंकि सविकल्प समाधिमें सविकल्परूपी द्वैतका नाममात्रकी स्थिति रहती है। परन्तु निर्विकल्प समाधिमें ध्यानकीभी अद्वैतभावसे रहित कल्पना हो ही नहीं सकती। परन्तु धारणाके भेद अवश्य हो सकते हैं। क्योंकि धारणा अन्तःकरणसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तिविशेष है। इस कारण समाधिसिद्धिकेलिये पूर्वावस्थासे प्राप्त की हुई जो धारणाका शेष संस्कार भर्जित वीजवत् रहता है उसके अनुसार कह सकते हैं कि निर्विकल्प समाधिकी धारणा ब्रह्मके त्रिविध भावके अनुसार त्रिविध है ॥५०॥

प्रसङ्गसे आनन्दका महत्त्व कह रहे हैं :—

आनन्द व्यापक होनेसे सर्वहितकर है ॥५१॥

आनन्दः सर्वहितकरो व्यापकत्वात् ॥५१॥

योगभक्तिमय उपासना प्रधान यह दर्शनशास्त्र आनन्दकी प्रधानताको स्वीकार करता है। यह पहलेही सिद्धहो चुका है कि आनन्द स्वयं अनुभूत नहीं होता है, उसके अनुभवके लिये दो की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार विना दोके विषयानन्दको आविर्भूत नहीं कर सकता है उसीप्रकार ब्रह्मानन्दभी विना चित् और सत्की सहायताके अनुभूत नहीं हो सकता है। जब सत्की अस्ति और भाति साथही साथ न हो तब तक ब्रह्मानन्दका अनुभव होही नहीं सकता है। अतः एक ओर विषयानन्द विषय और विषयोंमें व्यापक और दूसरी ओर ब्रह्मानन्द सत् और चित्में व्यापक है तो यह माननाही पड़ेगा कि आनन्दकी व्यापकता अवश्यंभावी है। जब आनन्द भगवान्का स्वरूप है और वह सर्वव्यापक है और जब आनन्द शान्तिका आगार है, जब आनन्दरूपिणी मन्दाकिनी भक्ति तरङ्गको उठाती हुई ब्रह्मसमुद्रमें जा मिलती है और आनन्द जब सर्वव्यापक है तो वह सर्वहितकर होगा इसमें सन्देह ही क्या है। आनन्दमें पूर्वकथित अनेक गुणावली होनेपर भी यदि वह सर्वव्यापक न होता तो सर्वहितकर नहीं हो सकता था ॥५१॥

विज्ञानकी और भी पुष्टि करते हैं :—

ज्ञान विज्ञानमय होनेसेभी ॥५२॥

आनन्द सर्वहितकर है इसका विज्ञान पूर्वसूत्रमें यद्यपि अच्छीतरहसे दिया गया है, तथापि पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस विज्ञानकी अधिक पुष्टिके अर्थ इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जिससे पुनः

ज्ञानं विज्ञानमयत्वाच्च ॥५२॥

शङ्काकी सम्भावना ही नहीं रहे। जैसे स्वरूपभेदके अनुसार ज्ञानके दो भेद पहले भलीभाँति कहा गया है और जिनको स्वरूपज्ञान और तटस्थज्ञानरूपसे वर्णन किया गया है, उसीप्रकार ज्ञानकी कार्य्यकारिणी शक्तिके अनुसार ज्ञानके दो भेद पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंमें वर्णन किये हैं, वे ही ज्ञान और विज्ञान कहाते हैं। वहिर्जगत् सम्वन्धीय ज्ञानको ज्ञान और अन्तर्जगत् सम्वन्धीय ज्ञानको विज्ञान कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि साधारणज्ञानको ज्ञान, विशेष ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। सब जीवही ज्ञानका अधिकारी होसकता है किन्तु विज्ञानका अधिकारी उन्नत ज्ञानिगणाही हो सकते हैं। आध्यात्मिक विषयमें ऐसा समझा जा सकता है कि शास्त्र और गुरुद्वारा जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है उसको ज्ञान कहते हैं और निदिध्यासनके द्वारा जो अनुभव प्राप्त होता है उसको विज्ञान कहते हैं। फलतः इस विचारके अनुसार ज्ञान-विज्ञानके अतिरिक्त कोई विषय नहीं हो सकता है।

चाहे सूक्ष्मसे सूक्ष्म विषय हो चाहे स्थूलसे स्थूल विषय हो, चाहे जड़राज्यका कोई कार्य्य हो, चाहे चेतनराज्यका कोई कार्य्य हो, चाहे मृत्युलोक आदि स्थूलजगत्का कोई दृश्य हो, चाहे सूक्ष्मराज्यके चतुर्दश भुवनका कोई दृश्य हो, चाहे आधिभौतिक प्रपञ्च हो या आधिदैविक प्रपञ्च हो, चाहे आध्यात्मिक प्रपञ्च हो, सबके साथही ज्ञान विज्ञानका सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। इस कारण ज्ञान विज्ञानको सर्वव्यापक अधिकार सम्पन्न मानही सकते हैं। ज्ञान विज्ञानकी सर्वहितकारिताके विषयमें तो सन्देह ही नहीं

है। क्योंकि विना ज्ञान और विज्ञानके किसी कार्य्यमें सुसिद्धि हो ही नहीं सकती है। दूसरी ओर आनन्दके साथ ज्ञान विज्ञानका साक्षात् सम्बन्ध है और ज्ञान विज्ञान सर्वहितकर है तो इस विचारसे भी आनन्दका सर्वहितकारित्व सिद्ध होता है। चाहे ज्ञानको वर्हिजगत् सम्बन्धीय और विज्ञानको अन्तर्जगत् सम्बन्धीय अधिकारसे युक्त मानें और चाहे ज्ञानको विषयानन्दसे युक्त मानें और विज्ञानको आत्मानन्दसे युक्त मानें, जब ज्ञान और विज्ञान आध्यात्यिक आधि-दैविक और आधिभौतिक इन तीनों अधिकारोंसे सम्बन्ध रखता है और उन दोनोंके विना किसी कार्यकी भी सुसिद्धि नहीं हो सकती तो इन दोनोंके सर्वहितकरत्व और इन दोनोंके सम्बन्धसे आनन्दके सर्वमङ्गलकर होनेमें सन्देह नहीं है। यह शङ्का हो सकती है कि आनन्दके अनुभवमें ज्ञान विज्ञानकी आवश्यकता कैसे सम्भव है? ऐसी शङ्काओंके समाधानमें कहा जाता है कि चाहे विषयानन्द हो, चाहे ब्रह्मानन्द हो, दोनोंकी सिद्धि बिना ज्ञान विज्ञानके हो ही नहीं सकती है। यह पहले सिद्ध हो चुका है कि, ब्रह्मानन्दका अनुभव सत् और चित्की सहयोगितासे होता है। जहाँ चित् है वहाँ विज्ञान मूलक आत्मज्ञान भी है। इस कारण ब्रह्मानन्दके अनुभवमें भी सविकल्प-समाधिमें विज्ञान और निर्विकल्प समाधिमें स्वरूपज्ञानकी ऐकान्तिक आवश्यकता है। दूसरी ओर विषयानन्दके अनुभवमें ज्ञान और विज्ञानकी आवश्यकता तो स्वतः सिद्ध है। विना ज्ञानके विषयी विषयका अनुभव करही नहीं सकता है और जब तत्त्वज्ञानी महा-पुरुष विषयानन्दका अनुभव करते हैं तव विज्ञानसे ही करते हैं,

क्योंकि उनका अन्तःकरण आत्मज्ञानके द्वारा ब्रह्ममें युक्त रहता है। इस सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग आनन्दके सर्वहितकर विज्ञानकी पुष्टिके लिये है। आनन्द सृष्टिका कारण है और स्थिति अवस्थामें आनन्द सर्वहितकर है और अन्तमें आनन्दही मुक्तिका कारण है, यह तो इस दर्शनका सिद्धान्त ही है। आनन्दकेलिये ही प्रवृत्ति आनन्दकेलिये ही निवृत्तिका उद्योग प्रारम्भ होता है और ब्रह्मानन्दमें उद्योगकी समाप्ति होती है। यदि आनन्दका लक्ष्य न हो तो कदापि प्रवृत्तिमार्गगामी पुरुषार्थी व्यक्तिमें पुरुषार्थ शक्ति नहीं रहेगी। वह आनन्द चाहे नरकप्रद हो, चाहे स्वर्गप्रद हो, पुरुषार्थ उत्पादक है इसलिये आनन्द प्रवृत्तिमार्गगामीका हितकर है। निवृत्तिमार्गका पथिक तो ब्रह्मानन्दरूपी ध्रुवताराको लक्ष्यकरके ही इस तमोमय संसारमें निवृत्तिमार्गमें अग्रसर होता रहता है और आनन्द ही मुक्तिप्रद और मुक्तिका स्वरूप कैसे है वह इस दर्शनमें सर्वत्र प्रकाशित है ॥५२॥

विज्ञानकी और भी पुष्टिकर रहे हैं :—

इसलिये फूलको देखनेसे आनन्द होता है ॥५३॥

पूर्वकथित विज्ञानानुसार यह सिद्ध हुआ है कि आनन्द व्यापक है ज्ञान विज्ञानमय है और सर्वहितकर है। यहाँ तक कि आनन्दही सृष्टि स्थिति और मुक्तिका मूल कारण है। ऐसे आनन्दकी व्यापकसत्तापर सन्देह करके यदि शङ्का की जाय कि आनन्दका

अतः कुसुमेक्षणादानन्दः ॥५३॥

विकाश चेतनमें तो होता है किन्तु जड़में कैसे होता है और यदि जड़में आनन्द नहीं है तो पुनः आनन्दकी व्यापकता कैसे सिद्ध होती है ? इस प्रकारकी शङ्काओंका समाधान करके अपने विज्ञान-की अधिक पुष्टिकेलिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। पुष्प ऐसा एक पदार्थ है कि जिसको देखनेसे ही प्रत्येक दर्शकको आनन्दकी प्राप्ति होती है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि जड़पदार्थमें भी आनन्दका विकाश बना रहता है। पवित्र स्त्रीके मुखकी शोभा, तपस्वी और भगवत्भावापन्न महापुरुषके मुखका तेज, बालकके पवित्र मुखकमलका सौन्दर्य, प्राकृतिक नाना सौन्दर्यकी रमणीयता किस दर्शकके चित्तमें आनन्दका आविर्भाव नहीं करता है ? इसी प्रकार अन्य विषयोंको भी समझना उचित है। यथा संगीतकी माधुरी, बालककी तोतली वाणी किस श्रोताके अन्तःकरणमें आनन्दका आविर्भाव नहीं करती है। तात्पर्य यह है कि जड़ पदार्थोंमें दिव्यभावके विशेष विकाशके साथ साथ भगवद्-भावका विकाश बना रहता है। जहाँ जहाँ वह दिव्यभाव बना रहता है वहाँ अवश्य ही आनन्दज्योति चमकती रहती है ॥५३॥

अब मुक्तिपदके सारल्यकेलिये आनन्दका श्रेणीवर्णन कर रहे हैं :—

आनन्द द्विविध है ऊर्द्ध्वगामी ब्रह्मानन्द और अधोगामी विषयानन्द ॥५४॥

द्विविधोऽयमूर्द्ध्वगो ब्रह्मानन्दो अधोगो विषयानन्दः ॥५४॥

ब्रह्मानन्द और विषयानन्दका विस्तारित स्वरूप परस्परका सम्बन्ध आत्मासे दोनोंके सम्बन्ध आदिके विज्ञानका पहले कई बार भलीभाँति वर्णन हो चुका है। इसकारण यहाँपर द्विरुक्तिकी आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः स्वरूपका जो आनन्द है वही ब्रह्मानन्द है और विषय और विषयीके सम्बन्धसे जो आनन्द है, वह विषयानन्द है। इस विषयको पक्षान्तरसे भी समझ सकते हैं कि विषय रागरहित रागात्मिका आदि भक्तिका जो आनन्द है वह ब्रह्मानन्द है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि तन्मात्राओंकी सहायतासे जो विषयजनित आनन्द है वह विषयानन्द है। इस विषयको और भी स्पष्ट करनेके लिये रूपान्तरसे समझ सकते हैं कि कामना और आसक्तिजनित वेगसे जो विषय सुखका अनुभव है वही ब्रह्मानन्द हो जाता है। बन्धनप्रद आसक्ति और मुक्तिप्रद भावका विस्तारित वर्णन पहले किया गया है।

अस्तु, उसी विज्ञानके अनुसार आसक्तिजनितविषयभोग बन्धनका हेतु हो जाता है और शुद्धभावसे सुसंस्कृत जो विषयका अनुभव है वह मुक्तिका कारण बन जाता है। इस उन्नत अवस्थाके जो ज्ञानियोंका विषय अनुभव होता है वह विषयानन्द नहीं कहाता है, क्योंकि वह विषयवासनाकी कालिमासे रहित होता है। ऊपर लिखित विवरणसे ब्रह्मानन्दकी कोटि और विषयानन्दकी कोटि दिखाई गई है। वस्तुतः सद्भावसे शून्य, विषयवासनासे कलङ्कित, नाशवान् विषयानन्द चाहे किसी श्रेणीका हो वह जीवको प्रतिमुहूर्त नीचेकी ओर गिराता जाता है और वासनाशून्य तीनों गुणोंसे अतीत

आत्मासे युक्त ब्रह्मानन्द चाहे किसी श्रेणीका हो वह अवश्य ही साधकको दिन प्रतिदिन उन्नतसे समुन्नत करता जायगा। सारांश यह है कि विषयानन्द जीवको आवागमनचक्रमें घुमाता रहता है और नीचेकी ओर उतार कर प्रेतत्व, नरक यहाँ तक कि तिर्य्यक् योनियोंतक पहुँचा सकता है। ब्रह्मानन्द अवश्य ही अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद है ॥५४॥

मुक्तिमार्ग सुगम करनेके अर्थ विषयानन्दका खण्डन किया जाता है :—

मदानन्दकी तरह जड़ता प्राप्तकारक होनेसे यह प्रशस्य नहीं है ॥५५॥

मुक्तिमार्गका पथिक मुक्तिमार्गमें चलता हुआ विषयानन्दमें कहीं फँस न जाय, ऐसे भयसे साधकको बचानेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि साधनमार्गमें विषयानन्द प्रशंसनीय नहीं है। जैसे मादक द्रव्यका आनन्द जड़ताकी ओर ले जाता है उसीप्रकार सब विषयानन्द साधकको जड़ताकी ओर ले जाते हैं। संसारिक दृष्टिसे जितने प्रकारके विषयानन्द हैं उनमेंसे मादक द्रव्यका आनन्द विषय-बुद्धिके अनुसार श्रेष्ठ समझा जाता है। इस कारण उसीका उदाहरण दिखाकर महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि थोड़े धैर्य और अनुभवसे यह जाना जा सकता है कि, मादक द्रव्यके सेवनद्वारा यद्यपि सामयिक विषयानन्दकी प्राप्ति होती है, परन्तु यह अनुभूत सिद्धान्त है

नायं प्रशस्यो जड़ताप्रापकत्वान्मदानन्दवत् ॥५५॥

कि उस आनन्दकी गति स्वभावतः जड़ताकी ओर रहती है। नशेकी अवस्थामें चित्त आधिभौतिक आनन्दको ही चाहता है और नशेके अवसानमें नशाकरनेवाला अवसन्न होकर जड़ताको प्राप्त हो जाता है। इसी उदाहरणके अनुसार अन्य सब विषयानन्दको समझना उचित है ॥५५॥

अब योगविज्ञानके अनुसार इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जाती है—

यह ऊर्द्ध्वगामी होनेपर धारणाभूमिको प्राप्त कराता है ॥ ५६ ॥

स्वविज्ञानकी पुष्टिकेलिये कहा जाता है कि यदि मादक द्रव्य सेवन करके साधक भावशुद्धिपूर्वक अपने अन्तःकरणकी गतिको ऊर्द्ध्व रखनेका प्रयत्न करें और उसके साधनमें सफलता प्राप्त करें तौभी यह अनुभवसिद्ध सिद्धान्त है कि उस समय साधक केवल प्रत्याहार-भूमिसे आगे बढ़कर धारणाभूमितक पहुँचकर साधन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मादक द्रव्य उपासनाका सहायक बनता हुआ साधकको केवल धारणाभूमितक पहुँचा सकता है। दूसरे पक्षमें मादक द्रव्ययुक्त व्यक्तिको भी ध्यानभूमि और समाधिभूमिमें सफलता प्राप्त करते हुए बाधा दिया करता है। क्योंकि उसकी गति जड़ताकी ओर है, यह साधककेलिए सदा स्मरण रखने योग्य है ॥५६॥

अयमूर्द्ध्वगो धारणान्तप्रापकः ॥५६॥

प्रसङ्गसे भावकी उपकारिता कही जाती है—

सद्भावकी सहायतासे मन्द भी उत्तम होता है ॥५७॥

भावकी महिमा और भावका विज्ञान पहले विस्तारित रूपसे वर्णन किया गया है और यह भी सिद्ध किया गया है कि भावकी सहायतासे पापकर्म भी पुण्यकर्ममें परिणत हो जाते हैं।

पुनः वर्णन करनेकी आवश्यकता न रहनेसे विस्तारित नहीं कहा गया। यह भावकी ही महिमा है कि आपद्धर्मके अनुसार महर्षि-विश्वामित्रके पापजनक श्वानमांसके द्वारा पुण्यजनक देवपितृयज्ञकी सम्भावना हुई थी। सद्भावका ही असाधारण प्रभाव है कि जीव-हत्यारूपी मन्दकर्म भी यज्ञके द्वारा उत्तम पुण्यजनक कर्ममें परिणत हो जाता है। वेद इस विज्ञानका हाथ उठाकर प्रमाण देता है। तामसिककर्म कदापि सात्त्विक कर्म नहीं हो सकता है और न पाप पुण्यमें परिणत हो सकता है, परन्तु केवल सद्भावकी सहायतासे वैसा असम्भव सम्भव हो सकता है, इसकारण इस सूत्रमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है ॥५७॥

विज्ञानकी और भी दृढ़ता कर रहे हैं:—

भक्तके लिए विषयानन्द भी ब्रह्मानन्दप्रद होता है ॥५८॥

भक्ति क्या है, भक्तके भेद और लक्षण क्या हैं और भक्तिके साथ भावका कैसा सम्बन्ध है, ये सब विषय अतिविस्तारितरूपसे पहले

मन्दोऽपि सद्भावत उत्तमः ॥५७॥

विषयानन्दोऽपि ब्रह्मानन्दो भक्तेभ्यः ॥५८॥

विवृत हो चुके हैं। भक्त सदा भगवत्भावमें उन्मज्जन निमज्जन करता रहता है। भक्तका खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना भगवत्पादारविन्दमें युक्त होकर हुआ करता है। इस कारण भक्तके विषय अनुभवमें भावशुद्धि स्वतः ही बनी रहती है। भावशुद्धि होनेसे असत्कार्य भी सत्कार्यमें परिणत होता है, यह भी पहले सिद्ध हो चुका है। सुतरां भक्तका विषयानन्द ब्रह्मानन्दप्रद होगा, इसमें सन्देह ही नहीं है। विज्ञानकी निश्चयता प्रतिपन्न करनेकेलिये 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है ॥५८॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है:—

चाञ्चल्य और निरंकुशतामें विषयानन्दका विस्तार होता है। धैर्य और ज्ञानमें स्वरूपानन्दका उदय होता है, ॥५९॥

जब ब्रह्मानन्द और विषयानन्द दोनोंके विज्ञानकी आलोचना हो रही है तो दोनोंकी उत्पत्ति और स्थितिकी पर्यालोचना करना अत्यावश्यकीय है। गुणतः और स्वरूपतः विषयानन्द हेय और ब्रह्मानन्द उपादेय है। इस कारणसे भी दोनोंकी उत्पत्ति और स्थितिकी पर्यालोचना अवश्य करणीय है। विषयसंगसे और इष्टसंगसे ब्रह्मानन्दकी उत्पत्ति होकर चञ्चलता और निरंकुशताद्वारा विषयानन्द-

---

विषयानन्दस्य प्रसृतिश्चाञ्चल्ये निरंकुशत्वे च स्वरूपानन्दोदयो धैर्यज्ञाने च ॥५९॥

का विस्तार होता है। और धैर्य तथा ज्ञानद्वारा ब्रह्मानन्दके स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। मुमुक्षके मुक्तिमार्गको सरल करनेके लिये कहा जाता है कि प्रतिमुहूर्तमें तथा आनन्दके अनुभवमें चाञ्चल्य और निरङ्कुशतका त्याग अवश्य किया जाय और धैर्य तथा ज्ञानकी अभिवृद्धिकी चेष्टा सदा की जाय।

शरीर और मनकी चञ्चलता द्वारा तथा प्रमादयुक्त निरंकुशता द्वारा अन्तःकरणके प्रवल वेगसे मुमुक्षुका चित्त तरङ्गायित रहता है, इस कारण स्वरूपकी निर्मलज्योति अन्तःकरणमें प्रतिविम्बित नहीं हो सकती है और चञ्चलचित्त और प्रमादी व्यक्ति विषयमें अधिक फँस जाता है। इस कारण मुमुक्षुकेलिये यह दशा हेयहै। मुमुक्षुकेलिये धर्म और ज्ञानका अवलम्बन सदा उपादेय है। क्योंकि साधकका शरीर और मन जितना धैर्यशाली होगा तथा जितना विचारशील होगा उतनाही उसके अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपके विकाशका अवसर होगा ।।५६।।

शङ्काका समाधान किया जाता है :—

विषयानन्द त्याज्य होनेपर भी ब्रह्मानन्दका सोपान है। विषयानन्दसे ब्रह्मानन्द अनुमेय है ।।६०।।

विषयानन्द हेय है, परन्तु जबतक द्वैत है तबतक दृश्यरूपी विषयका अनुभव भी अवश्यंभावी है, शरीर रहते हुये विषयका सर्वथा त्याग होनाभी असंभव है। ऐसी दशामें विषय हेय

हेयोऽपि विषयानन्दो ब्रह्मानन्दसोपानमतस्तेनासौऽनुमेयः ।।६०।।

होनेपरभी विषयसे वचना कैसे सम्भव है ? इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें कहा जाता है कि यदि विचार द्वारा ऐसा सिद्धान्त निश्चय हो जाय कि विषयानन्द हेय होनेपर भी वह ब्रह्मानन्दप्राप्तिका सोपान है और सहजसाध्य जो विषयानन्दके अनुभव करनेसे सब आनन्दोंका आधाररूप ब्रह्मानन्दका अनुमान हो सकता है तो विषयानन्दके फन्देसे मनुष्य वच सकता है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चारों प्रकारकी वासनाओंसे किसी वासनाका पुरुष हो उसका जो कुछ पुरुषार्थ होगा वह आनन्दप्राप्तिके लिये ही होगा। इस विषयका विस्तारित वर्णन पहले भी आचुका है। बिना आनन्दकी इच्छाके पुरुषार्थमें प्रवृत्ति किसीकी भी नहीं होती है। चाहे मोक्षाभिलाषीका ब्रह्मानन्द लक्ष्य हो, चाहे कामाभिलाषीका विषयानन्द लक्ष्य हो, परन्तु एकमात्र आनन्दलक्ष्यके बिना किसी अधिकारीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती है। इस कारण सब प्रकारकी प्रवृत्तिका आनन्द ही लक्ष्य होनेसे विचारवान् के निकट विषयानन्द द्वारा ब्रह्मानन्दका अनुमान करने योग्य है। क्योंकि विषयानन्द ब्रह्मानन्दका ही प्रतिबिम्ब है। विषयानन्द ब्रह्मानन्दका प्रतिबिम्ब किस प्रकारसे है, सो पहले भलीभाँति वर्णन किया गया है। फलतः विचारशील समदर्शी सद्भावापन्न व्यक्ति ऐसा अनुभव करते हैं कि लौकिक विषयानन्दके द्वारा अलौकिक ब्रह्मानन्दका ही अनुमान होता है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि द्वैतप्रपञ्चमय संसारमें विषयपरागरञ्जित मार्गके सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। उस मार्गमें चलते हुये यदि

मुमुक्षु भावशुद्धिपूर्वक विषयानन्दको ब्रह्मानन्दका सोपान समझकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करता हुआ उसीकी ओर स्थिर लक्ष्य रहे तो उसकी भवव्याधि अवश्य ही दूर हो जायगी। विषयानन्दकी इस लक्ष्यसे उपकारिता वर्णन करनेके लिये ही इस सूत्रमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है ॥६०॥

प्रसङ्गसे स्वरूपस्थकी महिमा वर्णन की जाती है :—

स्वरूपस्थ महापुरुष विषयानन्दमें भी ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हैं ॥६१॥

पराभक्तिका पूर्ण अधिकारी स्वरूपस्थ महापुरुषका अन्तःकरण सदा निर्विकल्प समाधिमें स्थिर रहता है। उनकी सक्रिय और निष्क्रिय अवस्था, उनकी स्वरूपावस्था और व्युत्थान अवस्था, उनकी विषयोन्मुख और विषय विमुख अवस्था सब ही निर्विकल्प समाधिभूमिमें ही हुआ करती है।

सुतरां स्वरूपस्थित जीवन्मुक्त महात्मा विषय अनुभवका व्युत्थानदशामेंभी अपने अन्तःकरणकी अद्वैतस्थितिके कारण और भगवद्‌भावमय पराभक्तिके बलसे विषयानन्दमेंभी निर्विकार ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हुये भगवद्‌भावमें डूबे रहते हैं। द्वैतदशामें विषयानन्द हेय होनेपरभी जीवन्मुक्तकी अद्वैतदशामें हेय और उपादेयकी समता हो जाती है। इसी कारण इस सूत्रमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है ॥६१॥

विषयानन्देऽपि ब्रह्मानन्दः स्वरूपस्थेनानुभाव्यः ॥६१॥

प्रसङ्गसे मुमुक्षुको सावधान करनेके लिये कहते हैं :—

उसके अभावसे आरुरुक्षुका पतन होता है ॥६२॥

योगारूढ़की अवस्थाका वर्णन करके अब आरुरुक्षुके उपकारार्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। दोनोंके कर्तव्यके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में कहा है :—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

अर्थात् साधन अवस्थावाले आरुरुक्षु मुनिकेलिये कर्मही कारण और सिद्धावस्थावाले योगारूढ़ महापुरुषके लिये निर्विकल्प समाधि कारण है।

इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि योगारूढ़ जीवन्मुक्त तो अपनी निर्विकल्प समाधिके द्वारा स्वयं ही विषयानन्दमें ब्रह्मानन्दका स्वरूप अनुभव करता हुआ पराभक्तिमें मग्न रहता है, जैसा पहले सूत्रमें कहा गया है। परन्तु आरुरुक्षु मुनिकोभी भावशुद्धिके द्वारा विषयानन्द ग्रहण करते समय भगवद्भावके साधन द्वारा अपने हृदयमें लाकर ब्रह्मानन्दकी ओर ऊर्द्ध रखना उचित है। यदि साधक अपनी साधना अवस्थामें ऐसा न करके विषयानन्दका अनुभव केवल विषयबुद्धिसे करे तो अवश्यही उसका साधनदशासे पतन हो जायगा। मुक्त होने पर्य्यन्त जीवके साथ विषयका सम्बन्ध छूटही नहीं सकता है। दूसरी ओर केवल विषयबुद्धिसे विषयका अनुभव

तदभावे पतनमारुरुक्षूणाम् ॥६२॥

करनेसे बन्धन-ग्रन्थि उत्तरोत्तर और भी दृढ़ होती जाती है। परन्तु जब साधक इस भयके विज्ञानको भलीभाँति समझकर विषय अनुभवमें भावशुद्धि विज्ञानकी सहायता लेता रहे तो उसका पतनका मार्ग बन्द हो जाता है और उत्तरोत्तर क्रमोन्नति होती रहती है। ६२॥

मुक्तिमार्ग सरल करनेके अर्थ कहा जाता है :—

सृष्टिके सात और तीन भेदोंमें उसका अनुभव उपासना योगसे होता है ॥६३॥

मनुष्य जिस भूमिमें गिरता है उसी भूमिके आश्रयसे खड़ा होता है। सृष्टिके तीन-तीन और सात-सात भेद वेद और शास्त्रोंमें कहे गये हैं। वेदोंमेंभी पाश करके वर्णन किया गया है।

यथा श्रुतिमें :—"ओं ये ते पाशाः सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति"।

सुतरां अघटनघटना-पटीयसी अविद्या विद्यारूपिणी जगज्जननी महामाया त्रिविध त्रिविध और सप्तविध सप्तविध भेदोंको धारण करके सृष्टिप्रवाहमें जीवको प्रवाहित करती रहती है। भाग्यवान् उपासक जब पराभक्तिकी कृपासे कार्य और कारणकी एकता सम्पादन करनेमें समर्थ होता है उस समय इन्हीं तीन-तीन और सात सात भेदोंके उच्चस्तरोंके अवलम्बनसे मुक्तिपथको सरल करके आगे बढ़ जाता है। सृष्टिके सात-सात भेदोंको तत्त्वदर्शी महर्षियोंने किस प्रकारसे वर्णन किया है सो रसपादमें विस्तारित विवरण किया गया

सर्गस्य त्रिभेदसप्तभेदेषु तदनुभव उपासनायोगात् ॥६३॥

है। इस कारण यहाँ दुरुक्ति अप्रयोजनीय है। अब उसके तीन-तीन भेदोंके कुछ उदाहरण शास्त्रोंसे दिये जाते हैं :—

यथा सबके मूलरूपसे सत्त्व, रज, तम त्रिगुण और उनके अधिष्ठात्रीरूप देव त्रिमूर्ति देवताओंके तीन भेद यथा ऋषि देवता पितर धर्मके त्रिविध प्रधान अङ्ग, भावत्रय वेदशास्त्रकी त्रिविध भाषा, त्रिविध रात्रि, त्रिसन्ध्या, त्रिविध व्याधि, त्रिविध चिकित्सा, त्रिविध लोक, त्रिविध योनि, त्रिविध कर्म, त्रिविध अधिकार मनुष्यके तीन स्वभाव, त्रिविध शरीर, त्रिविध ध्यान, त्रिविध गति, त्रिविध आचार, इत्यादि अनेक भेद शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। जब साधक उपासना-योगकी सहायतासे मुक्तिमार्गमें अग्रसर होता है तब यही सर्गके सात-सात और तीन तीन भेद जो स्वभावत: सृष्टिके स्थायी रखनेमें उपयोगी थे वे ही तत्त्वज्ञानकी सहायतासे मुक्तिमार्गके सरल करनेका कारण बन जाते हैं। उपासनायोगके प्रभावसे जब अज्ञानका प्रभाव नष्ट हो जाता है और भक्तिमन्दाकिनी भक्तके हृदयमें प्रवाहित होकर उसके अन्तःकरणको परिशुद्ध कर देती है तो प्रथम अवस्थामें इन तीन-तीन और सात सात भेदोंमें भाग्यवान् भक्त अपने हृदयनाथ भगवान् के गुणमय स्वरूपका अनुभव करता है। और दूसरी अवस्थामें उन्हीं तीन तीन और सात सात भेदोंको मुक्तिपथका साथी कैसे बनाता है सो आगे कहा गया है ॥६३॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

समर्पण तीन प्रकारका है ॥६४॥

समर्पणं त्रिविधम् ॥६४॥

योग और भक्तिमय उपासनाके वलसे जव भाग्यवान् साधक अपने मल विक्षेप और आवरणको नाश करनेमें समर्थ होता है, और त्रिविध और सप्तविध सर्ग विभागोंके अवलम्वनसे भगवत्-स्मरण करते हुये भक्तिमार्गकी श्रेष्ठभूमिमें पहुँच जाता है, तव प्रकृतिके स्वाभाविक त्रिभेदको धारण करके विद्यारूपिणी भक्ति उस महापुरुषको तीन प्रकारके समर्पणके मार्ग सोपानमें अग्रसर करके कैवल्यपद प्रदान करती है। आत्मसमर्पणका यथार्थ अधिकारी होकर भाग्यवान् मुमुक्षु अपने जीवत्वका परित्याग कर देता है। क्योंकि मुक्ति समर्पणसे होती है यह पहलेही सिद्ध हो चुका है॥ ६४॥

प्रथम अधिकारका वर्णन किया जाता है :—

वह मेरा ही है यह प्रथम है ।६५।

भाग्यवान् भक्त मुक्ति प्रदायक भक्तिपथमें अग्रसर होकर सवसे प्रथम वह मेरा ही है, इस प्रथमभक्ति अधिकारको प्राप्त होता है।

सांसारिक स्नेह, प्रेम और श्रद्धाराज्यमें देखा जाता है कि चाहे स्नेहका अधिकारी, चाहे प्रेमका अधिकारी चाहे श्रद्धाका अधिकारी व्यक्ति हो, वे मेरे हैं, ऐसा अनुभव सवसे प्रथम उत्पन्न होता है। पुत्र मेरा है, पति मेरा है, पिता मेरे हैं इस प्रकारका स्वाभिमान युक्त आत्मीयता गुम्फित अनुराग अनुरागीके हृदयमें जब उत्पन्न होता है, तभी वह अनुरागी उक्त प्रेमपात्रके सुख दुःखके साथ अपना दुःख-सुख मिलाकर उसको अपना बना लेता है। संसारमें अनेकके पुत्र

ममैवासौ इति प्रथमम् ॥६५॥

हैं परन्तु अमुक मेरा पुत्र है, संसारमें अनेकके पति हैं परन्तु अमुक मेरा पति है, और संसारमें अनेकके पिता हैं किन्तु अमुक मेरा पिता है, इस प्रकारका स्वाभिमानयुक्त अनुराग होनेसे ही अनुरागका पात्र और अनुरागका कर्ता, इन दोनोंमें एकता स्थापित होती है। इसी दृष्टान्तसे समझने योग्य है कि जब भक्त भक्तिराज्यमें वैधी भक्ति और रागात्मिका भक्तिकी सहायतासे कृतकृत्य होने लगता है तब प्रथम अवस्थामें उसको ऐसा अनुभव होने लगता है कि वे भगवान् मेरे ही हैं। यह अधिकार प्रथम है इस कारण इसमें अपने अहङ्कारका सम्बन्ध बना रहता है। मेरा पुत्र मेरा है अतः वह मेरी इच्छाके अनुपरूप हो, मेरी इच्छाके विरुद्ध न चले इत्यादि इच्छा जैसे पुत्रवान् पिता माताके चित्तमें बनी रहती है ऐसे ही स्वाभिमानयुक्त वासना इस अधिकारमें भक्तके हृदयमें भी बनी रहती है। उपासना और साम्प्रदायिक मतभेद आदिका अस्तित्व तथा धर्माधर्म भेद आदिका अनुभव और यथासम्भव अनुदारताका रहना इसी अधिकार तक सम्भव है। आगेके अधिकारमें ये सब बातें नहीं रहती हैं। इतना अवश्य है कि इस अधिकारमें पहुँचकर साधकका पुनः पतन नहीं होता है ॥६५॥

अब दूसरा अधिकार कहा जाता है:—

उसका ही मैं हूँ, यह द्वितीय है ॥६६॥

भक्तिमूलक समर्पणका दूसरा उन्नततर अधिकारका जब उदय होता है तब भाग्यवान् भक्त ऐसा अनुभव करता है कि मैं उनका ही

तस्यैवाहमितिद्वितीयम् ॥६६॥

हूँ। इससे पहलेका जो अधिकार था अर्थात् वे मेरे ही हैं, इस प्रकारका अनुभव जिसमें है उसमें अपना स्वार्थ, अपनी स्वाधीनता और अपना स्वाभिमान बना हुआ था। परन्तु इस उन्नततर समर्पणके अधिकारमें अपना स्वार्थ रह ही नहीं सकता है, क्योंकि मैं उनका हूँ, ऐसा अनुभव होनेसे मेरा सब कुछ जब उनका बन जाता है, तो मेरी स्वार्थपरता उनकी इच्छामें लय हो जाती है।

उसीप्रकार भक्तिकी इस मधुर दशामें स्वाधीनता वृत्ति भी लय हो जाती है। क्योंकि जब अपना प्राण, मन और जीवन उद्देश्यकी स्वतन्त्रता नहीं रहती है, तो अपनी स्वाधीनता रह ही नहीं सकती। उसी प्रकार इस अलौकिक प्रेमकी दशामें स्वाभिमान तो अपने अहङ्कार और अस्तित्वके साथ अपने हृदयनाथमें लय ही हो जाता है। जब मैं उनका हूँ, यह धारणा वस्तुतः दृढ़ हो जाती है तो अपने स्वाभिमानका मूलोच्छेद हो जाता है, तब अपने इष्टकेलिये ही अपना सर्वस्व है अपने लिये नहीं है, ऐसी अन्तर्वाहरकी प्रकृति भक्तकी बन जाती है। ध्यानकी सिद्धावस्थामें ध्येयके सिवाय और दूसरा लक्ष्य ही जैसे नहीं रह सकता है, और उस समय ध्याता अपने अस्तित्वको भूल जाता है वैसेही इस भक्तकी उन्नत दशामें भाग्यवान् भक्तके अन्तःकरणकी दशा स्वतः बन जाती है। योगविज्ञानसे समझने योग्य है कि इससे पहली दशा धारणाभूमिकी है और यह दशा ध्यानसिद्धि की है, ऐसा कहा जा सकता है। भक्तकी इस उन्नत दशामें न उपासनाविरोध रह सकता है, न साम्प्रदायिक मतभेद रह सकता है, और न धर्म और

धर्मोंका पक्षपात ही उसके शान्तिमय हृदयको विचलित कर सकता है ॥६६॥

अब अन्तिम अधिकार वर्णन किया जाता है :—

वे ही मैं हूँ, यह तृतीय है ॥६७॥

समर्पणका तृतीय अर्थात् अन्तिम अधिकारका अनुभव यह है कि उस समय भक्त और भगवान्में अभेद हो जाता है। समाधि-भूमिमें सब समय स्थित रहकर निर्विकल्प-समाधिदशाको प्राप्त करके भागवत तब अनुभव करता है कि भगवान्में और मुझमें भेद नहीं है। वे मैं ही हूँ, ये तीनों प्रकारके समर्पण जीवके अहंकारके सम्बन्धसेही समझे जा सकते हैं। वस्तुतः उत्तरोत्तर इन तीनों अधिकारोंमें जीवका अहङ्कार मूलक अस्तित्वकाही यथाक्रम त्याग-रूपी समर्पण समझा जा सकता है। इन तीनों अनुरागमूलक समर्पणोंके अधिकारके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा गया है—

प्रेम्णोऽस्ति त्रिविधो भेद स्तत्राद्यः सममेत्ययम् ।
अहं तस्येत्ययं मध्यः सोहमस्मीति चान्तिमः ॥
इहाद्वैतदशायां हि स्वानुभूत्यैकगोचरः ।
ब्रह्मणस्तस्य शक्तश्च भेदाभावः प्रसिद्ध्यति ॥

प्रेमके तीन भेद हैं। उनमेंसे पहला, वे मेरे हैं, यह है, मैं उनका हूँ, यह दूसरा है और वे मैं हूँ, अर्थात् वे और मैं एकही हूँ यह अन्तिम है। इस अन्तिम प्रेममें अद्वैतदशा होती है,

---

स एवाहमिति तृतीयम् ॥६७॥

जिसमें एकमात्र स्वानुभवसे जानने योग्य ब्रह्म और उनकी शक्तिका भेदाभाव सिद्ध होता है। यह सर्वोन्नत दशा पराभक्तिकी पूर्णतामें प्राप्त होती है। जिसका विस्तारित वर्णन पराभक्ति विज्ञानमें कहा गया है ॥६७॥

विघ्नभय निवारणके लिये कहा जाता है :—

दर्शनके अभावसे अन्तिम तत्त्वावलम्बनद्वारा नास्तिकता होती है ॥६८॥

भक्तिमार्गकी महिमा स्थापन और इस अवस्थामें विघ्नभय निवारणके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यदि पूर्व्वकथित पहली अवस्थासे तीसरी अवस्थाकी प्राप्ति भक्तिमार्गकी सहायतासे हो तो विघ्नके भयकी कोईभी सम्भावना नहीं, क्योंकि भगवत्भावसे युक्त भक्तिमार्ग निर्भय है। परन्तु यदि ऐसा न हो और साधक श्रीभगवान्के अस्तित्वको भूलकर केवल विचारद्वारा अद्वैतभूमिमें पहुँचनेका प्रयत्न करे तो उसको बड़े भारी विघ्नभयमें पड़ना पड़ेगा। एक ओर भगवद्भक्तिका अभाव और दूसरी ओर दार्शनिक शुद्धदृष्टिका अभाव होनेसे अद्वैतभूमिमें अन्तिम आकाशतत्त्वके अवलम्बन द्वारा योगीके चित्तमें नास्तिकताका उदय होना सम्भव है। नास्तिकताके उदय होनेसे आध्यात्मिक उन्नतिके पथमें सब प्रकारके विघ्न प्राप्त होकर साधकका पतन हो जाता है। जिस प्रकार भक्तिमार्गका एक क्रम है

अदर्शनादन्तिमतत्त्वावलम्बनेन नास्तिकः ॥६८॥

जैसा कि पूर्वमें नाना प्रकारसे वर्णन किया गया है, वैसे ही दार्शनिक ज्ञानमार्गका एक क्रम है जो वैदिक सप्तदर्शनोंके यथाक्रम श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उनके क्रमाधिकारोंको ज्ञानी प्राप्त करता है। इन अकाट्य सिद्धान्त पूर्ण ज्ञानमार्गके क्रमाधिकारोंको न प्राप्त करके यदि केवल विचारशैली द्वारा ज्ञानमार्गका पथिक अद्वैतभूमिमें पहुँचकर कृतकृत्य होनेकी चेष्टा करे तो उसके नास्तिक हो जानेकी सम्भावना है। इसी कारणसे पृथिवीके अनेक धर्ममार्ग भगवद्भक्ति और अधिदैवतत्त्वकी ओर उपेक्षा करनेसे नास्तिक मतावलम्बी बन गये हैं। जिनके दृष्टान्त अनेक हैं। इस विषयको अन्य प्रकारसेभी समझ सकते हैं कि, वेदोक्त सात ज्ञानभूमि जिनका वर्णन पहले आ चुका है, उनके अनुसार यथाक्रम दो पदार्थवाद दर्शन, दो सांख्यप्रवचन दर्शन और वेद काण्डत्रयके अनुसार तीन मीमांसादर्शन शास्त्रोंके विधिपूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेपर कोईभी भयकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि इन सबोंमें यथाधिकार ईश्वरतत्त्व निहित है। दोनों पदार्थवाद दर्शन अनुमानसे ईश्वरतत्त्व सिद्ध करते हैं। दोनों सांख्य-प्रवचनदर्शन स्वभूमिमें अनावश्यक होनेपरभी ईश्वरतत्त्वकी पुष्टि करते हैं।

कर्ममीमांसाका पूर्वार्द्ध कर्मकी ग्रहणगतिका विज्ञान वर्णन करनेके साथही साथ ईश्वरतत्त्वकी सिद्धि करके तब उत्तरार्द्धमें वैदिक यज्ञोंका विज्ञान निर्णय करता है और वेदके उपासना-काण्ड-की दैवीमीमांसा और ज्ञानकाण्डकी ब्रह्ममीमांसा तो ईश्वरतत्त्वकी

सिद्धिके साथही साथ अधिदैव रहस्य और अध्यात्मरहस्यका विज्ञान प्रतिपादित करते हैं। सुतरां वैदिक सप्तदर्शनोंके यथाक्रम अनुशीलनद्वारा इस प्रकारके भयकी सम्भावना ही नहीं है। परन्तु यदि ऐसा न हो तो विचारशील व्यक्ति या कोई उपधर्म सम्प्रदाय ईश्वर भक्तिविहीन और उस दशामें वह अन्य विचारशैलीके द्वारा अन्तर्राज्यमें अग्रसर होनेका प्रयत्न करे तो अन्तमें अद्वैतभूमिके निकट पहुँचकर उसको अगत्या अधिदैव अवलम्बनसे च्युत होकर सर्वव्यापक महान् अनन्तरूपी अन्तिमतत्त्व अर्थात् आकाशतत्त्वका अवलम्बन बिना समझेही लेना पड़ता है। क्योंकि आकाशतत्त्वके स्वरूपमें अद्वैतभूमिके अनेक लक्षण विद्यमान हैं। यही कारण है कि वैदिक दर्शनमार्गोंसे च्युत और अधिदैव अवलम्बनत्यागी भगवद्भक्तिविहीन विचारवान् व्यक्ति चाहे कितनाही उन्नतहो उसको इस प्रकारके भयकी सम्भावना अवश्य रहेगी। इसी भ्रम और प्रमादके कारण जगत्में अनेक नास्तिकमत प्रकाशित होते आये हैं और होते रहेंगे ॥६८॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

सप्तभूमिके अवलम्बनसे दर्शन सप्तविध हैं ॥६९॥

किस प्रकारसे प्राकृतिक राज्य सप्तभागमें विभक्त है, इसका विस्तारित वर्णन पहले आ चुका है उसीके अनुसार कर्मकाण्डकी सप्तभूमिकायें और उनके अनुभव अलग-अलग हैं। तीनों काण्डोंके पृथक् पृथक् भूमियोंके वर्णन उनके अनुभवोंके वर्णन तत्तत् काण्डों-

दर्शनं सप्तविधं सप्तभूम्यवलम्बनात् ॥६९॥

के मीमांसादर्शनोंमें पाये जाते हैं। इसी दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार उपासनाकाण्डकी दर्शनशैलीभी सात प्रकारकी है जिसकी सूचना इस सूत्रमें की गयी है और जिनका वर्णन यथाक्रम अगले सूत्रोंमें आवेगा ॥६९॥

प्रथम दर्शनका वर्णन किया जाता है :—

दिव्य नामोंमें प्रथम है ॥७०॥

भक्तिमार्गका पथिक भक्तिरसका रसिक हो जानेपर जब वह अन्तर्राज्यमें अग्रसर होता है तो सबसे प्रथम उसको जो दर्शनका अधिकार प्राप्त होता है उसमें वह भगवान्‌के दिव्य नामोंके अवलम्बनसे भगवत्‌सत्ताका अनुभव करनेमें समर्थ होता है। इसी कारण उपासनाकाण्डके आचार्योंने प्रथम भूमिको नामपरा कहकर स्वीकार किया है। भगवत्‌तत्त्व, वचन, मन और बुद्धिसे अतीत होनेपरभी भक्तिमें सद्भावनाकी सहायतासे साधक सबसे प्रथम दिव्य भगवन्नामोंके अवलम्बनसे श्रीभगवान्‌की सत्ताको अनुभव करने लगता है।

दिव्य शब्दका तात्पर्य यह है कि जो नाम केवल लौकिक न हो और जिनका सम्बन्ध दैवराज्यसे होनेके कारण वे मन्त्रशब्द वाच्य हों। मन्त्रका लक्षण पहले ही विस्तारित रूपसे वर्णन किया गया है। श्रीगुरुदेवके उपदेशद्वारा जब शिष्यको मन्त्ररूपी दिव्य भगवन्नामकी प्राप्ति होती है, उसके अनन्तर वैधी और रागात्मिका भक्तिकी सहायतासे साधकका प्रेम जब उस नामके ऊपर

दिव्यनामसु प्रथमम् ॥७०॥

स्थापित हो जाता है, तब उस समय उस नामके अवलम्बन द्वारा उसको अपने इष्टका जो स्मरण होने लगता है उसीको प्रथम अवस्था कहते हैं। इस संसारके नामरूपात्मक होनेका विज्ञान पहलेही विस्तारितरूपसे कहा गया है। उस विज्ञानके अनुसारभी नामका अधिकार प्रथम है। इस अधिकारकी सिद्धिमें साधक नामके श्रवण कीर्तन और जपद्वारा अपने अन्तःकरणको भगवत्भावमय करनेमें समर्थ होता है। किसी-किसी भक्तकी नामधारणा इतनी तीव्र हो जाती है कि नाम श्रवण कीर्तन अथवा जप होते समय उसका अन्तःकरण सविकल्प समाधिको प्राप्त होता है उसी समाधि-को महाभाव कहते हैं। नामसंकीर्तन होते समय भक्तोंको जो महाभावसमाधि प्राप्त करते हुये देखा गया है, वह उसी अवस्था-विशेषका दृष्टान्त है। तात्पर्य यह है कि नामके अवलम्बनसेभी साधक समाधिभूमिको प्राप्त कर सकता है। पूर्वमें जो चार योगोंके चार प्रकारकी समाधिका वर्णन पहले किया गया है उनमेंसे प्रथम श्रेणीकी समाधिका यद्यपि पूर्णस्वरूप इस अवस्थामें प्रकाशित नहीं होता है तथापि इस अवस्थाको महाभावसमाधिके अन्तर्गत समझ सकते हैं ॥७०॥

दूसरा वर्णन किया जाता है :—

दिव्यरूपोंमें द्वितीय है ॥७१॥

उपासनामार्गके दर्शनका द्वितीय अधिकार यह है कि इस समय साधक नाना दिव्यरूपोंके अवलम्बनसे भगवद्भावके अनुभव करनेमें

दिव्यरूपेषु द्वितीयम् ॥७१॥

समर्थ होता है। जिस प्रकार जिस शब्दके साथ दैवराज्यका सम्बन्ध है उसको मन्त्र कहते हैं, उसी प्रकार दिव्यरूप उसको कहते हैं कि जिस रूपके साथ दैवराज्यका सम्बन्ध स्थापित हो। नामसे रूपका अधिकार कुछ सूक्ष्म है क्योंकि नामके साथ बहिर्जगत् और शब्दराज्यका अधिक सम्बन्ध है। उसीप्रकार पूर्व दर्शनशैलीमें धारणाभूमिका अधिक सम्बन्ध है और इस दर्शनभूमिमें ध्यान-भूमिका अधिक सम्बन्ध है। इसमें साधक नामकी अधिक अपेक्षा न रखकर दिव्यरूपके स्मरणमात्रसे भगवत्भक्तिरूपी सागरमें उन्मज्जन करने लगता है और इस प्रकार ध्यानयोगके द्वारा समाधिभूमिमें पहुँचा करता है ॥७१॥

तीसरा वर्णन किया जाता है :—

विभूतियोंमें तृतीय है ॥७२॥

विभूतियोंका स्वरूप समझानेके लिये श्रीभगवान् स्वयं निज-मुखसे कहते हैं कि :—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जीतमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

अर्थात् जो ऐश्वर्ययुक्त सम्पत्तियुक्त प्रभाव बल आदि गुणद्वारा समन्वित जहाँ जहाँ है, तुम उन सबोंको मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न जानो। पुनः विभूतियोंकी अनन्तता होनेपर भी शास्त्रोंमें विभूति समझाते समय कहा है कि जैसे वृक्षमें पीपल, स्वेदजमें रोगघ्नकीट, अण्डजमें गरुड़ आदि, वर्णमें ब्राह्मण, मनुष्यमें राजा, आश्रममें

विभूतिषु तृतीयम् ॥७२॥

संन्यासी इत्यादि। इसी प्रकारसे प्रत्येक सूक्ष्मप्रपञ्चमें जहाँ जहाँ सौन्दर्य विशेष, शक्तिविशेष, ऐश्वर्य विशेष, प्रभावविशेष हो और चित्तको आकर्षण करे वहीं और उसी समय भगवद्भावका उदय होना इसी अधिकारकी अवस्था है। इसमें विचारकी आवश्यकता होनेसे यह पूर्वकथित अवस्थाओंसे उन्नत है। भक्तिमान् साधक चाहे तो प्रतिमुहूर्त विभूतिकी सहायतासे भगवद्भावमें मग्न रह सकता है। उसका चित्त चाहे स्थूलप्रपञ्चमें लगा रहे चाहे सूक्ष्मप्रपञ्चमें लगा रहे, सब अवस्थामें ही भाग्यवान् भक्त जिस दृश्यका अवलम्बन रखता हो वहीं वह विभूतिका अवलम्बन धारण करके भगवत्स्मरण कर सकता है। उदाहरणके रूपमें कहा जाता है कि दिनके आकाशमें सूर्य, रात्रिके आकाशमें चन्द्रमा या नक्षत्रादि अथवा आकाशको ही अनन्त मानकर मनुष्यसृष्टिमें तो प्रतिमुहूर्त ऊपरलिखित लक्षणोंसे विभूति-दर्शन तो मिलता ही रहता है। पुरुषमें तेज, स्त्रीमें शोभा, वृक्ष, लता, औषधि आदिमें फल और पुष्प ये विभूतियाँ हैं। इन्द्रियोंमें मन, जीवमात्रमें चेतनता ये सब संक्षिप्त उदाहरण हैं। इस प्रकारसे भाग्यवान् साधक इस भूमिमें पहुँचकर जिधर देखे जिधर मन ले जाय उधरही विभूतिके अवलम्बनसे भगवद्-दर्शनका लाभ उठाता है। और इसी धारणाके दृढ़ हो जानेसे समाधिकी प्राप्ति होती है ॥७२॥

चौथा वर्णन किया जाता है:—

स्थूल सूक्ष्मशक्तियोंमें चतुर्थ है ॥७३॥

जब साधकका अन्तःकरण और भी सूक्ष्म बन जाता है तब स्थूल और भी सूक्ष्म बन जाता है तब स्थूल और सूक्ष्मशक्तियोंके अवलम्बन करके वह कृतकृत्य होता है। स्थूल और सूक्ष्म-प्रपञ्चमें ऐसा कोईभी स्थान नहीं है जहाँ भगवत्शक्तिका विकाश किसी रूपमें न हो। अग्निमें दाहिका शक्ति, सूर्य्यसे लेकर दीपपर्यन्त यावत् तेजोमय पदार्थोंमें प्रकाशिका शक्ति आदि स्थूलशक्तियोंके उदाहरण हैं और मनकी सर्वगामी शक्ति, प्राणकी सर्वचालनशक्ति इत्यादि सब सूक्ष्मशक्तियोंके उदाहरण हैं। इस प्रकारसे समझने योग्य है कि इस भूमिमें भक्त स्थूल-सूक्ष्मशक्तियोंके अवलम्बनसे भगवद्भावके दर्शन द्वारा समाधिभूमिमें पहुँच सकता है ॥७३॥

पाचवाँ वर्णन किया जाता है:—

गुणोंमें पञ्चम है ॥७४॥

भक्तिमार्गके इस पञ्चमदर्शनभूमिमें जब साधक पहुँचता है तब उसकी भक्तिमय दार्शनिक दृष्टि और भी सूक्ष्म हो जाती है। उस समय पूर्वकथित अवलम्बनोंकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती, केवल प्रकृति के सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणोंका दर्शन करते हुये साधक कृतकृत्य होता है।

ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें किस प्रकार 'अहं ममेतिवत्' अभेद है, ब्रह्मशक्ति महामाया किस प्रकारसे त्रिगुणमयी है और तीनों गुणोंके

स्थूलसूक्ष्मशक्तिषु चतुर्थम् ॥७३॥ गुणेषु पञ्चमम् ॥७४॥

स्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिष्ठाता किस प्रकार सगुण ब्रह्म हैं, इनका विज्ञान पहले भलीभाँति वर्णन किया गया है। भक्तिकी इस दर्शनभूमिमें पहुँचकर अपनी ज्ञानदृष्टिकेद्वारा साधक प्रतिमुहूर्त केवल गुण-दर्शनकी सहायतासे भगवद्भावका अनुभव करता रहता है। उस समय त्रिगुण उसको बन्धन करानेमें असमर्थ हो जाते हैं और वह सब समय भगवत्-सत्ताका अनुभव करता हुआ निर्विकल्प समाधिकी ओर अग्रसर हो जाता है ॥७४॥

षष्ठ कहा जाता है :—

भावोंमें षष्ठ है ॥७५॥

त्रिभावका वर्णन पहले विस्तारित रूपसे आचुका है। भावका अधिकार गुणके अधिकारसे उन्नत है। क्योंकि यहभी पहले विवृत हो चुका है कि गुणसे सृष्टि, स्थिति, लय होता है और भावसे उनका अनुभव होता है। जब ज्ञानी भक्त भक्तिकी उच्चतरकोटिमें श्रीभगवान्की ज्ञानशक्तिका अधिकारी बन जाता है तब वह भाग्यवान् भक्त भगवान्के स्वरूपके सत्‌चित्-आनन्दभावोंका ही अनुभव करता हुआ सब समय भावसमुद्रमें ही उन्मज्जन निमज्जन करता रहता है। गुणदर्शनकी अवस्थामें द्रष्टा और दृश्यका पार्थक्य विशेषरीत्या बना रहता है। इस भावदशनकी अवस्थामें वह पृथकता शिथिल हो जाती है। उस समय गुणवैषम्यकी ओर दृष्टि नहीं जाती है और ब्रह्म, ईश, विराट्के ध्यानमूलक अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतभावोंसे

भावेषु षष्ठम् ॥७५॥

तरङ्गायित भक्तिरससागरमें साधक डूबा रहता है इस दशाकी प्राप्ति स्वरूपस्थित महापुरुषके व्युत्थान दशामें ही होती है ॥७५॥

अब अन्तिमका वर्णन किया जाता है :—

तत्स्वरूपमें सप्तम है ॥७६॥

इस भूमिका दर्शन सप्तम अर्थात् सबसे अन्तिम माना गया है। ज्ञानी भक्त अपनी स्वरूपदशामें इस अधिकारको प्राप्त होता है। ब्रह्मभावमय जीवन्मुक्त ज्ञानी भक्त जब जगत्कल्याणकेलिये व्युत्थान-दशाको प्राप्त होता है, उस समय जो अवस्था होती है उसका वर्णन पहले हो चुका है। पूर्ण अद्वैतभावको प्राप्त करके जब वह स्वस्व-रूपमें अवस्थान करता है वही ब्रह्मसद्भावकी दशा इस सूत्रका लक्ष्यीभूत है ॥७६॥

प्रसङ्गसे शङ्काका समाधान किया जाता है :—

प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्तिभेदसे ये भेद माने गये हैं ॥७७॥

जब इन सब भक्तिसम्बन्धीय दर्शनभेदोंमें लक्ष्यभेद नहीं है और साक्षात्रूपसे अथवा परोक्षरूपसे सब ही पराभक्तिमें पहुँचते हैं तो इस प्रकार भेदकल्पना ही क्यों है ? इस प्रकारकी शंकाके समाधानमें महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। विश्व त्रिगुणा-त्मक होनेके कारण मनुष्यकी प्रकृति त्रिगुणसे अतीत नहीं है। विशेषतः मनुष्यदेह पञ्चभौतिक होनेके कारण प्रत्येक मनुष्यमें तत्त्वभेद होनाभी अवश्यंभावी है। अतः त्रिगुण और उसके

तत्स्वरूपे सप्तमम्, ॥७६॥ प्रकृतिप्रवृत्तिशक्तिभेदादेते भेदाः ॥७७॥

अन्तर्भावोंके भेदोंके अनुसार और पञ्चभूतोंके भेदोंके अनुसार साधककी प्रकृति विभिन्न प्रकारकी हुआ करती है। इसकारण भक्तके प्रकृतिभेदसे ये सब अधिकार निर्णीत हुये हैं। दूसरी ओर पूर्व्वजन्मार्जित प्रारब्धसंस्कारों और इह जन्मार्जित क्रियमाण संस्कारोंके भेदके अनुसार प्रवृत्तिभेद होना भी निश्चित है। और सब अधिकारोंमें ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति आदिभी समान नहीं होती है। फलतः भक्तकी प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिके तारतम्यके अनुसार पूर्व-कथित अधिकारोंकी भेदकल्पना भक्तिके आचार्य्योंने की है ॥७७॥

स्वविचारभूमिकी दृढ़ताके लिये शङ्का समाधान कर रहे हैं—

अद्वितीय वस्तुका भी विभुत्व और संख्याद्वारा अनन्तत्व है ॥७८॥

परमात्मा अद्वितीय हैं और कार्यकारणकी भी अद्वैतसत्ता सिद्ध होती है तो जीव और ब्रह्मके द्वैतभावके अवलम्बनसे द्वैतमत-की सिद्धि कैसे सम्भव है? भक्तिमार्गमें जो जीव ब्रह्मका नित्य रूपसे पार्थक्य स्वीकार करके कोई कोई मत द्वैतवादका प्रचार करते हैं वह कैसे सम्भव है? सांख्य आदि दर्शनसिद्धान्त जो बहुपुरुषवादको प्रतिपन्न करते हैं वह कैसे सम्भव है? इस प्रकारकी शंकाओंका इस दर्शनसिद्धान्तके जिज्ञासुओंके चित्तमें उठना सम्भव है। अतः इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। यदि परमात्माको एक और अद्वितीय मानते हैं तो विभुत्वरूपसे उनका

अद्वितीयस्यापि विभुतया संख्यया चानन्त्यम् ॥७८॥

अनन्तत्व स्वतः सिद्ध है। और यदि बहुपुरुषवादको मानते हैं, अथवा बहुपुरुषवादके आधारपर द्वैतसिद्धान्तको स्वीकार करते हैं तौ भी उनको संख्यासे अनन्त माननेमें कोईभी असम्भावना नहीं होगी। क्योंकि ब्रह्माण्ड और पिण्ड-सभी अनन्त हैं, यह पहलेही सिद्ध हो चुका है। जो विभु है वह अवश्य ही अनन्त हैं। क्योंकि जब विभु आकाश अथवा विभु देशको मानना पड़ता है तो उसमें व्यापक आत्माको अनन्त मानेगें इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है। दूसरी ओर जब तक चिज्जड़-ग्रन्थिकी स्थिति है, जब तक अज्ञान है तब तक पृथक् पृथक् पिण्डमें द्वैतमान भी स्वतः सिद्ध है। इस कारण जीवदशामें द्वैतमत अवश्य स्वीकार्य्य है और जब त्रिगुणसे प्रकृतिको पहचानने-वाला सांख्यमतावलम्बी ज्ञानिगण अपने अपने पिण्डमें ही एक ओर त्रिगुण वैभवयुक्त प्रकृति और दूसरी ओर नित्यमुक्त, शुद्ध चित्स्वरूप कूटस्थका अनुभव करते हैं तो बहुपुरुषवादकी कल्पनाभी विज्ञान विरुद्ध नहीं है। आत्मज्ञानसम्पन्न योगीको सबसे प्रथम अपने पिण्डमें ही कूटस्थका दर्शन होता है। ऐसे ही प्रत्येक पिण्डमें कूटस्थका अनुभव बहुपुरुषवादका ज्ञापक है।

'अपि' शब्दसे अद्वैत विज्ञानकी पुष्टि की गयी है और सिद्ध किया गया है कि यदि उनको विभु माने तौभी वे अनन्त हैं और यदि उनके स्वरूपका अनुभव बहुपुरुषवादके सिद्धान्तपर करें तौभी पिण्डके अनन्तत्वके कारण पुरुषको अनन्त मानना युक्तिविरुद्ध नहीं होगा ॥७८॥

विज्ञानकी और भी पुष्टि कर रहे हैं :—

ब्रह्मशक्तिके विभिन्नावस्थाके द्वारा द्वैत और अद्वैतका अनुभव हुआ करता है ॥७९॥

ब्रह्मशक्तिके चार भेद हैं। जिसका विस्तारित वर्णन पहले आ-चुका है। साम्यावस्था और वैषम्यावस्था इस प्रकारसे प्रकृतिकी दो दशा स्वीकृत है। साम्यावस्थाको तुरीयाशक्ति कहते हैं और वैषम्यावस्थाके तीन भेद होते हैं यथा स्थूल, सूक्ष्म, और कारण-शक्ति। अतः साम्यावस्था प्राप्त ब्रह्ममें लीन तुरीयाशक्तिकी दशामें अद्वैत स्वस्वरूपका अनुभव होता है। दूसरी ओर वैषम्यावस्था प्राप्त ब्रह्मसे पृथक् होकर कार्यकरनेवाली कभी स्थूल कभी सूक्ष्म कभी कारणभाव प्राप्त शक्ति द्वैतभाव दिखाती है। इस कारण ब्रह्मशक्तिके ही विभिन्न विभिन्न अवस्थामें द्वैत और अद्वैतका अनुभव होता है। इस विषयमें शङ्काका अवसर नहीं है, क्योंकि अद्वैतरूपसे भी भान होते हैं और द्वैतरूपसे भी भान होते हैं ॥७९॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं :—

तन्मयताके द्वारा पृथक् सत्ताके अभाव होनेसे पूर्ण सुख होता है। अतः सालोक्य आदिमें वह नहीं है ॥८०॥

पूर्णसुख अर्थात् आनन्दमें और इन्द्रियजनित विषयसुखमें पृथक्ता है, स्वस्वरूपके सम्बन्धसे जिस सुखकी प्राप्ति होती है, उसीको

भिन्नावस्थया तच्छक्त्या द्वैताद्वैतभावानुभवः ॥७६॥

तन्मयतया पृथक्सत्ताभावतः पूर्णं सुखमतो न तत्सालोक्यादौ ॥८०॥

पूर्णसुख अथवा आनन्द कहते हैं और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जो सुखकी प्राप्ति होती है उसको सुख कहते हैं। इस वैषयिक सुखमें पूर्णता नहीं है यह अपूर्ण है। पूर्णसुख अर्थात् आनन्दकी खानि वही सच्चिदानन्दमय ब्रह्मपद है।

उस पदके अतिरिक्त पूर्णानन्दका स्थान कहीं हो ही नहीं सकता क्योंकि श्रीभगवान् ही आनन्दरूप हैं, इसका विस्तारित वर्णन पहले आ चुका है। दूसरी ओर विषयानन्द ब्रह्मानन्द नहीं है, वह ब्रह्मानन्दका आभासमात्र है यह भी पहलेही प्रतिपन्न हो चुका है। सुतरां साधक जितना जितना विषयानन्दको छोड़कर ब्रह्मानन्दकी ओर अग्रसर होगा उतना उतना वह यथार्थ सुखका अधिकारी होगा और अन्तमें जब वह तन्मयता द्वारा पृथक् सत्ताका नाश कर देगा तभी वह पूर्णानन्दको प्राप्त होगा। इस विषयको अन्यप्रकारसे भी समझ सकते हैं कि साधकके अन्तःकरणके एक ओर विषय और दूसरी ओर ब्रह्मपद है। उसका अन्तःकरण जितना जितना भगवद्-भावसे पूर्ण होता जायगा उतना उतना उसके अन्तःकरणसे विषय-भाव निकलता जायगा। अन्तमें तन्मयता द्वारा जब उसका अन्तः-करण पूर्ण भगवत्भावसे युक्त हो जायगा—तभी उसमेंसे विषयानन्द समूल नष्ट हो जाता है और तब वह ब्रह्मानन्दमय ही हो जाता है। इस विषयको अन्य प्रकारसेभी समझ सकते हैं कि जहाँ तक द्वैत है वहाँ तक दुःखका अवसर है और अद्वैतदशामें दुःखका एकबारही अभाव हो जाता है। द्वैतदशामें द्रष्टा दृश्यका सम्बन्ध होनेके कारण और दृश्य परिणामी होनेसे द्वैतदशा चाहे कितनाही शुद्ध हो उसमें

कुछ न कुछ दुःखका अवसर अवश्य ही रहता है। फलतः जब तन्मयतासे अद्वैतभावका उदय होता है तभी दुःखका समूल नाश होकर पूर्णसुखका उदय हो सकता है। दूसरी ओर यह स्वतः सिद्ध है कि सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य ये तीन प्रकारकी जो मुक्तियाँ हैं इनमें द्वैतसत्ता रहती है और सायुज्यमें द्वैतसत्ता नहीं रहती है। इस कारण पहली तीन मुक्तियोंमें पूर्णसुखका उदय न होकर चतुर्थ सायुज्यमें पूर्णसुखका उदय होता है। नैकट्यके तारतम्यके विचारसे सालोक्यसे सामीप्य और सामीप्यसे सारूप्यमें उत्तरोत्तर आनन्दकी सत्ता बढ़ती जाती है, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु आनन्दकी पूर्णता सायुज्यमें ही होना सम्भव है। अब यह शंका हो सकती है कि कैवल्य आदि शब्दसे जिस मुक्तिपदको अभिहित किया गया है, उसमें और सायुज्यमें क्या भेद है? ऐसी शंकाओंका समाधान यह है कि वस्तुतः सायुज्यपदवाच्य मुक्तिके विज्ञानमें कोई भी भेद नहीं है, केवल विष्णु शिव आदि सगुण उपासनाके सम्बन्धसे जो मुक्ति होती है उसको सायुज्य मुक्ति कहते हैं और निर्गुण-भावके अवलम्बनसे जो मुक्ति होती है उसको कैवल्य कहते हैं। जिस प्रकार सगुण और निर्गुण उपासनामें रुचिभेद है, उसीप्रकार इन दोनों मुक्तिके अधिकारोंका रुचिभेद ही कारण है। इसी सूत्रोक्त सिद्धान्तके अनुसार ही रागात्मिका भक्तिके सात आसक्तियोंमें तन्मयासक्तिका अधिकार सबसे उच्च रखा गया है ॥८०॥

प्रसङ्गसे मुक्तिविज्ञान निर्णयार्थ कहा जाता है:—

कार्य्यकारणभावसे वह एक ही है ॥८१॥

यह पहलेही सिद्ध हो चुका है कि ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें 'अहं ममेतिवत्' भेद नहीं है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि कार्य्यब्रह्म-रूपी ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक जगत् ब्रह्मप्रकृतिसे ही उत्पन्न है।

यह भी स्पष्टही हुआ कि कार्य्यब्रह्मका कारण कारणब्रह्म होनेसे दोनों एक ही है। अतः ज्ञानी भक्त ज्ञानदृष्टि द्वारा कार्य्यकारणकी एकता जानकर जगत्को भी ब्रह्मरूपसे देखते हैं। इस प्रकारकी ज्ञानदृष्टिके उत्पन्न हुए बिना अद्वैतभावका उदय नहीं हो सकता है। इस सूत्रमें 'एव' शब्द अद्वैतभावको ही निश्चय कराता है। तात्पर्य यह है कि कार्य्यब्रह्म और परमब्रह्म वस्तुतः कार्य्यकारणभावसे युक्त होनेके कारण वह परमब्रह्म एकही है ॥८१॥

विज्ञानको और भी दृढ़ कर रहे हैंः—

नानात्व और एकत्व उपाधिके अभाव होनेपर वह वही होता है ॥८२॥

नानात्व और एकत्वका बोध उपाधिकेद्वारा होता है। द्वैत और अद्वैतभावकी पृथक्ताका अनुभव अज्ञान और ज्ञानसे होता है। अज्ञानजननी अविद्या द्वैतप्रपञ्चका भान कराती है और ज्ञानजननी विद्या अद्वैतभावका अनुभव कराती है। अविद्या और विद्या दोनोंही ब्रह्म प्रकृतिके भावान्तर मात्र हैं।

स एक एव कार्यकारणभावात् ॥८१॥

नानात्वैक्योपाधिविलये स एव ॥८२॥

यह पहलेही कहा जा चुका है कि प्रकृतिकी साम्यावस्थामें अद्वैतभावकी सिद्धि होती है और प्रकृतिकी वैषम्यावस्थामें द्वैतभावकी सिद्धि होती है। वस्तुतः अज्ञानही भेद प्रतीतिका कारण है। इस कारण अज्ञान उपाधिके दूर होतेही कार्य्यकारणकी एकता सिद्ध होकर भेदप्रतीति नष्ट हो जाती है और अद्वैत ब्रह्मसद्भावका उदय होकर कैवल्याधिगम हो जाता है ॥८२॥

कैवल्यपथ सरल करनेकेलिये कहा जाता है :—

एकतत्त्वकी प्रतिष्ठाही अपवर्गका बीज है ॥८३॥

एकतत्त्वके विज्ञानका पहले बहुत कुछ वर्णन किया गया है। वस्तुतः एकतत्त्वयोग विज्ञानमूलक है। यह पहलेही सिद्ध हो चुका है कि, योगमार्गमें सिद्धिप्राप्तिका कारण संयम है और मुक्ति-प्रदायिका निर्विकल्प समाधिका कारण एकतत्त्व है। इस प्रसङ्गमें एकतत्त्वका पुनः वर्णन करनेका तात्पर्य्य यह है कि चाहे निष्काम कर्मयोग हो, चाहे उपासनायोग हो और चाहे ज्ञानयोग हो, एक-तत्त्वके बिना मुक्तिपद कदापि सरल नहीं हो सकता है।

मुक्तिके सब मार्गोंमें ही एकतत्त्व प्रतिष्ठासे सफलता होती है। जब श्रीभगवान्‌में एकतत्त्वकी प्रतिष्ठाद्वारा चित्तकी एकतानताका उदय होकर पराभक्तिका उदय होता है, तभी निष्कामकर्ममूलक कर्म्म-योगभी सिद्ध होता है और सत् असत् मूलक कर्म्मयोग भी सिद्ध होता है और सत् असत् मूलक ज्ञानयोगमें भी ब्रह्मसद्भावकी

एकतत्त्वप्रतिष्ठितिरेवापवर्गबीजम् ॥ ८३ ॥

सफलता प्राप्त होती है। भावमूलक उपासनामार्गमें तो एक-तत्त्वको ही प्रधान अवलम्बन बनाना पड़ता है। क्योंकि एकतत्त्व-की प्रतिष्ठाके बिना पराभक्तिकी सिद्धि हो ही नहीं सकती है। कर्म्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनोंमें सिद्धिलाभ करनेके लिये एककी सहायता लेनी ही पड़ती है। परन्तु उपासनाके प्रधान अङ्गोंमें एकतत्त्वकी सहायता बिना मुक्तिपद कदापि सरल नहीं हो सकता। यह पहलेही सिद्ध हो चुका है कि उपासनाका अङ्ग योगसाधन है और उसका प्राणरूप भक्तिसाधन है। अष्टाङ्गयोगसाधनमें बिना एकतत्त्वकी सहायता लिये मुक्तिप्रद निर्विकल्प समाधिकी सिद्धि हो ही नहीं सकती है।

दूसरी ओर मुक्तिसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाली पराभक्तिका तभी उदय हो सकता है, जब भक्तका अन्तःकरण एकतानतासे युक्त होकर भगवत्स्वरूपका दर्शन प्रतिमुहूर्त कर सके, और भगवद्भावके अतिरिक्त दूसरा भावही न उठे। पराभक्तिका अधिकारी भक्त-शिरोमणिके अन्तःकरणकी ऐकान्तिकी अवस्था ही एकतत्त्वमूलक है इसमें सन्देह नहीं ८॥३॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं :—

तीनों काण्डोंमें एकता स्थापन उसका लक्षण है॥८४॥

योगमूलक और भक्तिमूलक एक तत्त्वका रहस्य कहकर अब ज्ञानमूलक एक तत्त्वका रहस्य वर्णन कर रहे हैं। सम्पूर्ण ज्ञानका

साकाण्डत्रये स्थापनमेकतायाः ॥८४॥

आधार वेद है। जैसे प्रकृति त्रिगुणमयी है उससे एकगुणभी अलग नहीं हो सकते वैसे ही वेद त्रिकाण्डमय हैं। एक काण्ड भी अलग होनेसे वेदका वेदत्व नहीं रह सकता। वेद त्रिविध शुद्धिमूलक हैं। कर्मकाण्डसे अधिभूतशुद्धि, उपासनाकाण्डसे अधिदैवशुद्धि और ज्ञानकाण्डसे अध्यात्मशुद्धि होती है।

इस प्रकारसे यथाक्रम मल, विक्षेप और आवरणका नाश करके साधक मुक्तिभूमिमें पहुँचता है। सुतरां त्रिविधशुद्धिमूलक वेदके तीनों काण्डोंमें एकता स्थापन करना एकतत्त्व प्रतिष्ठाका लक्षण है। ज्ञानमूलक एकतत्त्व प्रतिष्ठाके विषयमें श्रीभगवान्ने निजमुखसे जो देवताओंसे कहा है।

यथा :—

आनन्दो ज्ञानमूलस्तु ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम्।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम्॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात् सर्व्वमूलकम्।
ऐक्यं तद्धि सुपर्वाणो भावातीतं सुनिश्चितम्॥

अर्थात्—ब्रह्मानन्दका मूल आत्मज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय ब्रह्म है, सबज्ञेयोंका मूल तत्त्वातीत तत्त्व है, तत्त्वका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्य है, ऐक्य सबका मूल है। हे देवतागण वह ऐक्य भावातीत है यह निश्चय करके जानो ॥८४॥

और भी स्पष्ट करते हैं:—

प्रत्येकमें तीन हैं इस कारणसे ॥८५॥

प्रत्येकं त्रित्वात् ॥८५॥

वेदके काण्डत्रयमें एकता स्थापन पूर्वक तत्त्वज्ञानमूलक एकतत्त्व प्रतिष्ठा विज्ञानसिद्ध है, और एकतत्त्व मुक्तिप्रद है। परन्तु यह शंका हो सकती है कि, वेदके काण्डत्रयका पुरुषार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र होनेसे उसमें एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है? इत्यादि शंकाको दूर करके विज्ञानकी पुष्टिकेलिये इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। वेदके तीन काण्डोंका स्वरूप और पुरुषार्थशैली अलग अलग होनेपरभी प्रत्येक काण्डमें तीनोंका सम्बन्ध वर्तमान है। यद्यपि कर्मकाण्ड नित्य, नैमित्तिक, काम्य और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत कर्मोंमें विभक्त है, यद्यपि कर्मकाण्डक्रिया बहुल है परन्तु यहभी सूक्ष्मदृष्टिसे सिद्ध है, कि ईश्वरभक्तिको भी कर्मकाण्ड समानरूपसे मानता है, और श्रीभगवान्के चरणोंमें कर्मफल अर्पण करना सिखाकर कर्मकाण्डोंको निष्काम कर्मयोगी बनाना सिखाता है।

कर्मशक्ति जड़ा होनेसे कर्मके चालक देवता हैं इस प्रकारसे कर्मकाण्ड अधिदैवशक्तिको स्वीकार करके उपासनाकाण्डका सहयोगी बनता है। दूसरी ओर कर्मकाण्डके साथ जैसे उपासनाकाण्डका सम्बन्ध है वैसे ही ज्ञानकाण्डका भी सम्बन्ध है। कर्मकाण्डकी प्रत्येक क्रियाका पूर्वापर विचार, देश, काल और पात्रविचार, द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि आदि विचार और साधारण कर्म तथा विशेष यज्ञादि कर्मका दार्शनिक रहस्यका निर्णय, ये सब ज्ञानकाण्डका मूल हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इस प्रकारसे कर्मकाण्ड अन्य दो काण्डोंकी अपेक्षा रखता है। वैधीभक्ति तथा मन्त्रयोग, हठयोग आदिके क्रियासमूह तो कर्म प्रधान ही है, यह तो स्वतः

सिद्ध है। पराभक्तिके साथ ज्ञानकाण्डका किस प्रकार सम्बन्ध है सो पहले बहुत कुछ वर्णन हो ही चुका है। उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड भी अन्य दोनों काण्डोंकी अपेक्षा रखता है। मोक्षाभिलाषीका गुरुशरणापन्न होना और गुरुको ब्रह्म समझकर गुरुसेवा, ये दोनों ही कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डमूलक हैं। आत्मज्ञानेच्छु संन्यासी कुटिचक, बहूदक आदि संन्यासव्रत ग्रहण करना कर्मकाण्ड सापेक्ष है। और उन संन्यास आश्रमकी श्रेणियोंकी साधन प्रणाली उपासनाकाण्ड सापेक्ष है। वस्तुतः ज्ञानकाण्डका श्रवण कर्मकाण्ड बहुल, मनन उपासनाकाण्ड बहुल और निदिध्यासन ज्ञानकाण्ड बहुल है। इन दिग्दर्शनोंसे मानना ही पड़ेगा कि वेदके तीनों काण्ड परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा अवश्य ही रखते हैं। और तीनों ही त्रिविध शुद्धिको मानते हैं। इसप्रकारसे ज्ञानी भक्त जब तीनों काण्डोंमें एकता स्थापन करके समदर्शी बन जाता है तब उसमें ज्ञानमूलक एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा हो जाती है॥८५॥

विज्ञानको दृढ़ कर रहे हैं :—

श्रुतिसे सिद्ध है ॥८६॥

स्वसिद्धान्तकी पुष्टिकेलिये श्रुतिसे प्रमाण दिया जा रहा है कि वेद भी तीन काण्डकी एकता करता है। छान्दोग्यपनिषद्में लिखा है—"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इतिहोवाच" उसी उपनिषद्के उद्गीथप्रकरणमें लिखा है—"सर्वाणि ह वा इमानि

श्रुतितः ॥८६॥

भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ते" समस्तभूत प्राणमें ही लय होते हैं और भी छान्दोग्यमें लिखा है—

"अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वानुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्‌ यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः" जो ज्योति स्वामीके ऊपर, सर्वत्र प्राणियोंके ऊपर, सब लोगोंके ऊपर विराजमान है, जिसके अन्तर्गत उत्तमाधम समस्त लोक प्रकाशमान हैं, वह वही ज्योति है जो कि सबके भीतर भी विराजमान है। "गायत्री वा इदं सर्वं सैषा चतुष्पदा षड्‌विधा" यह सब गायत्री ही है वह चतुष्पदाषड्‌विधा" यह सब गायत्री ही है वह चतुष्पदा तथा षड्‌विधा होती है यह भी श्रुतिका वचन है। छान्दोग्यमें लिखा है—"य एषोऽक्षिणि पुरुषोदृश्यते, एष आत्मेति" अक्षिलोकमें जो पुरुष दीखता है वह आत्मा है। "को न आत्मा किं साध्नोति, आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव ब्रूहीति" कौन आत्मा है, कौन ब्रह्म है, वैश्वानरके क्या यही आत्मा सम्पन्न चाहिये, इस प्रकार ब्रह्मके सम्बन्धमें छान्दोग्यमें पुनः कहा गया है। इन सब श्रुतियोंमें आकाश, प्राण, ज्योति, गायत्री, अक्षिपुरुष, वैश्वानर सभी शब्दोंके प्राप्त ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है।

प्रते ब्रवीमि तदुभे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं न चिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत् प्रत्यवदद् यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः ॥

अर्थात्—यमने नचिकेतासे कहा कि मैं इस स्वर्गसाधनरूप अग्निको सम्यक् रूपसे जानता हूँ और तुमसे उसे कहता हूँ शान्तचित्त होकर सुनो। यह अग्नि ही अनन्त लोक प्राप्तिका कारण है और सब जगत्का विधारक है। अधिकन्तु यही सब प्राणियोंके हृदयरूप गुहामें वास करते हैं। यमराजने नचिकेताको लोकादिजगत् कारणीभूत प्रसिद्ध अग्नितत्त्वका उपदेश किया और यज्ञीय इष्टकाका स्वरूप संख्या एवं अग्निचयन प्रणाली ये सब नचिकेताको कहा। नचिकेतानेभी यमकी समस्त बातोंकी यथारूप पुनरावृत्ति की। अनन्तर नचिकेताका उस प्रकार प्रत्युच्चारण सुनकर सन्तुष्ट होकर पुनः बोलने लगे।

ऊपर लिखित प्रमाण अनेक श्रुति प्रमाणके दिग्दर्शनरूप है। उक्त प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध होता है, कि वेदके तीनों काण्ड एकही लक्ष्यको धारण कर अग्रसर होते हैं। अद्वैतपदरूपी मुक्ति तीनोंका ही अन्तिम लक्ष्य है ॥८६॥

पुनः कहकर रहे हैं।

दर्शनसेभी ॥८७॥

दर्शनतश्च ॥८७॥

"आकाशस्तल्लिङ्गात् ब्रह्मलिङ्गम्" अर्थात् ब्रह्मप्रकाशन सामर्थ्य युक्त होनेसे प्राण भी ब्रह्म है। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्'। वेदमें समस्त विश्वकी ज्योतिको पादरूप कहनेसे ज्योति भी ब्रह्म है' 'छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽपर्णानिगमस्तथाहि दशनम्"। छन्दोवाचक गायत्रीशब्द रहनेसे वह ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं सिद्धान्त करना चाहिये। क्योंकि उसीके अवलम्बनसे ब्रह्ममें चित्तार्पण होता है। "अन्तर उपदेशः" छान्दोग्यान्तर्गत उपकोशल विद्याप्रकरणमें चक्षुमें जिस पुरुषका वर्णन किया गया है उनके गुरुवाचक समस्त विशेषणोंके विचारसे वह परमात्मा है। "वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' छान्दोग्य श्रुतिमें वर्णित वैश्वानरदेव ब्रह्म हैं क्योंकि वहाँपर ऐसाही विशेषणोपादान है।

'नियन्तृत्वात्तत्त्वं धर्म्मस्य' धर्म नियामक होनेसे भगवद्रूप है।

ऊपर लिखित दर्शनशास्त्रोंके सूत्र दिग्दर्शनरूपसे स्वविज्ञानकी पुष्टिके लिये यथेष्ट हैं। तीनों काण्ड मुक्तिपदकोही प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त हैं, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः वेदोक्त सप्तदर्शन ही अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार मुक्तिका स्वरूप निर्देश करते हैं। परन्तु वेदके तीन काण्डोंके मीमांसादर्शन तो एकमात्र अद्वैतपदको लक्ष्य करकेही अग्रसर होते हैं ॥८७॥

और भी दृढ़ करते हैं :—

स्मृतिसेभी ॥८८॥

स्मृतितश्च ॥८८॥

वेद तो साक्षात् भगवद्वाक्य ही है। अतः वेदसे अधिक आप्त-प्रमाण और कोई भी नहीं हो सकता है। परन्तु वेदके मीमांसक दर्शनोंकाभी प्रमाण देकर सब प्रकारकी शंकाओंका समाधान पहले किया गया है। अब स्मृतिका प्रमाण देकर आप्त प्रमाणकी समाप्ति की जा रही है। क्योंकि जिसको वेद, दर्शन और स्मृति तीनों एक स्वर होकर प्रतिपन्न करते हैं उसमें सन्देह रह ही नहीं सकता है। स्मृतिशास्त्रोंमें कहा है कि :—

पञ्चमीं भूमिमारूढः ज्ञानोपासनकर्म्मभिः।
शोकमोहादिनिर्मुक्तः सर्वदैव विराजते॥
न ज्ञानेन विनोपास्ति नोंपास्त्या च विनेतरत्।
कर्म्मापि तेन हेतुत्वं पूर्व्वपूर्व्वस्य कथ्यते॥
यद्वा यावन्नहि ज्ञानं तावन्नोपासनं मतम्।
यावन्नोपासनं तावन्न ज्ञानञ्च कथञ्चन॥
ज्ञानं यावन्न कर्म्मापि न तावन्मुख्यमीर्य्यते।
यावन्न कर्म्म तावच्च न ज्ञानं साधु सम्मतम्॥
यावन्नोपासनं तावन्न कर्म्मापि प्रशस्यते।
यावन्न कर्म्मोपास्तिश्च न तावत्सात्त्विकी मता॥
ज्ञानोपासनकर्म्माणि सापेक्षाणि परस्परम्।
प्रयच्छन्ति परां मुक्तिं नान्यथेत्युक्तमेव वः॥

ज्ञानोपास्ती कर्म्मसापेक्षके ते, कर्म्मज्ञाने चान्यसापेक्षके च।
कर्म्मज्ञाने चान्यसापेक्षके तन्मुक्त्यै प्रोक्तं साहचर्य्यं त्रयाणाम्।

ज्ञानोपास्तिस्वीयकर्म्मस्वस्याप्येकं मुक्तिर्नैव कस्यापि सिद्ध्येत्॥
तस्माद्धीमानाश्रयेदप्रमत्त स्त्रीएयुक्तानि श्रद्धया देहपातात् ॥

एतेषु साधनेष्वेकं त्रिषु यत्किञ्चिदत्र यः।
त्यजेदसद् गुरूक्त्या स नाश्नुवीत परामृतम् ॥

अर्थात्—ज्ञान, उपासना और कर्म्मके द्वारा पाँचवीं भूमिमें आरूढ़हो गया है, वह सर्वदा शोकमोह आदिसे मुक्त होकर शोभायमान होता है। ज्ञानके बिना उपासना नहीं होती है और उपासनाके बिना कर्म्मभी नहीं होता है। अतः ज्ञान उपासनाका और उपासना कर्म्मका हेतु है। अथवा जबतक ज्ञान नहीं तबतक उपासना नहीं होसकती और उपासनाके बिना कदापि ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। जबतक ज्ञान नहीं है तबतक उपासनाकी प्रधानता नहीं हो सकती और जबतक कर्म्म नहीं है तबतक कर्म्मकी प्रधानता नहीं है और जबतक कर्म्म नहीं तबतक उपासना सात्त्विक नहीं कही जा सकती। ज्ञान उपासना और कर्म परस्पर सापेक्ष हैं। और येही परममुक्तिको प्रदान करते हैं, अन्यथा मुक्ति नहीं होती। असद्गुरुके उपदेशसे यदि इन तीनोंमेंसे एकको कोई छोड़ दे तो वह परममुक्तिदशाको प्राप्त नहीं कर सकता है। ज्ञान और उपासना कर्म्मकी अपेक्षा रखते हैं। उपासनाकर्म्म ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं, तथा कर्म्म और ज्ञान उपासनाकी अपेक्षा रखते हैं। अतः मुक्तिकेलिये तीनोंका साहचर्य्य कहा गया है।

ज्ञान उपासनाकर्म्मको छोड़कर किसीकी भी मुक्ति नहीं हो

सकती। अतः बुद्धिमान् मनुष्य अप्रमत्त होकर मरणपर्य्यन्त तीनोंका श्रद्धापूर्वक आश्रय करें ॥८८॥

साक्षात् फल वर्णन कर रहे हैं :—

तीनोंमें एकतत्त्व दर्शन करनेवालेको ब्रह्मोपासनाका अधिकार प्राप्त होता है ॥८९॥

वेदोक्त कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तीनोंमें एकता स्थापन करके एकतत्त्वका अधिकार प्राप्त करनेवाले महापुरुषोंकेलिये निर्विकल्प समाधिमय मुक्तिपथ तो सरल हो ही जाता है, परन्तु उनको तत्काल कैसा अधिकार प्राप्त होता है सो महर्षि सूत्रकार वर्णन कर रहे हैं। साम्यविचार उत्पन्न होकर इस प्रकार सात्त्विक बुद्धिका अधिकारी होनेपर साधक ब्रह्मोपासनाका अधिकारी स्वत: ही बन जाता है। उपासनाके नाना प्रकारके भेद तथा सगुण उपासना और निर्गुण उपासनाका पहले बहुत कुछ वर्णन किया गया है।

यद्यपि सगुण पञ्चोपासनाका अधिकार सार्वभौमभाव युक्त है, और सब प्रकारके अधिकारी किसी न किसी रीतिसे सगुणपञ्चोपासनाके आश्रयसे मुक्तिपथमें अग्रसर हो ही सकते हैं। यही सगुणोपासनाका सर्वजीवहितकारित्व और महत्त्व है। परन्तु वस्तुतः सगुण पञ्चोपासनाका अधिकार सार्वभौमभाव युक्त है, और सब प्रकारके अधिकारी किसी न किसी रीतिसे सगुण पञ्चोपासनाके

त्रिष्वेकतत्त्वदर्शिनोऽधिकारो ब्रह्मोपासनायाः ॥८९॥

आश्रयसे मुक्तिपथमें अग्रसर हो ही सकते हैं। यही सगुणोपासनाका सर्वजीवहितकारित्व और महत्त्व है। परन्तु वस्तुतः सगुणपञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है और उच्चकोटिके ब्रह्मोपासकभी भावकी सहायतासे सगुणपञ्चोपासनामें ब्रह्मानन्द लाभ कर सकते हैं। तथापि पराभक्तिके द्वारा ब्रह्मसद्भावकी अवस्थामें जो सर्व्वोत्तम ब्रह्मोपासनाकी प्राप्ति होती है उसीका उल्लेख इस सूत्रमें किया गया है। कर्म्मोपासना और ज्ञान इन तीनोंमें—साम्यबुद्धि उत्पन्न होनेसे ब्रह्म, ईश और विराट् इन तीनों धारणा प्रणाली और ध्यान-प्रणालीकी भी एकता हो जाती है। गंगा यमुना और सरस्वती ये तीनों दिव्य नदियाँ जब प्रयाग संगमपर मिलती है तो तीनों मिलकर एक गङ्गानदी ही बन जाती है।

उसी प्रकार ये तीनों प्रणाली एक ब्रह्मसद्भावधारामें परिणत होकर स्वतः ही ब्रह्मोपासनाका अधिकार प्राप्त करा देती है ॥८९॥

दूसरा फल वर्णन कर रहे हैं :—

उससे अभिन्न समग्र आराधनीय होता है ॥९०॥

इस श्रेष्ठतम अधिकारको प्राप्त करनेपर योगिराज महापुरुष समस्त संसारको भगवान्से भेदशून्य समभूत है और तब आब्रह्म-स्तम्भपर्य्यन्त यावत् संसार उसके लिये आराध्य हो जाता है। श्री-भगवान्ने निजमुखसे कहा है कि :—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

तदभिन्नमाराध्यं कृत्स्नम् ॥९०॥

बहुजन्मोंके बाद ज्ञानी मुझको प्राप्त होता है। सब वासुदेव है, ऐसा अनुभव करनेवाले महात्मा दुर्लभ हैं। इस श्लोकमें वर्णन किये हुये उपासनाके सर्वोत्तम अधिकारको ज्ञानी भक्त प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है ॥९०॥

तीसरा फल वर्णन कर रहे हैं :—

अन्य अनुष्ठानका अभाव होनेपर भी अहङ्कारके नाश होनेसे क्षति नहीं होती है ॥९१॥

जब इस श्रेष्ठ अधिकारको पराभक्तिका अधिकारी ज्ञानी भक्त प्राप्त कर लेता है तब उसकी विशेषता यह हो जाती है कि वह कोई कर्म करें, या न करें, कोई उपासना करें, या न करें, उसकी कोई क्षति नहीं होती है। इस अधिकारको प्राप्त होनेपर उसको सात्त्विक धृति और सात्त्विक ज्ञानका उदय हो जाता है। उसको मल विक्षेप और आवरणकी पूरी निवृत्ति हो जानेसे उस भक्त शिरोमणिका अन्तःकरण भगवद्भावमें ही डूबा रहता है। सुतरां उसमें अहंकारका सर्वथा नाश हो जाता है। अहंकारके नाशसे जीवत्वका नाश और जीवत्वके नाशसे कर्म्मबन्धनका नाश हो जाता है तब उसको न बन्धन प्राप्त करा सकते और कर्मके अधिकारसे बाहर पहुँच जानेसे वह कोई अनुष्ठान करें अथवा न करें, उसकी कोई भी क्षति नहीं हो सकती। इस सूत्रमें 'अपि'शब्द इस असाधारण अधिकारका द्योतक है। सारांश यह है, कि इस अधिकारको प्राप्त

अन्याननुष्ठित्यापि न क्षतिरहंकारहानात् ॥९१॥

करके जीवन्मुक्त ज्ञानी भक्त विधि और निषेधसे अतीत हो जाता है ॥६१॥

निःश्रेयस सिद्धिकेलिये बन्धनका मौलिक विज्ञान स्मरण करा रहे हैं :—

चित्त और मनके संयोगसे उत्पन्न हनेके कारण आसक्ति बन्धनका हेतु है ॥६२॥

भावविज्ञानके प्रसङ्गमें आसक्तिका विस्तारित वर्णन पहले किया गया है। अन्तःकरण ही जीवके बन्धन और मोक्षका कारण है। अन्तःकरणके चार भेद हैं यथा:—मन चित्त, बुद्धि और अहंकार। उनमेंसे मन और बुद्धि प्रधान हैं चित्त और अहङ्कार अप्रधान हैं। मनका अन्तर्विभाग चित्त और बुद्धिका अन्तर्विभाग अहङ्कार है। उनमेंसे मन और चित्तके सङ्गमसे जिस वृत्तिका उदय होता है उसको आसक्ति कहते हैं। यह आसक्ति ही जीवके बन्धनका कारण है और यही जीवको आवागमनचक्रमें घुमाया करती है। इस कारण आसक्तिको बन्धनका मूल कारण समझकर उसकी ओरसे एकबारही मुमुक्षुको मुख फेर लेना उचित है ॥६२॥

अब उससे बचनेके लिये भावका मौलिक विज्ञान कहा जाता है :—

आसक्तिर्बन्धहेतुचित्तमनःसंगमजत्वात् ॥६२॥

बुद्धि और अहङ्कारके संयोगसे उत्पन्न होनेसे भाव-मुक्तिका कारण है ॥९३॥

बुद्धिसे पुरुषका सम्बन्ध है। श्रुतिभी कहती है "बुद्धेःपरःपुरुषः" बुद्धिके परे पुरुष है, इस कारण बुद्धिही ज्ञाननेत्रद्वारा पुरुषका दर्शन कर सकती है। बुद्धि और अहङ्कारके संयोगसे जब भावका उदय होता है तब वह भावही मुक्तिमें सहायक हो सकता है। भावका विस्तृत विज्ञान पहले कहा गया है। श्रुतिमें कहा है—"भावातीतं परब्रह्म" इस कारण भाव अन्तिम तत्त्व है यह निश्चित हुआ। विशेषतः सत् चित्त और आनन्द ये भावही हैं। इन तीनों भावोंकी सहायतासे ही भावातीत ब्रह्मपद जाना जाता है। इस कारण यह माननाही पड़ेगा कि भावकी सहायतासे ज्ञानी भक्त अपने अन्तःकरणको मुक्ति भूमिमें पहुँचाता है ॥९३॥

प्रसङ्गसे भावकी विशेष महिमा वर्णन कर रहे हैंः—

भावशुद्धिके द्वारा अभ्युदय हुआ करता है ॥९४॥

यह संसार भावमय है। दूसरी ओर श्रीभगवान्भी भावगम्य हैं। भावका विज्ञान पहले बहुत कुछ वर्णन किया गया है।

उसका सारांश यह है कि यदि वैषयिक राज्यमें देखा जाय तो भावकी सहायतासेही विषयका बोध होता है, जैसा भाव होता है विषय वैसा ही अनुभव होता है, यदि असद्भावहो तो विषय असत्

भावोमुक्तिहेतुर्वुद्ध्यहंकार संगमजत्वात् ॥ ९३ ॥

अभ्युदयो भावशुद्ध्या ॥ ९४ ॥

दिखायी देता है यदि सद्भावहो तो विषय सत् दिखायी देता है। दूसरी ओर भावशुद्धिकी सहायतासे ही भक्त भक्तिराज्यमें अग्रसर होता है और अन्तमें भावकी सहायतासे पराभक्तिकी भूमिमें पहुँचकर अद्वैतभावको प्राप्तकरके निरंजन भगवान्के चरणोंमें लय हो जाता है। भावकी महिमा इतनी अधिक है। सुतरां भावशुद्धिकी सहायतासे भक्त अभ्युदयको प्राप्त करता है, इसमें सन्देह ही क्या है। सर्व-व्यापकभाव जब आसक्तिके द्वारा आसीन रहता है तभी वह विषया-सक्तिमय भाव अशुद्ध कहाता है, और जब भाव भगवद्भक्तिसे युक्त होकर साधकको पवित्र करता है अथवा भक्तिराज्यसे सम्बन्धयुक्त श्रद्धा आदि धार्मिक वृत्तियोंसे गुम्फित रहता है, तब वह भाव शुद्ध कहाता है। अशुद्धभाव बन्धनका कारण होनेपर भी शुद्धभाव सदा अभ्युदयका कारण होता है। भावशुद्धिसे अधर्मकार्यभी धर्मकार्यमें परिणत है। इस सम्बन्धमें कर्ममीमांसादर्शनमें लिखा है कि:—

'तत्राधर्म्मोऽपि धर्म्मोभावशुद्धिमत्वात्' ॥

भावशुद्धिके कारण अधर्म्मभी धर्ममें परिणत होता है।

साधकको साधनके द्वारा प्रथम अवस्थामें अभ्युदय और अन्तिम अवस्थामें निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, यही सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है। जैसा कि पहले सूत्रमें कहा गया है कि जब साधनके द्वारा आसक्तिको दूर करके भावशुद्धिके अवलम्बनसे साधक आगे बढ़ता है, तो उसकी ऐहलौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नतिरूपी अभ्युदय नियमित होता रहता है। क्रमशः उस साधकके अन्तः-करणमें रज और तमका नाश होकर सत्त्वगुणका क्रमविकाश

होता हुआ उसमें धर्मशक्तिकी वृद्धि होती जाती है, तत्पश्चात् जब भाग्यवान् भक्त सत्त्वगुणके अधिकारको पूर्णरूपसे प्राप्तकर लेता है तब इस सूत्रमें कहे हुए पदको प्राप्त होता है। अनन्तर जब साधक एकतत्त्वसे अधिकृत अन्तःकरणकी क्लिष्ट अक्लिष्ट सब वृत्तियोंको निरोध करके एकमात्र अनन्यभक्तिके द्वारा निर्विकल्प समाधिकी दशाको प्राप्त कर लेता है तब मनका नाश तो हो ही जाता है अर्थात् जिस प्रकारसे भर्जित बीजको वपन करनेसे अङ्कुरोत्पत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु वह बीज खानेमें आसकता है, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मभोगके लिये मन सहायक रहने परभी सञ्चित-क्रियमाण-कर्मकेलिये मन शक्तिहीन हो जाता है।

इसी मनोनाशकी दशामें बुद्धिका लयभी हो जाता है। क्योंकि बुद्धिका अन्तर्विभाग अहङ्कार है। मनोनाशके साथ ही साथ सञ्चित और क्रियमाण संस्कारका सम्बन्ध नष्ट हो जानेसे अहङ्कार निर्वीज हो जाता है और अहङ्कारके शक्तिहीन होनेसे बुद्धिका लय स्वतः हो जाता है। इस प्रकारसे उस भाग्यवान् साधकका अन्तःकरण अस्तित्व रहित छायावत् हो जाता है। उस समय अद्वैतभावमय पराभक्तिका उदय होनेसे भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है। यह अवस्था अवश्यही मन बुद्धिके अतीत है ॥९५॥

इस सर्वोत्तम भूमिमें पहुँचनेपर भक्तको जो स्वाभाविक अधिकार प्राप्त होता है वह कहा जाता है:—

अनन्तर वासनाक्षय और तत्त्वज्ञान होता है ॥९६॥

ततो वासनाक्षयतत्त्वज्ञाने ॥९६॥

पूर्व्वसूत्र कथित साधकके निर्विकल्प समाधिकी दशामें वासना-क्षय और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वतः उस भागवत श्रेष्ठको हो जाती है और इसका फल यह होता है कि पराभक्तिप्राप्त भक्त जब व्युत्थान दशाप्राप्त करके जगत्के साथ सम्बन्ध स्थापन करता है, तो उसका अन्तःकरण वासनारहित तथा तत्त्वज्ञानसे पूर्ण होनेके कारण सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

इसी दशाको लक्ष्य करके श्रीगीतामें ऐसा कहा है :—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
सर्व्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्॥

योगयुक्त विशुद्धात्मा जिसने अपनेको जय कर लिया है और अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है सर्वभूतोंमें जो एक ही आत्मा-को देखता है वह कर्म करते हुये लिप्त नहीं होता है। तत्त्वज्ञ देखता हुआ सुनता हुआ स्पर्श करता हुआ सूँघता हुआ भोजन करता हुआ चलता हुआ सोता हुआ स्वाँस लेता हुआ बोलता

हुआ परित्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ नेत्रोंको खोलता हुआ बन्द करता हुआ इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें वर्तती हैं, मैं कुछ नहीं करता हूँ। जितेन्द्रिय पुरुष मनसे सब कर्म्मोंको त्यागकरके न कुछ करता है और न कराता है। नव द्वारयुक्त पुरी-(शरीर) में सुखपूर्वक रहता है ॥६६॥

अब चरमफल वर्णन किया जाता है :—

तदनन्तर निःश्रेयसकी उपलब्धि होती है ॥६७॥

योगयुक्त भक्तिमार्गमें चलता हुआ भाग्यवान् साधक वैधीभक्तिके अधिकारसे रागात्मिका भक्तिके अधिकारमें पहुँचकर अपने मल, विक्षेप और आवरणसे शुद्ध होकर अन्तमें पराभक्तिके अधिकारमें पहुँच जाता है और इस सर्वोत्तम अवस्थामें पहुँचकर एक-तत्त्वयुक्त अन्तःकरणकी स्वभावसिद्ध गतिके द्वारा निःश्रेयसको लाभ करके कृतकृत्य हो जाता है। इस अवस्थाके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में ऐसा वर्णन मिलता है :—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

अर्थात्—सब मनोजनित सब कामनाओंको त्याग कर देता है और जो अपनेमें ही तुष्ट रहता है उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

ततो निःश्रेयसम् ॥६७॥

इसी ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करके पुनः मुग्ध नहीं होता है और अन्तमें ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है ॥६७॥

प्रसङ्गसे शङ्काका समाधान किया जाता है—

आविर्भाव, तिरोभावरूपी विकार उपाधिसंयोगसे हुआ करता है ॥६८॥

ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिके 'अहं ममेतिवत्' अभेदत्वका बहुत कुछ वर्णन किया गया है। साथही साथ ब्रह्मप्रकृतिकी स्वाभाविक सहज साम्यावस्था और अस्वाभाविक विकृत वैषम्यावस्थाका प्रभेद और उन दोनोंके साथ स्वरूप एवं सृष्टि अवस्थाका वर्णन पहले विस्तारित रूपसे किया गया है। वस्तुतः अविद्या उपाधिके कारण ही द्वैतप्रपञ्चका आविर्भाव होता है। अज्ञानके कारणही ऐसी प्रतीति होती है। तत्त्वज्ञानके उदय होते ही अद्वैतभावके उदयके साथही साथ स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है। यथाथतः ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति एकही होनेसे कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म एक ही है ॥६८॥

सिद्धान्त कहा जाता है :—

पराभक्तिद्वारा सब लय हो जाता है ॥६९॥

पराभक्तिके उदय होतेही सब द्वैतप्रपञ्चका लय हो जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त योगिराज ज्ञानी भक्त ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करके ब्रह्मरूपही हो जाता है। रागात्मिका भक्तिकी अवस्थामें भक्त जैसा

आविस्तिरोभावविकाराः स्युरुपाधिसंयोगात् ॥६८॥
परया सर्वलयः ॥६९॥

ब्रह्मरससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करता था, वह अवस्था भी नहीं रहती है। पराभक्तिके उदयके साथही साथ द्वैतभाव नष्ट हो जाता है और द्वतभावके नष्ट होतेही सब कुछ द्वैतप्रपञ्चका उसके लिये तिरोभाव हो जाता है। विभिन्न शास्त्रोंमें इसी अवस्थाको निर्विकल्प समाधि, जीवन्मुक्ति, ब्रह्मसद्भाव, विदेहलय आदि नामोंसे अभिहित करते हैं। इसी अवस्थाको लक्ष्य करके श्रुतिने ऐसा कहा है :—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।

अर्थात्—तब देह उत्पन्न करनेवाली पञ्चदश इन्द्रियाँ अपने अपने कारणमें लय हो जाती हैं। इन्द्रियाधिष्ठाता देवता सब अपने कारण देवतामें लय हो जाते हैं। कर्म्म और विज्ञानमय आत्मा परम अव्यय ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त होता है।९९॥

लक्ष्यीभूत पराभक्तिकी अवस्थाओंका वर्णन किया जाता है :—

परिणति, विश्रान्ति, ईक्षण और योगभेदसे पराभक्तिकी चार अवस्थाये हैं।१००॥

पराभक्ति प्राप्त भगवद्भावापन्न भागवतकी जो चार अवस्थायें इस सूत्रमें वर्णन की गयी हैं उनके प्रमाण वेद और शास्त्रोंमें अनेक मिलते हैं। उनके कुछ उदाहरण स्मृतिशास्त्रसे देकर पूज्यपाद

पराभक्तेरवस्था चतुर्विधा परिणतिविश्रान्तीक्षणयोगभेदात्॥१००॥

सूत्रकारके तात्पर्य्य समझानेका प्रयत्न किया जाता है। प्रथम परिणाति अवस्थाके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है :—

सर्वेषां दृश्यवस्तूनां त्रिधा दर्शनमस्ति यत्।
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकत्रयरूपत: ॥

अर्थात्—प्रत्येक वस्तुओंका आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिकरूपसे त्रिविध दर्शन होता है।

इस प्रथम अवस्थाका वर्णन पहले बहुत कुछ आ चुका है। पराभक्तिका अधिकारी ज्ञानी भक्तके व्युत्थानदशामें दृश्य प्रपञ्चमें इस प्रकारका दर्शन होता रहता है। इस अवस्थाके साथ वहिर्जगत्का अधिक सम्बन्ध है। इसके अनन्तर जो तीन अवस्थायें हैं जिनकी प्रथम दशाका नाम विश्रान्ति है, उस विश्रान्ति अवस्थाके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है :—

ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्मशक्त्याकारा विकाशया।
मनसा मनसि छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ॥
सत्या लोका जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते।
क्षीयते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ॥
भ्रष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्येति च नामिका।
पश्यन्ती नाम-कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ॥
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत्।
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यापि श्चापलं गता ॥
समस्तसामान्यवती भवतीर्णा भवार्णवा।
अपुनर्भवसौषुप्त-पदपाण्डित्यपीवरी ॥

परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे।
द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र! शक्तेरस्यां सुपावनम्।
एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी॥
सर्वज्योतिस्तमोमुक्ता वितताकाशसुन्दरी।
घनसौषुप्तलेखावच्छिलान्तः सन्निवेशवत्॥
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा।
शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशजा तदा॥
चेत्यांशोन्मुखता नूनं त्यजत्यब्धिव चापलम्।
वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम्॥
कालता काशकेत्यक्त्वा सकले सकला कला।
न जडा नाऽजडा स्फारा धत्ते सत्तामनात्मिकाम्।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम्॥
तूर्यंतूर्य्यांश कलितामकलङ्कामनामयाम्।
काञ्चिदेव विशालाक्ष साक्षिवत् समवस्थिताम्॥
सर्वतः सर्वदा सर्व्वप्रकाश स्वादु तत्पराम्।
एषा द्वितीया पदता तव सुव्रत शोभते॥
तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदांवर।
एषा दृक् चेत्यवलनादनामार्था पदं गता॥
ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दार्थादतीतोदेति केवला।
स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना॥
तूर्य्यातीतादिनामत्वादपि यांति परं पदम्।
सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः॥
चित्यैका निरवच्छेद्या तृतीया पावनी स्थितिः।

अर्थात्--जब शुद्ध मनके द्वारा इन्द्रिय परायण मनोच्छिन्न हो जाता है, तथा परमात्माकी सत्यप्रभाकेद्वारा जगज्जाल प्रच्छन्न और विलीन हो जाता है तब कल्पनारूपी संसारकलना समूल नाशको प्राप्त हो जाती है। उस समय जीवकी सत्ता भर्जित बीजकी तरह हो जाती है। वह संसारिक विषयोंको उस समय देखनेपर भी उसमें आसक्ति शून्य होजाती है, और मनोमोहरूप मेघजालसे निर्मुक्त होकर शरत्कालीन आकाशकी तरह अवस्थान करती है। इस प्रकारसे जो सत्ता पूर्वमें प्रकृतिके सङ्गसे विषय चञ्चल थी, वह शुद्धचिद्भावमें स्थित होकर जीवितदशामें ही संसारसिन्धुसे मुक्त हो जाती है। उस समय जीवन्मुक्त महापुरुष पुनर्जन्म बीजरहित ज्ञानमय परमानन्दपदमें सदाही विश्रान्ति लाभ करते हैं। हे विप्रेन्द्रगण! मनोनाशके वाद योगारूढ़ पुरुषका जो प्रथमपद प्राप्त होता है सो मैंने आपसे कहा है, अब उसका द्वितीय पद सुनिये। द्वितीयदशामें मनसे उन्मुक्त शान्तिशालिनी वह चित्सत्ता समस्तज्योति तथा तमसे मुक्त विशाल आकाशकी तरह विराजमान रहती है। तदनन्वर कालक्रमसे गाढ़ सुषुप्तिदशाके अनुभवकी तरह प्रस्तरके बीच कठिनताकी तरह, सैन्धवके अन्तर्गत रसकी तरह, वायुके अन्तर्गत स्पन्दन शक्तिकी तरह जब समस्त स्थितिके साररूपमें अवस्थित होती है, तब वह चित्सत्ता आकाशकी शून्यशक्तिकी तरह परमाकाशगत होकर वाह्यविषयके प्रति उन्मुखताको एकबारही परित्याग करके स्थिर समुद्रकी तरह निश्चलरूपसे अवस्थान करती है। इसके अनन्तर सूक्ष्मपवनके

स्पन्दत्यागकी तरह कुसुमलेखाके सौरभत्यागकी तरह, कालत्व और आकाशत्वको भी परित्याग करके उन जीवन्मुक्त योगियोंकी सत्ता समस्त दृश्यवस्तुओंके सम्पर्कसे सकल प्रकारसे मुक्तिलाभ करती है। उस समय उनकी सत्ता जड अजड दोनों भावोंसे मुक्त होकर एक अपरिच्छिन्न अनिर्वचनीय भावको धारण करती है। देश, कालके द्वारा उस महासत्ताका परिच्छेदन नहीं होता है। निष्कलङ्क, अनामय एवं प्रकाशमानरूपसे निखिल वस्तुका प्रकाश और आनन्दसत्तासेभी उत्कृष्टतर आकाश तथा आनन्दरूपमें अनिर्वचनीय विशालाक्ष होकर साक्षीकी तरह अवस्थान करती है। हे सुव्रत मुनिगण! चित्सत्ताकी यह द्वितीय अवस्था मैंने कही। अब तृतीय सुनिये। इस अवस्थामें वह चित्सत्ता ब्रह्माकार अखण्ड वृत्ति क्षीर-नीरकी तरह ब्रह्मके साथ एकहीभाव प्राप्त होनेसे नामरूपसे अतीत होनेके कारण ब्रह्म आत्मा इत्यादि संज्ञासेभी अतीत होकर केवल रूपमें अवस्थान करती है। उस समय जीवन्मुक्त श्रीसत्तामें किसी प्रकारका विकार न रहनेके कारण वे कालसेभी स्थिर, तमसे अतीत स्वरूपमें निष्कलङ्क होकर तुरीयातीत आदि नामसे अतीत होकर परमभावमें अवस्थान करते हैं। उनकी चित्सत्ता अपने मंगलभावमें सर्वप्रधान परमाकाष्ठा प्राप्त केवल चिद्रूपा, देशकाल, वस्तुतः अपरिच्छिन्न तथा पवित्रा होनेसे तृतीय स्थानीय है। ये ही चारो अवस्थायें परिणति, विश्रान्ति, ईक्षण और योग कहाती है ॥१००॥

पराभक्तिके अधिकारी ज्ञानी भक्तके अनुभवोंका वर्णन किया जाता है :—

अनुभव तीन प्रकारका है ।१०१।

पराभक्ति प्राप्त जीवन्मुक्त ज्ञानी भक्त वहिर्दृष्टि और अन्तर्दृष्टि करते समय उसकी चिन्मयी ज्ञानधारा किस तरह चार प्रकारसे प्रवाहित होती है, इसका विस्तारित वर्णन पूर्वसूत्रमें आ चुका है। अब उक्त महापुरुषका क्रमप्राप्त अनुभव कैसा रहता है उसका वर्णन किया जाता है। चित्‌का स्वभाव ज्ञान है, और सत्‌का स्वभाव अस्तित्वमूलक अनुभव है। अतः अस्ति और भाति ये दोनों साथही साथ रहते हैं। जब अस्ति है तो भाति भी है और जब भाति है तो अस्ति है।

इस कारण जब ज्ञानका विज्ञान कहा गया तो अनुभवके विज्ञानकोभी समझना उचित है। इस विचारके अनुसार पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यह पहलेही सिद्धहो चुका है कि, वैज्ञानिक दृष्टिद्वारा भागवतगण श्रीभगवान्‌को तीन भावमें दर्शन करते हैं। उन तीनों भावमयरूपोंका नाम ब्रह्म, ईश और विराड् है। इन्ही तीन भावमयरूपोंके अनुसार अनुभव तीन प्रकारके हैं, जिनका वर्णन आगे सूत्रोंमें किया गया है ॥१०१॥

प्रथम अनुभवका स्वरूप कहा जाता है :—

यह वह है ॥१०२॥

अनुभवस्त्रिविधः ॥१०१॥

इदं तदिति ॥१०२॥

पराभक्ति प्राप्त ज्ञानी भक्तकी इस सर्वोत्तम दशामें जो प्रथम श्रेणीका अनुभव होता है, उसमें ऐसा भान होता है कि, यह द्वैत-प्रपञ्चरूपी जगत् भगवान्‌का ही स्वरूप है, अर्थात् उस समय उस भक्त श्रेष्ठको सब कुछ अद्वैतभावमें दिखायी देनेपर भी जगत्‌का अस्तित्व पहले अनुभव होता है और वह जगत् भगवद्रूपही है ऐसा जान पड़ता है। अद्वैतभावकी स्थिति हो जानेसे अपना अस्तित्वभी उस भगवत्‌रूपी जगत्‌में लय हो जाता है और प्रति-मुहूर्त उसका अनुभव ऐसा दृढ़ रहता है कि, यह सब कुछ दृश्य प्रपञ्च भगवद्रूप ही है। इस स्थितिके विषयमें स्मृतियोंमें ऐसा वर्णन है–

भावयन्तः कर्म्मतत्त्वं पराभक्तयाधिकारिणः।
अस्त्येवैतज्जगद्ब्रम्ह धारणामीदृशीं मम।
सर्वथा सर्वदा देवाः! कुर्व्वते कर्म्मयोगिनः॥

अर्थात्—महामाया देवताओंसे आज्ञा करती है कि कर्म्मके तत्त्वदर्शी मेरी पराभक्तिके अधिकारी कर्म्मयोगिगण "जगत्‌ही ब्रह्म है" ऐसी मेरी धारणा सर्वदा और सर्वथा करते हैं ॥१०२॥

द्वितीय अनुभवका स्वरूप कहा जाता है :—

वह ही यह है ॥१०३॥

भक्ताग्रगण्य ज्ञानी भक्तको जो दूसरी श्रेणीका अनुभव होता है, उसमें और कुछ विलक्षणता होती है। इस भावदशामें द्वैतभानका नाश होकर यद्यपि अद्वैत ब्रह्मसद्भावकी स्थिति हो जाती है परन्तु

तदेवेदम् ॥१०३॥

उसका अनुभव पूर्वसे विलक्षण होकर ऐसा अनुभव होता है कि, श्रीभगवान्ही जगद्रूप हैं। पहली अवस्थामें जगत्धारणा पहले आती थी अब इसमें भगवद्धारणा पहले आती है। सब कुछ अद्वैतरूपमें भगवान्ही हैं ऐसी धारणामें जगत्भान नष्ट हो जाता है और जगत्भानके साथही साथ अपना अस्तित्व भी विलीन हो जाता है।

इस अवस्थाका वर्णन स्मृतिशास्त्रने ऐसा किया है :—

मत्पराभक्ति निष्णाता मद्भक्ता योगिनां वराः।
ब्रह्मैवास्ते जगत् सर्वमितिधारणयाऽनिशम्।
महात्मानो निरीक्षन्ते विश्वस्मिन् सुरसत्तमाः॥

अर्थात्—जगतही ब्रह्म है, ऐसी धारणासे मेरी पराभक्तिमें निष्णात योगी श्रेष्ठ महात्मा भक्तगण अहर्निश इस जगतमें मुझे देखते हैं ॥१०३॥

अन्तिम अनुभवका स्वरूप कहा जाता है:—

वह ही मैं हूँ वह ही मैं हूँ ॥१०४॥

भक्तशिरोमणि जीवन्मुक्त महापुरुषमें जो सर्वश्रेष्ठ अन्तिम अनुभव होता है उसमें 'मैं ब्रह्मही हूँ, ऐसा भान होता है। पूर्व-कथित दो अवस्थाओंमें अद्वैतभावकी सिद्धि हो जानेपर भी आगे और पीछे होकर जगत् प्रपञ्चका भान रहता है। परन्तु इस अन्तिम दशामें जगत्भान आमूललयको प्राप्त होता है।

तदेवाहमिति तदेवाहमिति ॥१०४॥

उस समय अद्वैतभानके साथ अपने अस्तित्वका लय होकर अस्ति और भातिका पर्यवसानस्व स्वरूपमें ही बना रहता है। पहले कही हुई चार अवस्थाओंकी यह अन्तिम अवस्थाके साथ इसका सामञ्जस्य समझना उचित है। स्मृतिशास्त्रमें इस अवस्थाके विषयमें प्रमाण मिलता है यथा :—

अहं ब्रह्मास्मि भो देवा: इति धारणयाऽस्ति मे।
जीवन्मुक्ता महात्मानस्तदा तां प्राप्तुमीशते॥

अर्थात्—मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसी धारणाको जीवन्मुक्त महापुरुष तब प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं जब ज्ञानयोगसे मेरे साथ तदाकार भावको ग्रहण कर लेते हैं। इस अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ठ अधिकारको लक्ष्यकरके श्रुतिने कहा है :—

ओं पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है। पूर्णसे पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है ॥१०४॥

दैवीमीमांसादर्शनका लयपाद समाप्त हुआ।

समाप्तोऽयंग्रन्थः

श्रीभारतधर्ममहामण्डलका चमत्कारिक धार्मिक प्रकाशन

सनातनधर्मका विश्वकोष

धर्मकल्पद्रुम

श्री स्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्गउपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथा-क्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली-भाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिए भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्री-भारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशकमहाविद्यालयके प्रधानाचार्य श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये गये हैं। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिकधर्म-का प्रचार होगा। इस ग्रंथरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेश-मात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर

सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थविद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। यह आठ खण्डों में सम्पूर्ण हुआ है। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), षष्ठका ३॥), सप्तम का २) और अष्टम खण्ड ३॥) है।

प्रवीणदृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित

इस ग्रन्थमें आर्यजातिके आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। इसके दो खण्ड हैं, क्रमशः मूल्य २) २)।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्री स्वामी दयानन्द संपादित

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

इसमें मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अतिसुन्दर वर्णन किया गया है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

वेद और वेदसम्मतदर्शन पुराणादि शास्त्रके आधार पर पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया

है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। मूल्य १।)।

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्य कर्मोंका वर्णन, षोड़शसंस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। मूल्य १)

आर्य्यगौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये एक ही पुस्तक है, मू० ।।)

नीतिचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें-ऐसी सरलतासे समझायी गई हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। मूल्य ।।)

चरित्रचन्द्रिका।

सम्पादक पं गोविन्दशास्त्री दुगवेकर

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक सुन्दर

मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रखी गई है कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकेंगे। मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक-रहस्य।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

मनुष्य मरकर कहाँ जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोकरहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता सावित्री गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवन-चरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य-कर्मचन्द्रिका

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दूमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान ।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभाँति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध-स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका ।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारों का रहस्य, त्रिविधकर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्म सम्बन्धसे मुक्ति, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा, धर्म कर्म और विज्ञानका महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रंथ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान

यह पुस्तक कोमलमति बालक-बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। मूल्य –) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान ।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षाके देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य –)

ब्रह्मचर्यसोपान ।

ब्रह्मचर्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान ।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है, परन्तु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षा-के लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡)

साधनसोपान ।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। वालक बालिकाओंको पहलेसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान ।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।)

धर्मप्रचारसोपान ।

यह ग्रन्थ धर्मोपदेशदेनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य ।) आना।

उपदेशपारिजात ।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या क्या विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन किन योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृतके विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ।।) आना।

कल्किपुराण ।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिकासहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मूल्य १।।)

पातञ्जलयोगदर्शन ।

भाष्यकार भगवत् पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज द्वारा विस्तारित भाष्य सहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीकानिर्माण, वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धान्तका पारगामी हो। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य ।

इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं। यथा-आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १।)

धर्म विज्ञान

यह ग्रन्थ रत्न भी तीन खण्डों में प्रकाशित है और आधुनिक विज्ञान समन्वयके साथ साथ इसमें धर्मके विविध अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है। समय समय पर लोगों द्वारा की गयी एवं की जानेवाली शंकाओंका समाधान अत्यन्त सुन्दर और सुबोध भाषामें किया गया है। इसमें आधुनिक विज्ञानके साथ धर्म सम्बन्धी रहस्यों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। धर्मसम्बन्धी सभी

बातों को जाननेकेलिये यह पुस्तक बड़ी अनूठी है। मूल्य प्रथम खण्ड ५) द्वितीय खण्ड ४) तृतीय खण्ड ४)।

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। मूल्य १) एक रुपया।

हठयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण साधन प्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ।||)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त-ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्य कृत है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियाँ और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियाँ हैं। मूल्य ।) आना।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमखण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजकल श्रीगीताजीपर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस

प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता—विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रुपया।

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये पाँच गीताएँ—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशंभुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिए गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएँ उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा, वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्तकर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यहग्रंथ धर्मज्ञानका भण्डार है। विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ॥), शक्तिगीताका मूल्य १), धीशगीताका मूल्य ।॥) शंभुगीताका मूल्य १), संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पाँच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव

तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमवंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

कर्ममीमांसा दर्शन

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धानद्वारा प्राप्त हुआ है, जो चारपादोंमें प्रकाशित हुआ है। सूत्र, सूत्रका हिंदीमें अर्थ और संस्कृतभाष्यका हिन्दी अनुवाद, इस प्रकार इसको छापा गया है। कर्मके साथ धर्म्मका सम्बन्ध, धर्म्मके अङ्गोपाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म; प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्म-पादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चम भूमिका यह दर्शन है। महर्षिजैमिनीकृत जो बृहत् कर्ममीमांसा-दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन ग्रन्थ कर्मके सब अङ्गोंके विज्ञानका प्रतिपादन और धर्मविज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। इसके तीन खण्ड हैं। मूल्य धर्मपाद १॥), संस्कारपाद, २) विस्तृत हिन्दीभाष्य सहित नवीन संस्करण क्रिया-पाद और मोक्षपाद मूल्य ५)। कर्ममीमांसादर्शन संस्कृतभाष्य एवं सूत्रार्थ सहित मूल्य २)

दैवीमीमांसादर्शन । प्रथम खण्ड ३॥) द्वितीय खण्ड ३॥)

श्रीरामगीता ।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परमधार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्मसुधाकर श्रीमहा-

रावलजी साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूँगरपुरराज्याधिपतिके पुरुषार्थद्वारा इसका सुललित हिन्दी भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरुह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है, इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और सब योगोंका अभ्यासी समझकर आनन्दित हो सकता है—मूल्य केवल २॥) ।

कहावत रत्नाकर ।

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परमधार्मिक तथा विद्वान् स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म-सुधाकर हिजहाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारम्भ हुआ था जिसको श्रीमहामण्डलके शास्त्रप्रकाशकविभागकी पण्डितमण्डलीने सुचारुरूपसे समाप्त किया है। हिन्दीभाषाका यह एक अद्वितीय ग्रंथ है, इसमें हिन्दीभाषाकी प्रधानता रखकर पाँच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं, हिन्दी और उसकी संस्कृतकहावत, अंग्रेजी कहावत, फार्सी कहावत और उर्दू कहावत, अरबी कहावत। ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान प्रधान विद्वानों द्वारा संग्रहीत और संशोधित हुई हैं, इसी प्रकार संस्कृत न्यायावली और उसका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृतसुभाषितवाली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत, संस्कृत न्यायावली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्वसाधारणके सुभीतेके लिये अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दीभाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर है, सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। रायल एडीशन १०) साधारण संस्करण ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण ।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि, इसके मुकाबलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि बिना किसीके सहारेसे स्त्रियाँ, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ सकते हैं। और भी इसकी विशेषता यह है कि,—इस तरहकी टिप्पणियाँ इसमें दी गई हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आ जावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भली भाँति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुन्दर है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी १।।) रक्खा गया है।

गीतार्थ'चन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दीभाषाके जाननेवाले ही इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अतिमधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अतिसरल तथा मधुर है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दीभाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। मूल्य २।।) सजिल्द ३)

सनातनधर्म-दीपिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

इसमें धर्म, नित्यकर्म, उपासना, अवतार, श्राद्ध-तर्पण, यज्ञोपवीत संस्कार, वेद और पुराण, वर्णधर्म, नारीधर्म, शिक्षादर्श और उपसंहार शीर्षकनिबन्ध लिखकर श्रीस्वामीजीने बड़ी ही सरलभाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। मूल्य केवल ।।।) बारह आने ।

आदर्श-जीवन-संग्रह ।

महापुरुषोंके जीवन चरित्रसे भावी सन्तानके चरित्र संघटन-पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषों का जीवनचरित्र अवश्य पढ़ाना चाहिये। वस्तुतः पुस्तकमें श्रीभगवान् शंकराचार्य्य, ईसामसीह, गो० तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर, महात्मा गान्धी, लोकमान्य तिलक, महारानी अहिल्या बाई आदि ३२ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवन-चरित्रोंका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्प-माला है। बालकोंके लिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १।।) मात्र है।

त्रिवेदीय सन्ध्या ।

शास्त्रविशारद महोपदेशक

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्तशास्त्री प्रणीत

इसमें तीनों वेदोंकी सन्ध्या दी गई है। हरएक मन्त्रका हिन्दी-में अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दीभाषामें अनुवाद किया गया है। सन्ध्या क्यों की जाती है ? सन्ध्याका स्वरूप क्या है ? उपासना-की रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या हानि होती है, सन्ध्या वैज्ञानिक

तात्पर्य्य क्या है, आदि सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई हैं। मूल्य केवल ।=) आने।

"THE WORLD'S ETERNAL RELIGON"

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has perfectly supplied this long-felt want. Names of the chapters are as follows:—I Foreword, 2 Universal Religion, 3 Classification of Religion, 4 Law of Karma, 5 Worship in all its phases, 6 Practice of Yoga through Mantras, 7 Practice of Yoga through physical exercise, 8 Practice of Yoga through inner force of Nature, 9 Yoga through power of reasoning, 10 The Mystic Circle, 11 Love and Devotion, 12 Plans of knowledge, 13 Time, space, creation, 14 the Occult world, 15 Evolution and Reincarnation, 16 Hindu philosophy, 17 The System of Castes and Stages of Life, 18 Woman's Dharma, 19 Image Worship, 20 The great Sacrifices, 21 Hindu Scriptures, 22 Liberation, 23 Education, 24 Reconciliaton of all Religions. The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give, price cloth bound, superior edition Rs. 5, Ordinary edition Rs. 3, Postage extra.

ब्रह्मविद्याका मूलग्रन्थ ।

सरल हिन्दीमें वेदान्तका यह सिद्धान्त ग्रन्थ है। थियोसाफी-की दृष्टिसे ब्रह्मविद्याका रहस्य इस पुस्तकमें लिखा गया है। २५० पृष्ठ की पुस्तकका दाम ||=) मात्र है।

गोव्रत-तीर्थ-महिमा ।

इस पुस्तकमें गो-महिमा व्रतोत्सवमहिमा और तीर्थमहिमा, शास्त्रीय प्रमाण तथा वैज्ञानिक युक्तिके साथ विस्तृत रूपसे वर्णित है। धर्मकल्पद्रुमके अष्टमखण्डके प्रथम तीन अध्यायको ही 'गो-व्रत तीर्थमहिमा' देकर पृथक् पुस्तकरूपसे प्रकाशित किया गया है जो धर्मकल्पद्रुम जैसा विराट धर्मग्रन्थ नहीं खरीद सकते वे इस छोटीसी पुस्तकसे सनातनधर्मके सबसे श्रेष्ठ गो-महिमा, व्रतोत्सवमहिमा और तीर्थमहिमाका रहस्य जान सकते हैं। मूल्य ||) आठ आना।

मार्कण्डेय पुराण ।

महर्षि वेदव्यासका संसार प्रसिद्ध यह ग्रन्थ है। भाषा बड़ी सरल और हिन्दीटीका सहित तीन खण्डों में प्रकाशित है। मूल्य तीनोंका क्रमशः १), १), १) है।

ऋजुपाणिनीयम् ।

भूमिकासहित यह व्याकरणग्रन्थ है। संस्कृत सीखनेके लिये उपयोगी है। इसको पढ़नेसे थोड़े समयमें संस्कृत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मूल्य ||।)

संगीतसुधाकर	।)	सुगमसाधनचन्द्रिका	=)
पुराणरहस्यम्	१।)	Meghnad Badh Kavya	२)
संन्यासधर्मपद्धति	१।)	Indias Eternal Religion	||)
महिला प्रश्नोत्तरी	–)	व्यास शुक सम्बाद	।)

दर्शनादर्श ।

वैदिक महादर्शनविज्ञान समझनेके लिये आदर्श स्वरूप है। इस विषयकी ऐसी उत्तम पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। जैसा नाम वैसा ही गुण। यह दर्शनशास्त्रके प्रेमियोंके लिये अवश्य संग्रहणीय अद्भुत ग्रन्थ है। हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित होनेसे यह ग्रंथ संस्कृतविद्यालयों और हिन्दीपाठशालाओंके पाठ्यक्रममें रखने योग्य है। मूल्य १) मात्र।

बँगलाकी पुस्तकें।

रामायण गोस्वामी तुलसीदास-कृत (बँगला अनुवाद)	४)
हितोपदेश	।)
हिन्दीवर्ण परिचय	-)
मन्त्रयोगसंहिता	१)
जातीय महायज्ञ साधन	१)
दैवीमीमांसादर्शन	।।।)
गुरुगीता	।)
तत्त्वबोध	।)
साधनसोपान	=)
सदाचारसोपान	-)
कन्याशिक्षा सोपान	-)
शक्तिगीता	१)
श्रीशम्भुगीता	१)
योगदर्शन	२)
पुराणतत्त्व (श्रीस्वामी दयानन्द प्रणीत)	१।)
साधनतत्त्व	१)
आर्यजाति	१)
नारीधर्म	१।)
सदाचार शिक्षा	।=)
नीतिशिक्षा	।।)
अवतारतत्त्व	२)
भक्तितत्त्व	१)
महर्षि चरित	१)
अगस्त्य चरित	।।)
सरल हिन्दी शिक्षा	१।)
वैशेषिकरहस्य	।।।)
वेदान्तदर्शन	।।)

पता—कार्याध्यक्ष श्रीमहामंडलकार्यालय जगतगंज वाराणसी कैंट।

कर्ममीमांसादर्शन ।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धानद्वारा प्राप्त हुआ है, जो चार पादोंमें प्रकाशित हुआ है। सूत्र, सूत्रका हिंदीमें अर्थ और संस्कृतभाष्यका हिन्दी अनुवाद, इस प्रकार इसको छापा गया है । कर्म्मके साथ धर्म्मका सम्बन्ध, धर्म्मके अङ्गोपाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म; प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चम भूमिका यह दर्शन है। महर्षिजैमिनीकृत जो बृहत् कर्ममीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। वैदिक यज्ञों का प्रचार आजकल बहुत कम होनेके कारण जैमिनीदर्शनका उपयोग बिलकुल नहीं होता है, यही कहना युक्तियुक्त होगा। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन ग्रन्थ कर्मके सब अङ्गोंके विज्ञानका प्रतिपादन और धर्मविज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। इसके तीन खण्ड हैं। मूल्य धर्मपाद १।।), संस्कारपाद, २) विस्तृतहिन्दीभाष्य सहित नवीन संस्करण क्रियापाद और मोक्षपाद मूल्य ५) ।
